नागार्जुन के दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन

[A CRITICAL STUDY OF NAGARJUNA'S PHILOSOPHY]

ĀCĀRYA NĀGĀRJUNA

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

राम माया त्रिपाठी

एम० ए० एल० टी०

(राजकीय महिला' प्रशिक्षण महाविद्यालय इलाहाबाद

पर्यवेक्षक

डा० छोटे लाल त्रिपाठी

एम० ए०, एलएल० बी०, डी० फिल्

पूर्व रीडर दर्शन विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

अगस्त–1999

दो शब्द

दर्शनशास्त्र मे प्रारम्भ से ही अभिरुचि होने के कारण मैने पाठ्य–विषय के रूप मे स्नातक एव परास्नातक कक्षाओ मे दर्शनशास्त्र को ही विशेष अध्ययन के लिए चुना। एम०ए० करने के अनन्तर दर्शनशास्त्र मे अभिरुचि बनाये रखने के लिए तथा उसमे पारगत होने के लिए मैने 'नागार्जुन के दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन' (बौद्ध दर्शन) को शोध विषय के रूप मे ग्रहण किया और डॉ० सी०एल० त्रिपाठी, पूर्व प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के कुशल निर्देशन मे सम्पन्न किया।

यद्यपि आचार्य नागार्जुन का दर्शन अपनी सम्पूर्ण रहस्यात्मकता एव क्लिष्टता के परिवेश मे निमीलित है फिर भी मैने इसे अथक परिश्रम से पूर्णरुपेण सहज, सरल एव ग्राह्य रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। शोध–कार्य सम्पन्न करते समय मेरा उद्देश्य डिग्री प्राप्त करना कदापि नहीं था वरन् सदैव यही प्रबल इच्छा रही कि इस शोधग्रथ के माध्यम से मै लोगो को चिन्तन के क्षेत्र मे अग्रसर कर सकूॅ तथा व्यक्ति, समाज एव विश्व मे ऐसी ज्योति का प्रकाशन हो जिसके फलस्वरूप व्यक्ति बोधिसत्व अर्थात् मानवता के सम्पूर्ण कल्याण के आदर्श को समझकर, उसके अनुरूप आचरण कर विश्व के समस्त प्राणियो का कल्याण करने के लिए अग्रसर हो। वस्तुत भगवान बुद्ध ने भी समानता, स्वतत्रता एव भातृत्व की भावना से ओत–प्रोत होकर ही बौद्धधर्म की प्रतिष्ठापना तत्कालीन कर्मकाण्डी एव असमानता पर आधारित समाज के विरोध मे की थी।

आचार्य नागार्जुन ने भी अपने मानवतावादी एव एकत्ववादी दृष्टिकोण के कारण ही 'अद्वैतवादी माध्यमिक शून्यवादी दर्शन' का प्रणयन किया। उनके सिद्धान्तो का मेरे मस्तिष्क पर गभीर प्रभाव पडा फलस्वरूप मैने उनके दर्शन को मौलिक रूप मे प्रस्तुत करने का अथक प्रयास किया। मैं आशा करती हूँ कि दार्शनिक अभिरुचि वाले सुधीजन इस शोधप्रबन्ध का अध्ययन कर अवश्य ही कुछ न कुछ लाभ उठा पायेगे। यही मेरे शोध का अतिम उद्देश्य भी है। मुझे पूर्ण रूप से विश्वास है कि मेरे इस प्रयास से नागार्जुन के दुरुह एव गभीर दर्शन को समझने मे दार्शनिक जिज्ञासा के व्यक्तियो को पर्याप्त सफलता मिलेगी और नागार्जुन के दर्शन के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त होगा।

यद्यपि मेरे कठोर परिश्रम एव गुरुवर डॉ० छोटेलाल त्रिपाठी के सफल निर्देशन से इस कठिन कार्य को सम्पन्न करने मे पर्याप्त सफलता मिली है फिर भी मै अपने आत्मीय जनो एव गुरुजनो को कदापि नही भूल सकती जिन्होने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस महान कार्य को करने मे सहयोग प्रदान किया है। बिना उनकी सहायता के इस दुरुह कार्य की समाप्ति सम्भव नही थी।

इस कार्य को सम्पन्न करने का सम्पूर्ण श्रेय मेरे नाना प० सत्य नारायण सेठ निवासी, जगीगज भदोही और मेरे मामा जी लोगो को जाता है जिनके वात्सल्य की छाया मे आर्थिक चिन्ताओ से पूर्ण रूप से मुक्त होकर मैने शोध कार्य निर्वाध रूप मे जारी रखा। तदनन्तर पूज्य पिता डॉ० इन्द्र दत्त त्रिपाठी (डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी) के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहूँगी जिन्होने इस दुरुह शोधविषय को एक निश्चित सीमा तक स्पष्ट करने का प्रयास किया तथा स्थान–स्थान पर अनेक उलझी हुई गुत्थियो को सुलझाने मे मदद की। तदनन्तर मै अपना आभार अपने विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग के गुरुजनो के प्रति व्यक्त करती हूँ जिन्होने समय–समय पर मार्ग दर्शन एव प्रेरणा प्रदान की। इस क्रम मे श्रद्धेय सर्वश्री प्रो० शिवशकर राय, पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, डॉ० सगमलाल पाण्डेय, पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रो० जे०एस० श्रीवास्तव, पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, डॉ० एस०के० सेठ, प्रो० डी०एन० द्विवेदी, पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रो० रामलाल सिह, डॉ० आर०एस० भटनागर, डॉ० नरेन्द्र सिह, डॉ० मृदुला प्रकाश, डॉ० गौरी मुखर्जी, डॉ० जटाशकर त्रिपाठी, डॉ० आशा लाल, डॉ० हरिशकर उपाध्याय, डॉ० श्रीकान्त मिश्र आदि के प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त करती हूँ। प्रो० सभाजीत मिश्र, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, डॉ० रेवती रमण पाण्डेय, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, बी०एच०यू०, डॉ० सत्या पाण्डेय, डॉ० दुर्गादत्त पाण्डेय, डॉ० शेखरेन्दु मोहन मिश्र, डॉ० मीरा राय, अध्यक्ष दर्शनशास्त्र विभाग, सी०एम०पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद आदि दर्शनशास्त्र के अध्यापको के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ जिनके अमूल्य सुझावो के फलस्वरूप मुझे शोध कार्य मे पर्याप्त सफलता मिली।

प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डे, पूर्व विभागाध्यक्ष, सस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रो० हरिशकर त्रिपाठी अध्यक्ष सस्कृत विभाग, डॉ० राजकुमार शुक्ल, प्रो० चन्द्रभूषण मिश्र आदि सस्कृत विभाग के अध्यापको के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ। डॉ० सुरेन्द्र कुमार पाण्डेय (पी०सी०एस०), श्री सुनील कुमार सिह (आई०आर०एस०), श्री कवीन्द्र प्रताप सिह (डिप्टी एस०पी०), श्री प्रदीप कुमार तिवारी (पी०सी०एस०), श्री वेद प्रकाश मिश्र (जिला बचत अधिकारी), श्री राकेश कुमार शुक्ल (पी०सी०एस०), श्री उमेश मिश्र (पी०सी०एस०),

डॉ० उमाकात शुक्ल (अध्यापक), श्री राजीव दीक्षित (डिप्टी एस०पी०), डॉ० अनिल कुमार सिह 'भदौरिया' (अध्यापक), श्री अविनाश तिवारी (डाइरेक्टर, इलाहाबाद कोचिग सस्थान), श्री शिव नरेश शर्मा, श्री सुभाष कुमार उत्तम (पी०सी०एस०), श्री सजय सिह (पी०सी०एस०), श्री देवेश कुमार पाण्डेय (डिप्टी एस०पी०), डा० हरीकान्त मिश्र आदि बडे भाई सदृश लोगो के प्रति भी मै अभार व्यक्त करती हूँ जिन्होने इस महान कार्य को पूर्ण करने मे प्रेरणा प्रदान की।

आदरणीय मामा जी श्री ओमप्रकाश मिश्र, डॉ० उमेश मिश्र, ज्येष्ठ डॉ० अभय मिश्र, देवर सुधाशु मिश्र के प्रति भी मै आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होने प्रत्येक प्रकार से इस सृजनात्मक कार्य को पूर्ण करने हेतु प्रेरणा प्रदान की। अपनी पूज्यनीया सास श्रीमती श्यामा देवी के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त करती हूँ जिन्होने मुझे पारिवारिक कठिनाइयो से मुक्त रखा। इसके अतिरिक्त मै अपनी सहेली श्रीमती सगीता तिवारी के प्रति भी आभारी हूँ जिसने शोधकार्य हेतु मुझे प्रोत्साहित किया।

मै अपने पारिवारिक जनो के प्रति भी पूर्ण श्रद्धा एव आदर भाव व्यक्त करती हूँ जिन्होने मुझे विषम परिस्थितियो से मुक्ति दिलाकर इस 'शोध ग्रथ' को पूर्ण करने मे सहायता प्रदान किया। इस क्रम मे मै सर्वश्री श्रद्धेय पिता, डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी (श्री इन्द्र दत्त त्रिपाठी), माता श्रीमती विद्यावती देवी, अग्रज श्री विवेकानन्द त्रिपाठी (डिवीजनल मैनेजर, बी०पी०सी०एल०), श्री रामबाबू त्रिपाठी (पी०सी०एस० जे०), श्री रवीन्द्र त्रिपाठी (एम०बी०ए०), श्रीराम सौमित्र त्रिपाठी (प्रचानाचार्य), श्री रामकृष्ण त्रिपाठी, अग्रजा—श्रीमती कृष्णाभा शुक्ला, जीजा डॉ० लालमणि शुक्ल, अनुज— देवेन्द्र, श्रीकृष्ण (गुड्डू), अनुजा— सविता, भाभी— श्रीमती ममता त्रिपाठी, श्रीमती अनीता त्रिपाठी, श्रीमती गीता त्रिपाठी (अध्यापिका), भाजी—अपर्णा, नेहा, भाजा— शशाक, भतीजे— जय, यश, भतीजी— श्रेयसी इत्यादि के प्रति भी अभारी हूँ। अपने पति श्री अश्विनी कुमार तिवारी तथा पुत्र ऐश्वर्य का सहयोग विशेषरुपेण उल्लेखनीय है जिन्होने घर के वातावरण को लिखने—पढने के योग्य तथा सौहार्दपूर्ण बनाये रखा।

मै अपने शोध विषय को समझने तथा ह्रदयगम करने मे अनेक पुस्तकालयो एव सस्थाओ के साथ—साथ जिन पुस्तको या विचारो का उपयोग किया है, उन सबके प्रति श्रद्धावनत हूँ। टकण कार्य मे 'राका प्रकाशन' के व्यवस्थापक श्री राकेश तिवारी एव टाइपिस्ट जितेन्द्र कुमार मिश्र, सुनील कुमार पाण्डेय के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ, जिनके सहयोग के फलस्वरूप यह कार्य सम्पन्न हो सका।

राम माया त्रिपाठी

विषय-सूची

पृष्ठ स०

दो शब्द 1 - 111

अध्याय-१

बौद्ध धर्म का उद्भव और विकास १—१६

(क) बौद्ध धर्म का उद्भव

(ख) बौद्ध दर्शन के विकास का इतिहास

(i) प्रथम काल

(ii) द्वितीय काल

(iii) तृतीय काल

(ग) शून्यवाद के प्रमुख दार्शनिक

(i) अश्वघोष

(ii) नागार्जुन

(iii) आर्यदेव

(iv) शान्तिदेव

अध्याय-२

नागार्जुन के दर्शन का मूल स्रोत १७—३०

(i) वेद

(ii) उपनिषद्

(iii) पालि त्रिपिटक

(iv) नेयार्थ— नीतार्थ

(v) महायान मे नेयार्थ

(vi) नीतार्थ

(vii) शून्यता का सिद्धान्त

(viii) जगत् आत्मतत्व अथवा द्रव्य से सर्वथा शून्य
(ix) शून्यता के प्रकार
(x) निर्वाण
(xi) दशभूमि

अध्याय- ३

महायान सूत्र और नागार्जुन का दर्शन ३१–५१

(क) महायान सूत्रो की सख्या
(ख) महायान की विशेषताएँ
(ग) हीनयान एव महायान मे अन्तर
(घ) प्रज्ञापारमिता सूत्रो मे शून्यता
(ङ) अन्य महायान सूत्रो मे शून्यता

अध्याय- ४

द्वन्द्वन्याय (नागार्जुन की शून्यता विधि- चतुष्कोटि नय या प्रसग) ५२–६४

(क) द्वन्द्वन्याय
(ख) जैन का द्वन्द्वन्याय
(ग) हेगल का द्वन्द्वन्याय
(घ) नागार्जुन का द्वन्द्वन्याय
  (i) नागार्जुन के द्वन्द्वन्याय का आधार
  (ii) नागार्जुन के द्वन्द्वन्याय के विकास की अवस्थाएँ

अध्याय- ५

द्वन्द्वन्याय (प्रसग) का प्रयोग ६५–१३०

(क) प्रत्यय परीक्षा
(ख) गतागत परीक्षा
(ग) चक्षुरादीन्द्रिय परीक्षा
(घ) स्कन्ध परीक्षा
(ङ) धातु परीक्षा

(च) रागरक्त परीक्षा

(छ) सस्कृत परीक्षा

(ज) कर्मकारक परीक्षा

(झ) पूर्व परीक्षा

(ञ) अग्नीन्धन परीक्षा

(ट) पूर्वापर कोटि परीक्षा

(ठ) दु ख परीक्षा

(ड) सस्कार परीक्षा

(ढ) ससर्ग परीक्षा

(ण) स्वभाव परीक्षा

(त) बन्धन परीक्षा

(थ) कर्मफल परीक्षा

(द) आत्म-परीक्षा

(ध) काल परीक्षा

(न) सामग्री परीक्षा

(प) सम्भव–विभव परीक्षा

(फ) तथागत परीक्षा

(ब) विपर्यास परीक्षा

(भ) आर्यसत्य परीक्षा

(म) द्वादशाग परीक्षा

(य) दृष्टि परीक्षा

अध्याय- ६

नागार्जुन का शून्यवाद १३१–१५८

(क) शून्यतत्व

(ख) शून्यता का स्वरूप

(i) अभाववादी दार्शनिक

(ii) भाववादी दार्शनिक

(iii) प्रतीत्यसमुत्पादवादी दार्शनिक

(ग) शून्य एव ब्रह्म

(घ) क्या शून्यवाद विभाज्य है?

अध्याय- ७

सवृति और परमार्थ १५६–१७४

(क) सवृति

(i) लोक सवृति

(ii) अलोक सवृति

(ख) परमार्थ

(ग) शून्यता (सवृति एव परमार्थ) की आलोचना

अध्याय- ८

निर्वाण और शून्यता १७५–१८८

(क) निर्वाण

(i) सोपधिशेष निर्वाण

(ii) निरुपधिशेष निर्वाण

(iii) अप्रतिष्ठित निर्वाण

(ख) शून्यता और निर्वाण

(ग) ससार और निर्वाण

अध्याय- ९

परमार्थ और तथागत १८९–२०७

(क) तथागत

(ख) तथागत और ईश्वर

(ग) तथागत एव त्रिकाय

(i) स्वभावकाय

(ii) निर्माणकाय (रुपकाय)

(iii) सभोगकाय

अध्याय- १०

नागार्जुन का प्रामाण्यवाद २०८–२२०

(क) सवृति और प्रमाण
(i) प्रत्यक्ष
(ii) अनुमान
(iii) शब्द
(iv) उपमान
(ख) परमार्थ एव प्रमाण
(i) बोधिचित्त तथा बोधिचर्या
(ii) सप्तविध अनुत्तर पूजा
(ग) पारमिताओ की साधना
(i) दान पारमिता
(ii) शील पारमिता
(iii) वीर्य पारमिता
(iv) ध्यान पारमिता

अध्याय- ११

प्रज्ञापारमिता २२१–२३८

(क) प्रज्ञापारमिता
(ख) प्रज्ञापारमिता एव तथागत
(ग) क्या प्रज्ञापारमिता अभावरूप है?
(घ) दशभूमि

अध्याय- १२

नागार्जुन और पाश्चात्य दार्शनिक २३६–२५०

(क) काण्ट एव नागार्जुन

(ख) हेगेल एव नागार्जुन

(ग) ब्रेडले एव नागार्जुन

अध्याय- १३

नागार्जुन और भारतीय दार्शनिक २५१–२६६

(क) नागार्जुन और शकर

(ख) नागार्जुन और विज्ञानवाद

अध्याय- १४

नागार्जुन के दर्शन का भारतीय दर्शन पर प्रभाव २६७–२७२

(क) नागार्जुन के दर्शन के इतिहास का चतुर्विभाजन

(i) प्रथम भाग

(ii) द्वितीय भाग

(iii) तृतीय भाग

(iv) चतुर्थ भाग

(ख) नागार्जुन और तन्त्र

(i) नागार्जुन एव हिन्दूतन्त्र

अध्याय- १५

आर्य नागार्जुन के दर्शन का मूल्याकन २७३–२८७

उदाहृत साहित्य २८८–२९२

अध्याय–१

बौद्ध धर्म का उद्भव और विकास

बौद्ध धर्म का उद्भव

छठी शताब्दी ई०पू० मे समस्त प्राचीन विश्व के आध्यात्मिक क्षेत्र मे अनेक प्रतिभाओ का प्रादुर्भाव हुआ। चीन, यूनान, ईरान एव भारत मे बौद्धिक एव आध्यात्मिक प्रतिभा का आश्चर्यजनक प्रस्फुरण देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो पिछली अनेक सहस्राब्दियो की पर्यषणा के बाद मानव–जाति–मात्र के लिए 'अभिसम्बोधि' का नव युग उपस्थित हुआ हो।[1] इस युग मे जहॉ यूनान मे थेल्स और एनेक्जिमेण्डर चीन मे कन्फ्यूसियस और शिन्टो और ईरान मे जरथुस्त का आविर्भाव हुआ, वही भारत मे बौद्ध धर्म के सस्थापक भगवान् बुद्ध का आविर्भाव हुआ जिन्होने अपने शान्ति एव अहिसा के उपदेश से समस्त एशिया को आलोकित कर दिया।

भगवान बुद्ध के आविर्भाव एव निर्वाण का काल–निर्धारण निश्चित रुप से नही हो सका है फिर भी इनका आविर्भाव छठी शताब्दी ई०पू० का उत्तरार्द्ध (४८३ ई०पू०) माना जा सकता है। भगवान् बुद्ध के पिता शाक्यगणाधिप सूर्यवशी क्षत्रिय नरेश शुद्धोधन थे और उनकी मॉ महामाया देवी थी। उनका जन्म कपिलवस्तु के पास लुम्बिनी (अब नेपाल मे है) वन मे वैसाखी पूर्णिमा के दिन हुआ था। इनके बचपन का नाम सिद्धार्थ गौतम था। उनके जन्म के एक सप्ताह बाद ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया इस कारण उनका पालन–पोषण उनकी विमाता मौसी महाप्रजापति गौतमी ने किया। उनका विवाह राजकुमारी यशोधरा से हुआ, जिन्होने राहुल नामक पुत्र को जन्म दिया। भगवान् बुद्ध बचपन से ही वैराग्योन्मुख थे किन्तु वृद्ध, रोगी, मृतक एव परिब्राजक, ये दृश्य देखकर उनका वैराग्य प्रस्फुटित हो उठा।[2] और उन्होने इन दु खो का स्थायी निदान खोजने हेतु राजपाट, पत्नी और नवजात पुत्र का मोह छोड २९ वर्ष की अवस्था मे रात्रि के अधकार मे वन के लिए प्रस्थान किया।

भगवान् बुद्ध ने यह अनुभव किया कि विश्व के क्षणिक एव दिखावटी सुख का आधार चिरस्थायी वेदना है तथा भोग–विलास की कृत्रिम हास रेखा के नीचे आधि, व्याधि, जरा एव मरण की भीषण व्यथा का अट्टहास निहित है।

छ वर्षो के कठिन साधना के पश्चात् लगभग ३५ वर्ष की आयु मे वैसाखी पूर्णिमा के पर्व पर गया के समीप बोधिवृक्ष (पीपल वृक्ष) के नीचे मार–विजय करके अज्ञान के अन्धकार को दूर करने वाले ज्ञान–सूर्य का साक्षात्कार कर वे बोधिसम्पन्न हो गए और बचपन के सिद्धार्थ गौतम के स्थान पर गौतम बुद्ध बन गए। इसके अनन्तर वे वाराणसी के पास 'ऋषि–पत्तन मृगदाव' (सारनाथ) गये और वहॉ पर पॉच भिक्षुओ को अपना शिष्य बनाकर अपने साक्षात्कृत सत्य का प्रथम उपदेश दिया, जिसे धर्मचक्र प्रवर्तन की सज्ञा दी गई है। यही से बौद्ध धर्म का प्रारम्भ हुआ। तदनन्तर भगवान् बुद्ध आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश एव बिहार के कुछ भागो मे लगभग पैतालीस वर्षो तक अनवरत चारिका (भ्रमण एव भिक्षाचर्या) करते रहे तथा बिना किसी भेदभाव के धर्मोपदेश देते रहे एव भिक्षु सघ बनाते रहे।[3] अन्त मे मल्ल–गणराज्य की राजधानी कुशीनगर (आधुनिक कसिया, जिला– देवरिया, उ०प्र०) के पास लगभग ८० वर्ष की अवस्था मे वैसाखी पूर्णिमा के दिन उनका स्वर्गारोहण हो गया। अपने सरल उपदेश और राजश्रय के फलस्वरूप बौद्धधर्म थोडे ही काल मे सारे भारत मे तथा भारत की सीमाएँ पार कर श्रीलका वर्मा, थाईलैण्ड, कम्बोडिया, हिन्दएशिया, मलेशिया, मध्यएशिया, ईरान, अफगानिस्तान, नेपाल, तिब्बत, चीन मगोलिया, कोरिया और जापान तक फैल गया और एक विश्वधर्म का रूप धारण किया। भारत मे लगभग डेढ हजार वर्षो तक व्याप्त रहकर तथा अनेक महान दार्शनिक एव सन्त पुरुषो द्वारा सवर्धित होकर अन्तत काल–चक्र से अपनी जन्मभूमि से लुप्त हो गया। आधुनिक समय मे पुन उसका जन्म भारत मे हो रहा है। यद्यपि अब सिद्धार्थ गौतम नही रहे फिर भी वे अपनी मानवतावादी दृष्टिकोण को उपदेश देने के कारण अब भी अमर है। यद्यपि बौद्धधर्म भारत मे अस्तित्ववान नही रहा फिर भी उसके मूल सिद्धान्त आज भी हिन्दू धर्म मे सुरक्षित है।

भगवान् बुद्ध के उपदेश मौखिक थे जिन्हे उनके शिष्य उन्हे याद कर उनका पाठ करते थे। बुद्ध निर्वाण के कुछ सप्ताह बाद ही राजगृह मे अजातशत्रु के शासन काल मे प्रथम बौद्ध सगीति हुई, जिसमे 'विनय पिटक' (आचार सम्बन्धी ग्रन्थ) और 'सुत्तपिटक' (बुद्ध के उपदेश) के प्राचीनतम अश सकलित किए गए। लगभग १०० वर्षो के पश्चात् वैशाली मे राजा कालाशोक के संरक्षण मे द्वितीय बौद्ध सगीति हुई, जिसमे

विनय एव सुत्त पिटको का विस्तार किया गया तथ 'अभिधम्मपिटक' (दार्शनिक ग्रथ) के कुछ अश सकलित हुए। इस सगीति मे भिक्षु–सघ थेरवाद एव महासाधिक इन दो दलो मे विभक्त हो गया जो आगे चलकर हीनयान एव महायान के नाम से विख्यात हुए। लगभग २५६ ई०पू० सम्राट अशोक द्वारा पाटलिपुत्र मे आहूत तृतीय बौद्ध सगीति मे थेरवादियो द्वारा विनय, सुत्त एव अभिधम्म नामक पालित्रिपिटक का सकलन हुआ। पालिभाषा के इन तीनो पिटको को अशोक के पुत्र (या भाई) महेन्द्र बौद्धधर्म के प्रचारार्थ सिघल द्वीप ले गए थे। बाद मे वही प्रथम सदी ई०पू० मे सिहल नरेश वट्टगामिणी के शासनकाल मे इन्हे सर्वप्रथम सुव्यवस्थित ढग से लिपिबद्ध किया गया। जो किचित परवर्ती विस्तार के साथ आज भी उपलब्ध है और भगवान् बुद्ध के मतावलम्बियो का आज भी धर्म ग्रन्थ है।

भारत मे तृतीय सगीति के बाद सर्वास्तिवाद थेरवाद से अलग हो गया तथा थेरवाद का ह्रास और सर्वास्तिवाद का विकास होने लगा। कनिष्क के शासनकाल मे प्रथम या द्वितीय सदी० मे चतुर्थ बौद्ध सगीति काश्मीर के कुण्डलवन मे वसुमित्र की अध्यक्षता तथा अश्वघोष की उपाध्यक्षता मे सम्पन्न हुई। इसी बौद्ध सगीति मे सर्वास्तिवाद के त्रिपिटक की सस्कृत भाषा मे सरचना हुई।४ किन्तु यह मूल रूप मे नष्ट हो गया है, इसके कुछ अश ही मिले है। किन्तु चीनी अनुवाद मे यह पूर्ण रूप मे उपलब्ध है। सर्वास्तिवाद को वैभाषिक भी कहते है। कुछ मतभेदो के फलस्वरूप कालान्तर मे इसकी सौत्रान्तिक नाम की एक शाखा उत्पन्न हुई। थेरवाद (स्थविरवाद), वैभाषिक (सर्वास्तिवाद) एव सौत्रान्तिक, ये हीनयान के तीन प्रमुख सम्प्रदाय है। हीनयान के विरोध मे महायान का विकास हुआ। जिसका बीजारोपण 'महासाधिक के रूप मे द्वितीय धर्म सगीति के समय ही हो गया था। माध्यमिक (शून्यवाद), योगाचार (विज्ञानवाद) एव स्वतत्र योगाचार (स्वतन्त्र विज्ञानवाद) ये महायान के तीन प्रमुख सम्प्रदाय है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के छ मुख्य सम्प्रदाय है।

प्रथम सगीति भगवान् बुद्ध की देशना के मर्मज्ञ दार्शनिक और प्रमुख शिष्य महाकश्यप की अध्यक्षता मे हुई। इस सगीति मे उनके अन्य दो प्रमुख शिष्य आनन्द एव उपालि ने भी भाग लिया। प्रथम सगीति या विनयसगीति मे लगभग ५०० भिक्षु थे, अत इसे पञ्चशतिका भी कहा जाता है। विनय पिटक के दो मुख्य भाग है– विभग एव स्कन्धक।

सुत्त–पिटक के पॉच विभाग है जिन्हें निकाय कहा जाता है। इनमे से पहले चार मे मुख्य रुपेण बुद्ध के सुत्त (कहानियॉ) अथवा व्याख्यान है। ये वार्ता अथवा सवाद के रूप मे हैं। ये जिन सिद्धान्तो को समझाने की

कोशिश करते है उनमे परस्पर कोई मतभेद नही है। सुत्त पिटक के पॉच विभाग है— (१) दीर्घनिकाय यह लम्बे भाषणो का सग्रह है। (२) मज्झिमनिकाय, यह साधारण लम्बाई के भाषणो का सग्रह है। (३) सयुक्तनिकाय, इसमे सयुक्त भाषणो का सग्रह है। प्रसिद्ध 'धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्र' भी इसके अन्तर्गत है। (४) अगुत्तरनिकाय, इसमे २३ सुत्तो से कुछ अधिक है और यह ११ विभागो मे बटा है। (५) खुद्दनिकाय, यह छोटे—छोटे सुत्तो का सग्रह है। इसमे १५ विभाग है— जैसे खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदानादि।

अभिधम्मपिटक मे मनोवैज्ञानिक नीतिशास्त्र का प्रतिपादन किया गया है एव प्रकरणवश अध्यात्मविद्या एव दर्शनशास्त्र का भी प्रतिपादन किया गया है। इसके सात उपविभाग है— (१) धर्मसगिणी (२) विभग (३) कथावस्तु (४) पुग्गलपञ्ञति (५) धातु (६) यमक (७) पट्ठान। यह पाली धर्मशास्त्र है जो थेरवाद के नाम से विख्यात सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।[५]

कभी—कभी जैसे स्याल इत्यादि देशो मे 'मिलिन्दपन्हो ग्रन्थ को भी बौद्धधर्मशास्त्र के अन्तर्गत शामिल कर लिया जाता है। किन्तु इसे अपवाद ही कहा जा सकता है। द्वितीय बौद्ध सगीति 'सर्वकामी की अध्यक्षता मे हुई। तृतीय बौद्ध सगीति 'मोग्गलिपुत्र तिस्स' की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुई तथा सघभेद को रोकने हेतु कडे नियमो का निर्माण किया गया।

उपर्युक्त विवेचित बुद्ध के जीवन परिचय एव बौद्ध सगीतियो तथा त्रिपिटको का परिचय देने के पश्चात् हम बौद्ध दर्शन के दार्शनिक विचारो का कालक्रम निर्धारित करने का प्रयास करेगे।

बौद्धदर्शन के विकास का इतिहास

भारत वर्ष मे बौद्ध—दर्शन का अस्तित्व छठी शताब्दी ई०पू० मे जन्मे बुद्ध से लेकर ग्यारहवी सदी के आरम्भ तक रहा जिसे निम्न तीन कालो मे विभक्त किया जा सकता है— प्रथम काल ५०० ई० पूर्व० के प्रथम सदी ई० तक, द्वितीय काल प्रथम सदी से ५०० ई० तथा तृतीय काल ५०० से लेकर ११वी सदी का आरम्भ तक निर्धारित किया जा सकता है।

बौद्ध दर्शन का प्रथम काल

बौद्ध—दर्शन का आरम्भ पुद्गल (मानव व्यक्तित्व) का निर्माण करने वाले विभिन्न धर्मो के सूक्ष्म विश्लेषण से हुआ। सर्व प्रथम पुद्गल के धर्मो का 'सास्रव—अनास्रव', तथा 'कुशल—अकुशल' के रूप मे विभाजन किया

गया।[6] मोक्ष की कल्पना और उसका प्रतिपादन, निरोध, शान्ति या निर्वाण की अवस्था के रूप मे किया गया। अत साधारण जीवन अथवा ससार को दु खावस्था मान लिया गया। इस प्रकार ऐसी नैतिक विशेषताओ अथवा शक्तियो को व्यावदानिक कहा गया है। जो निर्वाण की प्राप्ति कराती है। धर्मो के इन दो परस्पर विरोधी वर्गो के अतिरिक्त प्रत्येक मानसिक जीवन–तल मे स्थित कुछ अन्य सामान्य, निरपेक्ष तथा आधारभूत धर्मो को भी ढूँढा गया, जैसे सुख नही। नित्य तत्व नही, आत्मा नही। प्रारम्भिक बौद्धमत का यही अनात्मवाद उसकी प्रमुख विशेषता है। अनात्मवाद बौद्धमत का एक दूसरा नाम ही है।

बाह्य आयतन का भी उसका निर्माण करने वाले धर्मो के अन्तर्गत विश्लेषण किया गया है। यह व्यक्तित्व या पुद्गल अपेक्ष्य भाग उसका ऐन्द्रिक विषय है। बौद्धमत के पूर्व ही कुछ दार्शनिक मत थे जो इन्द्रियो और ऐन्द्रिक विषयो को एक वस्त्वात्मक और नित्यतत्व, प्रधान (प्रकृति) की परिवर्तनशील अभिव्यक्ति मानते थे। बौद्धमत ने इस सिद्धान्त का परित्याग कर यह प्रतिपादित किया कि भौतिक तत्व भी उतने ही परिवर्तनशील, अनित्य और प्रवाहमान है जितने कि मानसिक तत्व इस प्रकार कोई पदार्थ नही, कुछ भी स्थाई नही, सब कुछ पृथक् आधारहीन धर्मो के अविच्छिन्न और क्षणिक स्फुरणो का प्रवाहमात्र है।[7] किन्तु क्षणभगुर तत्वो का यह प्रवाह एक अस्तव्यस्त पद्धति नही है। प्रत्येक तत्व चाहे एक क्षण के लिए ही प्रकट हो, वह प्रतीत्य समुत्पन्न होता है। 'अस्मिन् सति इद भवति' के सिद्धान्त के आधार पर यह विशुद्ध हेतुवाद के अनुरूप ही है।

अस्तित्व के इन धर्मो को भौतिक धर्मो की अपेक्षा बहुत कुछ सस्कारो या सस्कृत धर्म के समान माना जाता है। मानसिक धर्म या चित्त चैत्य स्वभावत नैतिक–अनैतिक अथवा निर्लिप्त शक्तियॉ होती थी। पदार्थ धर्म की कल्पना एक ऐसी वस्तु के रूप मे की गई जिसमे स्वय पदार्थ की अपेक्षा पदार्थवत् प्रतीत होने की क्षमता थी। अत उन्हे सह–सस्कृत धर्म या सस्कार कहा गया।

इस प्रकार आरम्भिक बौद्ध-मत मे असख्य विषयो के प्रवाह से युक्त एक ऐसे ससार की खोज की गयी। जो एक ओर तो हम जो कुछ देखते, सुनते, सूँघते, स्वाद लेते और स्पर्श करते है, उनका आयतन (रुप–शब्द–गन्ध–स्पृष्टव्य–आयतनानि) है, और दूसरी ओर वेदना, सज्ञा और सस्कारो– ये सस्कार चाहे अच्छे हो या बुरे– से युक्त साधारण ज्ञान हैं। जिसमे कोई आत्मा नही, कोई ईश्वर नही, कोई पदार्थ नही, सामान्य रुपेण कोई भी स्थाई या पदार्थभूत वस्तु नही है।[8] किन्तु उपर्युक्त अनात्मवाद तथा सर्वधर्म क्षण भगुरवाद के

मानने के बावजूद बौद्धधर्म ने मोक्ष (निर्वाण) के अस्तित्व मे विश्वास किया। चार्वाक् दार्शनिको के अतिरिक्त भारत के अन्य सभी दर्शनो मे समान रुपेण उपलब्ध है। दार्शनिको ने अपने सम्पूर्ण मतवाद को 'चार सत्यो अथवा चार आर्यसत्यो के सूत्र के रुप मे सक्षिप्त कर प्रस्तुत किया यथा– प्रथम–जीवन जरामरण युक्त (दु ख)। द्वितीय– इसकी उत्पत्ति पापपूर्ण वासनाओ से होती है। तृतीय– चिरन्तर शान्ति (निर्वाण) ही अभीष्ट है। चतुर्थ– एक ऐसा मार्ग है जहॉ जीवन के निर्माण मे सहायक समस्त सस्कार क्रमश लुप्त हो जाते है। (अष्टागिक मार्ग)

बौद्धदर्शन का द्वितीय-काल– इस काल मे बौद्ध धर्म के स्वरूप मे एक मौलिक परिवर्तन हुआ। इसने उस मानव बुद्ध के आदर्श का परित्याग कर दिया, जो एक चैतन्यशून्य निर्वाण मे सर्वथा विलीन हो जाते है और उनके स्थान पर चैतन्य से आप्लावित निर्वाण मे अधिष्ठित एक दिव्य बुद्ध के आदर्श को प्रतिष्ठित किया। साथ ही साथ धर्मों पर आधारित अपने मौलिक बहुतत्ववादी दर्शन को मौलिक एकतत्ववाद मे परिवर्तित कर दिया। इस परिवर्तन ने मानव जाति मे उत्पन्न शुद्धोदन के पुत्र शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को देवत्व प्रदान कर दिया और वे अब भगवान् बुद्ध हो गए। और सनातन धर्म (ब्राह्मण धर्म) ने विष्णु और शिव की भॉति उनकी पूजा होने लगी। और बौद्ध–दर्शन की अनुभूति हो रही है उसका आधार एक दिव्य परम तत्त्व है जिसे विश्वदेवैक्यवाद की सज्ञा दी जा सकती है। तथा बौद्ध दर्शन यह स्वीकार करने लगा कि जगत् अविच्छिन्न क्षणिक धर्मो का प्रवाह नही है अपितु एक दिव्य परम तत्व की अभिव्यक्ति है जिसे विश्वदेवैक्यवाद की सज्ञा दी जा सकती है। यह काल महायान के उत्कर्ष का युग है। जो आगे चलकर शून्यवाद और विज्ञानवाद मे विभक्त हो गया। इन दोनो सम्प्रदायो का मूल अश्वघोष के महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र मे मिलता है जिसमे शून्यवाद की स्थापना नागार्जुन ने की और विज्ञानवाद की स्थापना मैत्रेयनाथ ने की।

तृतीय काल– बौद्ध दर्शन का तृतीय काल चौथी ईसवी शताब्दी से ग्यारहवी शताब्दी तक है। इस युग मे शून्यवाद भी फलफूलता रहा किन्तु विज्ञानवाद का विकास मुख्य रूप से हुआ। विज्ञानवाद के सस्थापक मैत्रेयनाथ और उनके महान् भाष्यकार असग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति शान्तिरक्षित और कमलशील आदि इसी युग की देन है। किन्तु ऐसा न समझना चाहिए कि शून्यवाद लुप्त हो गया था। नागार्जुन और आर्यदेव भले ही दूसरी शताब्दी ईसवी मे रहे हो किन्तु महायान शून्यवादी दार्शनिक शान्तिदेव, भव्य और चन्द्रकीर्ति इसी युग की देन है। वस्तुत इस युग के दार्शनिको पर अश्वघोष के शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनो का ही

प्रभाव है। यही कारण है कि मैत्रेयनाथ असग और अन्य आचार्यो ने शून्यवाद से सम्बन्धित ग्रन्थो पर भी टीकाए लिखी।

अब हम नागार्जुन और उनकी शून्यवादी परम्परा के उद्वाहक उन दार्शनिको के व्यक्तित्व और कृतित्व का सक्षिप्त विवेचन करेगे जिन्होने शून्यवाद को जीवन और गति दी। ये आचार्य क्रमश अश्वघोष नागार्जुन आर्यदेव और शान्तिदेव है। इनका विवरण क्रमश इस प्रकार है

शून्यवाद के प्रमुख दार्शनिक

१ अश्वघोष

अश्वघोष के जीवन के सम्बन्ध मे विस्तृत सामग्री उपलब्ध नही है। उनके ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि वे अयोध्या के निवासी थे और ब्राह्मण कुल मे जन्म लिए थे। उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी६ था और उन्हे आर्य भदन्त भी कहा गया जाता था। वे सम्राट् कनिष्क के गुरु थे। अत वे प्रथम शताब्दी ईसवी मे विद्यमान थे। वे बचपन मे अल्हड थे।१० किन्तु बाद मे बौद्ध धर्म मे दीक्षित हो गए और वेदशास्त्र रामायण, महाभारत एव अन्य दर्शनो का गहन अध्ययन किया। उन्होने बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए सुदूर देशो की यात्रा की। कनिष्क के काल मे आयोजित चतुर्थ बौद्ध धर्म सगीति के वे सचालक और कार्याध्यक्ष चुने गए थे। उनके ग्रन्थो के अध्ययन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वे एक उच्चकोटि के कवि, दार्शनिक, आचार्य सन्यासी, वैयाकरण वाग्मी व धर्म प्रचारक थे। निम्नलिखित ग्रन्थ उनकी महत्वपूर्ण रचनाए है–

१ महायान युद्धोत्पाद

२ बुद्ध चरित,

३ सौन्दरनन्द

४ शारिपुत्र प्रकरण और

५ अभिधर्म की विभाषा मात्र की टीका।

१ महायान शुद्धोत्पाद शास्त्र मे शून्यवाद और योगाचार दोनो ही सम्प्रदायो के मूलभूत सिद्धान्त मिलते है।

२ बुद्ध चरित मे बुद्ध के जीवन और सिद्धान्तो का निरुपण है। इसमे २८ सर्ग है।

३ सौन्दरनन्द मे १८ सर्ग है। इस ग्रन्थ मे बुद्ध के सैतेले भाई नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी के प्रेमपूर्ण जीवन और उनके बौद्धधर्म मे दीक्षित होने का वर्णन है। महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने इसे नेपाल नरेश के पुस्तकालय से जीर्णशीर्ण अवस्था मे प्राप्त कर १९१० ई० मे इसे सम्पादित कर प्रकाशित किया। १९२८ ई० मे डॉ० जान्सन ने इसे अग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। उसका बगला अनुवाद लाहा ने और हिन्दी अनुवाद श्री सूर्यनारायण चौधरी ने १९४८ ई० मे प्रकाशित किया।

४ शारिपुत्र प्रकरण मे बुद्ध के महायान शिष्य शारिपुत्र का वर्णन है जो युवावस्था मे दिवगत हो गए थे।

५ अभिधर्म विभाजन मे योगाचार विज्ञानवाद का मण्डन किया गया है।

२ नागार्जुन-

नागार्जुन का जीवन काल दर्शन के इतिहास मे अत्यन्त विवाद का विषय है। लकावतार– सूत्र, महामेघ सूत्र, महाभेरी सूत्र एव मजुश्री मूलकल्प मे इनके जन्म की भविष्यवाणी का उल्लेख मिलता है।[11] इन ग्रन्थो मे नागार्जुन की उत्पत्ति सम्बन्धी भविष्यवाणी से यह अनुमान लगता है कि उनका जन्म काल इन ग्रन्थो की रचना के बाद का है। लकावतार सूत्र के अनुसार दक्षिणापथ मे बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद नाग नामक एक भिक्षु का जन्म होगा जो सत् और असत् का विवेचन करेगा। चीनी परम्परा के अनुसार वे बारहवे आचार्य थे उन का काल बुद्ध के महापरिनिर्वाण के ६०० वर्ष बाद हुआ। बुद्ध का परिनिर्वाण सामान्यत ४८३ ई०पू० है। इस आधार पर उन का जन्म तीसरी शताब्दी ई० होना चाहिए। महामेधसूत्र के अनुसार बुद्ध के महापरिनिर्वाण के ४०० वर्ष बाद लिच्छवि नाग नाम का एक भिक्षु बनेगा जो धर्म का विस्तार करेगा। इस दृष्टि से नागार्जुन प्रथम शताब्दी ईसवी मे रहे होगे। महाभेरी सूत्र मे यह लिखा गया है कि नागार्जुन ने आठवी भूमि की प्राप्ति की थी।[12]

कुमार जीव ने नागार्जुन की जीवनी का चीनी भाषा मे ४०५ ई०[13] मे अनुवाद किया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे ४०५ ई० के पूर्व थे। इसके अनुसार वे दक्षिणात्य ब्राह्मण थे जिन्होने वेदो के

अतिरिक्त अनेक विद्याओ का ज्ञान प्राप्त किया था। वे अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा अदृश्य भी हो सकते थे। उन्होने दर्शन के अतिरिक्त तन्त्र और चिकित्सा शास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे। ह्वेनशाग[१४] के अनुसार नागार्जुन दक्षिण कोसल की राजधानी से थोडी ही दूर अशोक द्वारा निर्मित स्तूप के सघाराम मे निवास करते थे। उस समय सातवाहन सम्राट् का शासन था जो उनके भक्त थे। और जिन्होने भ्रमर गिरि नामक पर्वत पर उनके लिए एक सघाराम का निर्माण कराया। इस ग्रन्थ के अनुसार नागार्जुन दर्शन के अतिरिक्त रसायन शास्त्र के भी मर्मज्ञ थे और ऋद्धि सिद्धि और अलौकिक विभूतियो से युक्त थे और उन्होने इन सिद्धियो द्वारा सातवाहन नरेश को उपर्युक्त सघाराम बनवाने मे मदद की थी। यही धान्य कटक मे उनके शिष्य भावविवेक रहते थे।

जग्गयपेट के स्तूप के निकट भदन्त नागार्जुनाचार्य का नाम लिखा हुआ है। कल्हण की राजतरगिणी से पता चलता है वे हारवन (षडर्हद्वन) के निवासी थे।

बुदोन[१५] मे भी उपर्युक्त ग्रन्थो की ही भाति नागार्जुन का अतिरजित और चमत्कारी वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार बुद्ध के महापरिनिर्वाण के चार सौ वर्ष बाद अर्थात् प्रथम शताब्दी ई० मे विदर्भ जनपद के एक समृद्ध किन्तु सन्तानहीन ब्राह्मण के घर उनका इस शर्त पर जन्म हुआ कि वे १०० ब्राह्मणो को धार्मिक भोज देगे। पर यह भी भविष्यवाणी हुई कि वे दस दिन बाद दिवगत हो जाएगे। किन्तु ब्राह्मणो को धार्मिक भोजे देते रहने से उनकी आयु बढती गयी और अन्त मे सातवे वर्ष मे दीर्घायु की कामना से उनके पिता ने अनुचरो की देख–रेख मे उन्हे तीर्थ यात्रा पर भेज दिया। इस यात्रा मे नालन्दा मे सारह नाम के ब्राह्मण से भेट हुई जिसने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हे वास्तविक प्रव्रज्या (सन्यास) प्रदान की और अमितायु मण्डल मे दीक्षित कर उन्हे अमितायु धारिणी का उपदेश दिया जिसके फलस्वरूप उनके अल्पायु होने का क्लेश कट गया। यही पर विहारस्वामी राहुल भद्र के अनुग्रह से उन्हे उपसम्पदा प्राप्त हुई और उनका नाम श्रीमान् हो गया। इस रूप मे वे नागलोक गए और शतसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता तथा स्वल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता लाए और तभी से वे श्रीमान् के स्थान पर नागार्जुन नाम से विख्यात हुए।[१६] इस ग्रन्थ से यह भी पता चलता है कि उन्होने अपने अलौकिक चमत्कार से उद्भूत धन द्वारा पटवेश नाम के पूर्वी जनपद तथा धान्य कटक मे अनेक चैत्यो का निर्माण कराया। इनके विषय मे यह भी कहा जाता है कि वे अतीवाहन अथवा उदयनभद्र नाम के राजा को अमृत प्राप्त कराये थे और श्री पर्वत पर रहते थे।

उपर्युक्त विविध परम्पराओ के विवेचन ये यह पता चलता है कि वे दूसरी शताब्दी मे कनिष्क एव सातवाहन नरेश के समकालीन थे और आन्ध्र के धान्यकटक अथवा श्री पर्वत पर रहते थे। आज भी श्री पर्वत

का नाम उनके नाम से जुडा है। नालदा और काश्मीर से भी उनका सम्बन्ध ज्ञात होता है। इस आधार पर हम यह भी निष्कर्ष निकाल सकते है कि उन्होने आसेतु हिमालय समस्त भारत की यात्रा की थी और अत मे श्री पर्वत पर अपना आश्रम बनाया था। उपर्युक्त विवरण से यह भी पता चलता है कि वे न केवल दर्शन शास्त्र अपितु, अनेक विचारधाराओ मे पारगत थे। वैद्यक शास्त्र, रसायन शास्त्र तन्त्र शास्त्र और तर्कशास्त्र एव दर्शन शास्त्र उनकी अभिरुचि के मुख्य विषय थे।[१६]

उन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना की है जिनमे कुछ चीनी और तिब्बती मे अनुवाद के रूप मे सुरक्षित है और मूल सस्कृत मे अनुपलब्ध है।

उनके प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित है–

महाप्रज्ञा पारमिता शास्त्र

मध्यमक शास्त्र (मूल माध्यमिक कारिका)

विग्रह व्यावर्तनी

रत्नावली

सुहत्ल्लेख

स्वप्न चिन्तामणि परिकथा

बोधिगम

तन्त्र समुच्चय

बोधिचित्त विवरण

पिण्डी कृत साधन

सूत्र मेलापक

मण्डव्य विधि

बच्चक्रम

योग शतक

प्रतीत्य समुत्पाद चक्र

धूप योग रहन माला

गुह्य समाजतन्त्र टीका

शालिस्तम्ब कारिका।

जनपोषण विन्दु

प्रज्ञाशतक

नागार्जुन ने माध्यमिक दर्शन के प्रचार के लिए तर्कानुकूल मध्यमक शास्त्र की या मूल माध्यमिक कारिका की रचना की तथा अनेक स्तोत्र लिखे। सूत्र समुच्चय मे आगमो के अनुकूल उपदेश दिया। स्वप्न चिन्तामणि परिकथा मे गोत्रस्थ श्रावको को उपदेश दिया। सुहत्ल्लेख मे उपासक धर्म बताया। बोधिमय मे भिक्षुधर्म की व्याख्या की।

तन्त्र समुच्चय, बोधिचित्त विवरण पिण्डी कृत साधन, सूत्रमेलापक, मण्डव्य विधि, पचमक्रम आदि ग्रन्थो मे तन्त्रशास्त्र का विवेचन किया योगशतक चिकित्सा शास्त्र का ग्रन्थ है। जनपोषण बिन्दु तथा प्रज्ञाशतक नीतिशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ है। रत्नावली मे राजाओ के उपयोग के लिए महायान के सिद्धान्त की चर्चा का विवेचन है।

महायान प्रज्ञा पारमिता शास्त्र मे एक प्रकार के नवीन महायानिक अभिधर्म की भूमिका है। मैत्रेयनाथ की भॉति नागार्जुन ने भी प्रज्ञापारमिता सूत्रो को एक रीतिबद्ध रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। किन्तु उन के शून्यवादी दर्शन से किसी प्रकार के अभिधर्म का मेल नही खाता इसलिए माध्यमिक दर्शन की परम्परा मे उनके द्वारा रचित ग्रन्थ का कोई महत्वपूर्ण स्थान नही है।

आर्यदेव-

नागार्जुन की भॉति आर्यदेव का भी जीवन काल निश्चित नहीं है। तथा नागार्जुन की ही भॉति उनका भी जीवन अनेक किवदन्तियो का विषय है। वे नागार्जुन के अन्यतम शिष्य थे अत इतना निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि वे नागार्जुन के बाद हुए। उन्हे देव, काणदेव या नीलनेत्र भी कहा जाता है।

ह्वेनशाग, चन्द्रकीर्ति और बुदोन के अनुसार उनका जन्म सिहल द्वीप मे हुआ था। वहॉ के राजा ने उनका पालन पोषण किया। उन्ही के सान्निध्य मे वे तरुण हुए युवराज पद पर अभिसिक्त हुए तदन्तर वे प्रव्रज्या धारण किए और वही से आकर वे नागार्जुन से दीक्षा ग्रहण किए।[१८] तारानाथ के अनुसार वे दक्षिणापथ के ब्राह्मण परिवार मे जन्म लिए थे।[१९] कुमार जीव ने नागार्जुन और आर्यदेव की जीवनियो का चीनी भाषा मे ४०५ ई० मे अनुवाद किया। अत इनका समय तृतीय शताब्दी ईसवी के द्वितीय–तृतीय चरण मे होना चाहिए।[२०] तारानाथ, सुम्पा, ब्ल्यूएनल्स तथा चुतुररीतिसिद्धिप्रवृति आदि विद्वानो ने चौरासी सिद्धो का विवरण दिया है जिसमे नागार्जुन को सोलहवॉ और आर्यदेव को अठारहवॉ सिद्ध माना है। साधारणत इन सिद्धो का काल आठवी शताब्दी से बारहवी शताब्दी माना जाता है। अत आर्यदेव का काल भी इसी के बीच होना चाहिए। इसी आधार पर डाक्टर लालमणि जोशी[२१] ने आठवी शताब्दी माना है। किन्तु चौरासी सिद्धो की जीवनी की रचना कई शताब्दियो मे हुई अत उसके आधार पर आर्यदेव की कालगणना समुचित नही जान पडती।[२२]

पुनश्च आर्यदेव की भाषा शैली की सरलता और सहजता जो ईसा की प्रारम्भिक शताब्यिो की विशेषता है के आधार पर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उनका काल तीसरी शताब्दी का मध्य होना चाहिए। साथ ही साख्य, जैन आदि दर्शनो की खण्डन परम्परा मे आर्यदेव के योगदान के आधार पर भी यही बात सही प्रतीत होती है कि वे तीसरी शताब्दी के मध्य मे थे।

आर्यदेव विलक्षण दार्शनिक प्रतिभा और सूक्ष्म तार्किक बुद्धि के व्यक्ति थे यह बात तो चतु शतकम् के किसी साधारण अध्येता को भी ज्ञात हो जाती है किन्तु वे रूढियो और अन्धविश्वास को तोडने के लिए अपना बलिदान कर सकते है इसका ज्ञान इतिहास से होता है।

उनके विषय मे एक घटना प्रसिद्ध है कि दक्षिण मे महेश्वर की एक सोने की मूर्ति थी उसके समक्ष जो मनौती की जाती थी। वह पूरी होती थी इस आस्था को छल और मिथ्या प्रचार–मात्र सिद्ध करने के लिए उन्होने उस मूर्ति की बायी ऑख निकाल ली किन्तु इससे उन्हे यह प्रतीत हुआ कि लोग उन्हे अभिमानी और दम्भी कहेगे इसलिए पश्चाताप स्वरूप उन्होने अपनी एक ऑख को निकाल लिया तब से वे काणदेव के नाम से विख्यात हुए।[२३]

एक अन्य परम्परा के अनुसार वे नालन्दा जाकर मातृचेट नामके माहेश्वर आचार्य से शास्त्रार्थ किया और सद्धर्म की रक्षा की।[२४] बुदोन के अनुसार श्री पर्वत से नालन्दा जाते समय उन्होने वृक्षदेवता को अपनी ऑख भेट कर दी।

नागार्जुन का शिष्य बनने के सम्बन्ध मे भी उनके विषय मे एक किवदन्ती प्रचलित है। ऐसी जनश्रुति है कि नागार्जुन ने अपना शिष्य बनाने के पूर्व उनकी परीक्षा लेनी चाही और उन्होने आर्यदेव के पास एक जल से भरा पात्र भेजा नागार्जुन ने सुई डालकर उसे वापस कर दिया। जल से भरा पात्र नागार्जुन के ज्ञान समुद्र का प्रतीक है और सूचिकाभेद उनके द्वारा किएगए अवगाहन (अध्ययन) का प्रतीक है। यह प्रतीकात्मक पद्धति दोनो आचार्यो के व्यक्तित्व की निदर्शिका है।[२५]

आर्यदेव के जन्म की भॉति उनकी मृत्यु भी किवदन्तियो का विषय है। कहा जाता है कि उनके द्वारा पराजित एक तीर्थक शिष्य ने उनकी हत्या कर दी।[२६]

यद्यपि आर्यदेव काणदेव या एकाक्ष थे किन्तु वे अनेक सहस्राक्षो से भी अधिक ज्ञानी थे इसमे सन्देह नही। अपने इसी ज्ञान के कारण उन्हे "ससार को आलोकित करने वाले सूर्य के रूप मे सम्मान प्राप्त है। ह्वेनशाग के अनुसार नागार्जुन, अश्वघोष, आर्यदेव और कुमार लब्ध अथवा कुमार लात ससार को आलोकित करने वाले जम्बूद्वीप के चार सूर्य है।[२७]

आर्यदेव ने अनेक ग्रन्थो की रचना की है जिनमे निम्नलिखित अत्यन्त प्रसिद्ध है–

माध्यमिक चतुश्शतिका,

माध्यमिक हस्त बाल प्रकरण

स्खलित–प्रमथन–युक्ति हेतु सिद्धि,

ज्ञानसार समुच्चय,

इसके अतिरिक्त तन्त्र पर भी उन्होने निम्नलिखित महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे है

१ चर्यामेलयन प्रदीप चित्तावरण–विशोध,

२ चतु पीठ तन्त्र राजमण्डल उपायिका विधिसार समुच्चय,

चतु पीठ साधन

ज्ञानडाकिनी साधन तथा

एक द्रुमपचिका।

बौद्ध गानओ दोहा।[२८]

इस प्रकार आर्यदेव बौद्ध दर्शन और तन्त्रयान (वज्रयान) दोनो पर समान रूप से अधिकार रखते थे किन्तु प्रो० जी० सी० पाण्डेय और डॉ० भागचन्द्र जैन वज्रयानी (तान्त्रिक) आर्यदेव और माध्यमिक आर्यदेव को एक मानने मे सकोच करते है।[२९]

'चतु शतक को बोधिसत्व–योगाचार शास्त्र भी कहा गया है। जो इस बात का सूचक है कि यह ग्रन्थ बोधिसत्व सिद्धान्त और शून्यवाद के बीच समन्वय प्रस्थापन की मृदुभूमिका रही है।[३०] प्रो० जी०सी० पाण्डे के शब्दो मे 'इस नाम से नागार्जुन और आर्यदेव की कृतियो का भेद सूचित होता है। माध्यमिक कारिकाओ मे शून्यता का तार्किक प्रतिपादन किया गया है। चतु शतक मे शून्यता के प्रतिपादन को बोधिसत्वचर्या के साथ समन्वित किया गया है। नागार्जुन ने शून्यता को परमार्थसत्य बताकर उसके साथ एक व्यावहारिक या सवृतिसत्य भी स्वीकार किया था। आर्यदेव ने इस देशनाभेद को अधिकारभेद के साथ समन्वित कर बोधिसत्व को योग चर्या का एक निश्चित क्रम प्रदर्शित किया है। जिसमे शून्यता का स्थान चरम है। महायान–सूत्रो मे शून्यता और योग का सम्बन्ध निश्चित है किन्तु उसकी दार्शनिक व्याख्या अस्पृष्ट है। नागार्जुन की प्रधान कृति मे साधना का व्यावहारिक पक्ष उपेक्षित है। आर्यदेव मे साधना और दर्शन, योग एव शून्यता का पूर्ण सामञ्जस्य है।[३१]

शान्तिदेव

शान्तिदेव शून्यवाद के महान् आचार्य है। नागार्जुन, आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति भव्य तथा बोधिभद्र जैसे महान् आचार्यो के साथ उनका भी नाम लिया जाता है। वे सौराष्ट्र के कल्याण वर्मन् के सुपुत्र थे।[३२] तारा नाथ ने अपने 'बौद्ध धर्म के इतिहास' मे उन्हे राजवश मे श्री हर्ष के सुपुत्र शीलराजा के राजत्वकाल मे उत्पन्न माना है। बुदोन परम्परा मे भिक्षु होने के पूर्व उनका नाम शान्तिवर्मन् था। मन्जुश्री उनके आराध्यदेव थे और समस्त दक्षिण भारत उनका कार्यक्षेत्र था। बुदोन और सुम्पारवान्यो परम्पराओ मे वे भुसुक[३३] के नाम से विख्यात है। महामहोपाध्याय डॉ० हरि प्रसाद शास्त्री का भी यही मत है। और दर्शन क्षेत्र मे वे धर्मपाल के शिष्य थे। शिक्षा

समुच्चय के तिब्बती अनुवाद का समय (८१६–८३८) सूचित करता है कि वह ग्रन्थ ८०० ई० के आसपास विद्यमान था। समाधिराज के लिए चन्द्रप्रदीप नाम का प्रयोग वे सदैव करते है। प्रज्ञाकरमति ने सातवी आठवी शताब्दी मे शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार पर पन्जिका लिखी। इन सब साक्ष्यो से तारानाथ का यह कथन सही प्रतीत होता है कि वे सातवी शताब्दी के मध्य मे विद्यमान थे।[34]

दर्शनशास्त्र मे उनके मुख्य तीन ग्रन्थ है–

शिक्षा समुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार। इसके अतिरिक्त उन्होने तन्त्र पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे जो तिब्बती मे अनुवाद रूप मे विद्यमान है।

शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय और बोधिचर्यावतार माध्यमिक दर्शन की अमूल्य निधि है।

शिक्षासमुच्चय की लोकप्रियता के फलस्वरूप अनेक दार्शनिको ने उनकी शैली का अनुकरण कर ग्रन्थ लिखे जिनमे (१) सुवर्ण द्वीपराज श्रीमद्धर्मपाल कृत शिक्षासमुच्चयाभिसमय (२) वैरोचनरक्षित कृत 'शिक्षाकुसुममजरी और दीपकर अतिश कृत बोधिमार्गदीपपञ्जिका अत्यधिक प्रसिद्ध है।[35]

बौद्ध धर्म के उद्भव और कालान्तर मे उसमे विकसित विविध निकायो का किचित सकेत करने के अनन्तर अब हम अगले अध्याय मे नागार्जुन के दर्शन के मूल स्रोत को खोजने का प्रयत्न करेगे।

सन्दर्भ-

१ डा० जी० सी० पाण्डे बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास। पृ० १६

२ वही पृष्ठ ४४

३ डॉ० सी० डी० शर्मा भारतीय दर्शन पृष्ठ – ४६–४७

४ राहुल साकृत्यायन दर्शनदिग्दर्शन पृ० ५०२

५ ओल्डेनबर्ग दीपवश पृष्ठ २६

६ डॉ० जी० सी० पाण्डे बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास। पृ०६१

७ वही पृ० ७३

८ ओल्डेन वर्ग अरिजिन्स आव बुद्धिज्म पृ० ३६६–४००

६ आर्या सुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतस्य भिक्षोराचार्यस्य भदन्ताश्चघोषम् महाकवेर्महावादिन कृतिरियम्।
बुद्धचरित सौन्दरानन्द एव शारिपुत्रप्रकरण का ग्रन्थातक्य वाक्य।

१० अहोवताश्चर्यमिद विमुक्तये करोति राग यदयकथामिति – सौन्दर्यानन्द १८–६८।

११ लकावतार सूत्र पृ० २८६। बुदोन १२६–३०

१२ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३६८

१३ वही पृ० ३६६

१४ वाटर्स जि० २ पृ० २००–६ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३७६

१५ १२० १३०

१६ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३६६

१७ वही पृ० ३६२

१८ जी० सी० पाण्डे– बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३६२

१९ तारानाथ पृ० ८३–८६

२० डॉ० भागचन्द्र जैन चतु शतकम् पृ० २३

२१ स्टडीज इन द बुद्धिस्ट कल्चर ऑव इण्डिया पृ० ३३६

२२ चतु शतकम् पृ० २३

२३ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३६२

२४ वही पृ० ३६२ चतु शतकम पृ० २२

२५ चतु शतकम पृ० २२

२६ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३६३

२७ चतु शतकम् पृ० २२

२८ महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इसकी खोज नेपाल मे की। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे लेखक का नाम नही है फिर भी वे इसे आर्यदेव की तत्र पर कृति मानते है। चतु शतकम पृ० २३

२९ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३६३, चतु शतकम् पृ० २३

३० चतु शतकम् पृ० २३

३१ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३६३।

३२ चतु शतकम पृ० २७

३३ 'भुजानोऽपि प्रभास्वर सुप्तोऽपि कुटी ततोऽपि तदेवैति भुसुकसमाधि समापन्नत्वाद् भुसुक नामाख्याति सघेऽपि इडियन एण्टिक्विटी ४२ १९१३ पृ० ५०

३४ शिक्षा समुच्चय प्रस्तावना–श्री पी० एल० वैद्य पृ० १३

३५ वही पृ० १२

अध्याय–२

नागार्जुन के दर्शन का मूल स्रोत

महायान बौद्ध दर्शन के योगाचार विज्ञानवाद और माध्यमिक शून्यवाद दोनो ही सम्प्रदायो के उत्स के सम्बन्ध मे विद्वानो मे यह सामान्य धारणा प्रचलित थी कि महायान सूत्रो मे और विशेष कर वैपुल्यसूत्रो मे उपर्युक्त दोनो सम्प्रदायो के प्राय सभी सिद्धान्त बिखरे पडे थे, अश्वघोष ने उन दोनो ही सम्प्रदायो के विचारो को अपने महान् ग्रन्थ 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' मे एकत्रित किया। आगे चलकर इस ग्रन्थ को आधार मान और महायानसूत्रो का गहन अध्ययन कर मैत्रेयनाथ और उनके योग्य शिष्य असग ने योगाचारविज्ञानवाद के रूप मे एक सुव्यवस्थित निकाय की स्थापना की और नागार्जुन ने माध्यमिक शून्यवाद की।

किन्तु आधुनिक अनुसधानो के आधार पर यह सिद्धान्त अधिक जोर पकड रहा है कि इन सम्प्रदायो के प्राय सभी विचार महायान सूत्रो की रचना के बहुत पहले बुद्धवचन मे ही उपलब्ध है। इतना ही नही ये विचार वेदो मे भी मिलते है। बौद्ध दर्शन के प्राय सभी आचार्य और उसके सस्थापक शाक्यमुनि गौतम बुद्ध वैदिक परम्परा मे न केवल पले थे अपितु वेदो के निष्णात पण्डित थे अत वेदो मे निहित सूक्ष्म तथा प्रारम्भिक रूप मे विद्यमान इन विचारो को पल्लवित पुष्पित और फलान्वित कर एक नव दर्शन का भव्य प्रासाद खडा किया।

शोध प्रबन्ध का विषय "नागार्जुन के दर्शन का सीमक्षत्मक अध्ययन है अत नागार्जुन के दार्शनिक सिद्धान्तो का क्रमश वेदो, बुद्ध वचनो और महायान सूत्रो के आधार पर विवेचन किया जाता है–

१ वेद

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त मे हमे निम्नलिखित वर्णन मिलता है–

नासदासीन् नोऽसदासीत् तदानी नासीद् रजो नो व्योमा परोयत्? किमावरीव? कुह? कस्य शर्मन्? नम्य किमासीद् गहन गभीरम्।।[1]

सृष्टि के पूर्व न सत् था न असत् था।

इस मन्त्र मे शून्यवाद अथवा मायावाद का पूर्वरूप प्राप्त होता है।

इसी प्रकार ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र मे असत् से सत् की उत्पत्ति दिखाई गयी है–

देवाना पूर्वे युगे असत सदजायत्।[२]

यहॉ पर भी अभाव (शून्य) से भव (पदार्थ) की उत्पत्ति का आभास होता है।

२ उपनिषद्

तैत्तिरीय उपनिषद् मे भी हमे अभाव (शून्य) से भावमूलक जगत् की उत्पत्ति का विवरण मिलता है–

असद् एव इदम् अग्र आसीत्, ततो वैसद जायत्[३]

किन्तु छान्दोग्योपनिषद् तथा आगे चलकर गीता मे हमे इस सिद्धान्त पर प्रश्नचिन्ह सा लगता मालूम पडता है जब यह वाक्य मिलता है कि–

कथम् असत सज्जायते[४] अथवा

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत।[५]

अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? अथवा असत् पदार्थ से भावमूलक पदार्थ की उत्पत्ति नही हो सकती और न अभाव (वास्तविक पदार्थ) अभाव मे बदल सकता है।

आगे चलकर जब हम बुद्ध युग मे प्रवेश करते है तो 'अमराविक्खेपवादी' नामक दार्शनिको का निकाय मिलता है जो किसी पदार्थ के स्वरूप का विवेचन करते समय यह कहते थे कि हम इसके विषय मे ऐसा भी नही कह सकते, वैसा भी नही कह सकते, अन्यथा भी नही कह सकते और न नही को नही भी कह सकता हूॅ, इस कथन मे नागार्जुन चतुष्कोटि न्याय का पूर्वरूप देखने को मिलता है।[६]

३ त्रिपिटक (पालि)

इसी प्रकार पालित्रिपिटक मे दीघनख नामक दार्शनिक का उल्लेख मिलता है जो यह कहते थे कि सब्ब मे न खमति' अर्थात् मै कुछ नही मानता। यहॉ सब्ब' का अर्थ सभी दृष्टियॉ अथवा सभी सिद्धान्त दृष्टान्त है जैसा कि जयतिलके द्वारा किया गया है। यह नागार्जुन और उनके माध्यमिक दार्शनिको के 'सर्वदृष्टि प्रहाण' सिद्धान्त का पूर्वरूप प्रतीत होता है।[७]

बुद्ध के समकालीन दार्शनिक सजय बेलादिट्ठपुत्त के निम्नलिखित कथन मे हमे नागार्जुन के चतुष्कोटि–विनिर्मुक्त सिद्धान्त का पूर्वरूप देखने को मिलता है जो यह कहते थे कि यदि कोई मुझसे यह पूछे कि परलोक है या नही? तो मै कहूँगा कि 'परलोक है किन्तु मै ऐसा नही कहता वैसा नही कहता मै अन्यथा नही कहता और नही नही कहता, मै नही को नही नही कहता।[८]

भगवान् बुद्ध द्वारा घोषित 'अव्याकृत प्रश्नो मे भी हमे चतुष्कोटि न्याय का पूर्वरूप मिलता है। बुद्ध के सवादो मे चार विषयो के सम्बन्ध मे प्रश्न दिए गए है जो इस प्रकार है।

(१) १ क्या लोक नित्य है २ अनित्य है ३ नित्यानित्य है तथा न नित्य है और न अनित्य (अनित्यानित्य)

(२) १ क्या लोक सान्त है २ अनन्त है ३ सान्तानन्त है अथवा ४ असान्तानन्त है (न सान्त है न अनन्त)है।

(३) १ क्या तथागत का अस्तित्व निर्वाण के बाद रहता है? २ क्या तथागत का अस्तित्व निर्वाण के बाद नही रहता? ३ क्या तथागत का अस्तित्व निर्वाण के बाद रहता भी है। और नही भी रहता है तथा ४ क्या तथागत का अस्तित्व निर्वाण के बाद न तो रहता है और न नही रहता है।

(४) १ क्या आत्मा शरीर से अभिन्न है?

क्या आत्मा शरीर से भिन्न है?[९]

'अन्तवान् लोको नान्तवान्

एताश्चतस्रो दृष्टयो परान्त समाश्रित्य प्रवृत्ता शाश्वतो लोकोऽशाश्वतो लोक, इत्येतश्च चतस्रो दृष्टय पूर्वान्त समाश्रित्य प्रवर्तन्ते[१०]

उपर्युक्त अव्याकृत प्रश्नो मे हम काण्ट की एण्टी नॉमीज और नागार्जुन के चतुष्कोटिन्याय को आसानी से देख सकते है।

इतना ही नही बुद्ध ने अव्याकृत प्रश्नो की जो व्याख्या की है उसमे नागार्जुन की शून्यता दृष्टि या द्वन्द्वन्याय की स्पष्ट झलक मिलती है। बुद्ध के 'सवादो' से हमे स्पष्ट रूप से यह ज्ञान होता है कि उन्हे उस युग मे प्रचलित सभी दार्शनिक वादो विशेष रूप से ६ तीर्थको के वादो का ज्ञान था। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त मे बुद्ध के सिद्धान्त का दर्शन होता है। वे चिन्तन के सभी सिद्धान्तो का दिट्ठि वाद (रूढिवाद)

कहकर खण्डन करते है और उनके जाल मे नही फसते। वह बुद्धि के विरोधात्मक स्वरूप से परिचित है और उससे ऊपर उठकर समीक्षा वाद (शून्यता दृष्टि) पर पहुँचते है। और यही द्वन्द्वन्याय का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार पाश्चात्यजगत् के द्वन्द्वन्याय के जनक यूनानी दार्शनिक जेनो के बहुत पहले बुद्ध को द्वन्द्वन्याय का जनक होने का श्रेय जाता है। यदि वे जिज्ञासुओ या विरोधियो के प्रश्नो का उत्तर हॉ या नही मे देते तो वे उसी दिट्ठिवाद' के दोषी होते जिसका वे विरोध कर रहे थे। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनो ही सिद्धान्तो का जो उनकी दृष्टि मे दिट्ठिवाद (रूढिवाद) ही थे, का अतिक्रमण कर समीक्षावाद को जन्म दिया जो इस बात का बोध या दार्शनिक जागरूकता है कि ये सभी सिद्धान्त मात्र दृष्टिवादी सिद्धान्त है। समीक्षावाद मानव मस्तिष्क की सभी भ्रान्तियो और वासनाओ से मुक्ति है। यही सच्चे अर्थो मे स्वतन्त्रता या निर्वाण है और यही वास्तविक माध्यमिक स्थिति है।"[११]

बुद्ध की उपर्युक्त दृष्टि हमे वत्स के सम्वाद मे देखने को मिलती है। बुद्ध कहते है 'वत्स आप का यह कथन कि लोक शाश्वत है लोक अशाश्वत है अथवा आपके अन्य कथनो का स्वीकरण सिद्धान्तीकरण का अरण्य है, सिद्धान्तीकरण की एकान्तिकता, सिद्धान्तीकरण का जाल है बन्धन तथा सिद्धान्तीकरण की बेडियॉ है जिनके फलस्वरूप बुराई, दु ख, क्षोभ और रोग का उद्भव होता है। ये निर्वाण के विराग, अनासक्ति समचित्तता शान्ति, ज्ञान और प्रज्ञा को नही उत्पन्न कर सकते । तुम्हारे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो मे हमे यही खतरा महसूस होता है इसलिए मै इनका तिरस्कार करता हूँ।'[१२]

बुद्ध के निम्नलिखित कात्यायन सवाद मे हमे और अधिक स्पष्ट शब्दो मे नागार्जुन के शून्यवाद का दर्शन होता है। नागार्जुन ने अपने मध्यमक शास्त्र मे बुद्ध के इस सवाद की ओर बार–बार इगित किया है।[१३] काच्चायन सम्मादिट्ठि (सम्यक्दृष्टि) के वास्तविक स्वरूप के जिज्ञासु है और बुद्ध उन्हे समझाते है कि लोक इस द्वैत के अभ्यस्त है कि है (अत्थितम्) नही है।' (नत्थितम्) किन्तु जो व्यक्ति सत्य और प्रज्ञा से देखता है वह कैसे कहेगा कि जगत् की वस्तुए उत्पन्न होती है या नष्ट होती है। उसके लिए 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनो नही है। हे काच्चायन 'प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है' यह एक छोर है और किसी वस्तु का अस्तित्व नही है, यह दूसरा छोर है। इन दोनो ही छोरो (अन्तो) को न स्वीकार करना सही धम्म (धर्म) है यही मध्यमा स्थिति है जिसकी तथागत ने घोषणा की है–

'द्वयनिस्सितो रवो, कच्चायन! लोको य ये भुय्येन अत्थित चेत नत्थित च सब्ब अत्थीतिरवो कच्चायन। अयम् एको अन्तो, सब्ब नत्थीति अयम् दुतियो अन्तो, एते ते कच्चायन!, उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्म देसेति अविज्जा पच्चया सखारा।'[१४]

रत्नकूट सूत्र के काश्यप परिवर्त मे जो महायान साहित्य के प्रारम्भिक ग्रन्थो मे है, बुद्ध कहते है कि हे काश्यप! ये ही दो दृष्टियॉ है– आत्मा है (आत्मवाद), आत्मा नही है (नैरात्म्यवाद) किन्तु एक अन्य स्थिति भी हो सकती है जो इन दोनो की समीक्षा से स्वत उत्पन्न होती है किन्तु तीसरी दृष्टि नही है अपितु प्रज्ञा या भूतप्रत्यवेक्षा है जो इन अन्तवादो का अतिक्रमण करती है।[१५]

नागार्जुन दर्शन के नेयार्थ–नीतार्थ सिद्धान्त जिसका विवेचन आगे किया जाएगा का स्पष्ट सकेत हमे निम्नलिखित बुद्धवचन मे मिलता है। जहॉ धर्मो की तुलना नदी मे स्थित एक लट्ठे से की गयी है जिसे पकडकर नदी को पार किया जाता है किन्तु नदी पार करने के बाद उसे त्याग दिया जाता है। इसी प्रकार धर्म परम सत्य नही है। वे परम सत्य को समझने के उपाय मात्र है। एवमेव रवो भिक्खवे कुल्लोपमो मायाधम्मो देसितो नित्थरणत्थाय न गहणत्थाय। कुल्लूपमम वो भिक्खवे आजानन्तेहि धम्मापि वो पहातव्व्या, पाग एव अधम्मा'– अलगुद्दूपम सुत्त[१६]

यशोमित्र की अभिधर्मकोश व्याख्या मे यह स्पष्टरूप से निर्देश है कि हमे नीतार्थ से सम्बन्धित सूत्रो और धर्म ग्रन्थो को ही महत्व देना चाहिए न कि वे जो नेयार्थ है–

'नीतार्थ' च सूत्र प्रतिशरणम् उक्तम् इति, चत्वारीयानि, भिक्षव! प्रतिशरणानि। कतमानि चत्वारि? धर्म प्रतिशरणम् न पुद्गल अर्थ प्रतिशरणम् न व्यञ्जनम् नीतार्थसूत्र प्रतिशरणम न नेयार्थम्। ज्ञान प्रतिशरणम् न विज्ञानम् इति[१७]

नेयार्थ - नीतार्थ

बौद्ध दर्शन के इतिहास मे नेयार्थ और नीतार्थ' युग्म का अर्थ बदलता रहा है। श्रावकयान के अनुसार नेयार्थ वे बुद्धवचन है जिसका अर्थ अभिप्रायिक व्याख्या के द्वारा ग्रहण किया, जाता है। और नीतार्थ वे बुद्ध वचन है जिसका अर्थ शब्दत या सीधे तौर पर ग्रहण किया जाता है। बौद्ध भी इसके अर्थ पर एक मत नही है। (१) कुछ श्रावकयानियो के अनुसार समग्र बुद्ध देशना नीतार्थ है। ये नेयार्थ सूत्रान्त को नही मानते (२) इनमे से कुछ दार्शनिक नेयार्थ और नीतार्थ दोनो सूत्रान्त मानते है। ये दोनो प्रकार के दार्शनिक महायान को बुद्धवचन नही मानतेऔर अनेक युक्तियो द्वारा उसका खण्डन करते है।

महायान मे नेयार्थ- नीतार्थ की दो दृष्टिकोण से व्याख्या हुई है। १ योगाचार विज्ञानवाद के दृष्टिकोण से तथा २ माध्यमिक शून्यवाद की दृष्टि से।

(१) योगाचार विज्ञानवाद का इस विषय मे प्रामाणिक ग्रन्थ सन्धि निर्मोचन सूत्र है। आर्य असग के अनुसार जिन सूत्रान्तो का अर्थ शब्दत ग्राह्य है अर्थात उस शब्द के दृष्टिगोचर होने मात्र से उसके अर्थ का बोध हो जाता है। वे नीतार्थ है इसके विपरीत वे सूत्रान्त जिनका शब्दत ग्रहण नही है अपितु अभिप्राय के आधार पर ग्राह्य है वे नीतार्थ है—

इनके अनुसार प्रथम और द्वितीय धर्म चक्र प्रवर्तन मे जो सूत्रान्त आते है। वे नेयार्थसूत्रान्त है।

(२) नागार्जुन की व्याख्या अक्षयमतिसूत्र पर आधारित है।

इनके अनुसार वे सूत्र नेयार्थ सूत्रान्त है जिनमे सवृति का मूलरूप से निरूपण होता है। इन सूत्रो मे पदव्यञ्जनादि नानास्वभाव लक्षणो का विवेचन होता है।

(२) **नीतार्थ** जिन सूत्रो मे परमार्थ का निरूपण मूलरूप से होता है वे नीतार्थसूत्रान्त कहलाते है। उदाहरण के लिए इन सूत्रो मे शून्यता अप्रणिहित अनिमित्तादि का निदर्शन होता है— नीतार्थसूत्रान्त के अन्तर्गत सभी प्रज्ञापारमितासूत्र रत्नकूट ज्ञानालोकभूषण चन्द्रप्रदीप आदि सूत्र और फुटकर रूप से प्रतीत्य समुत्पादसूत्र शालिस्तम्बसूत्र तथा दशभूमिसूत्र आदि आते है। अक्षयमतिसूत्र नेयार्थ और नीतार्थ की व्याख्या करते हुए कहता है कि— कतमे सूत्रान्ता नेयार्था कतमे सूत्रान्ता नीतार्था? ये सूत्रान्ता मार्गावताराय निर्दिष्टा इम उच्यन्ते नेयार्था। ये सूत्रान्ता फलावताराय निर्दिष्टा इम उच्यन्ते नीतार्था। यावद् ये सूत्रान्ता शून्यतानिमित्ताप्रणिहितानभिसस्का—राजातानुत्पादाभावनिरात्मनि सत्वनिर्जीवानि पुद्गलास्वामिक विमोक्षनिर्दिष्टा त उच्यन्ते नीतार्था इत्यादि।[१]

चन्द्रप्रदीपसूत्र मे उपर्युक्त मत का समर्थन किया गया है—

नीतार्थसूत्रान्त विशेष जानातु यथोपदिष्टा सुगतेन शून्यता।
यस्मिन पुन पुद्गल सत्वपुरूषो नेयार्थ तो जानति सर्वधर्मान।।[१६]

नागार्जुन का कथन है कि यद्यपि नेयार्थ सूत्रान्त उपायभूत सत्य का प्रतिपादन करते है और सामान्य बुद्धि के शिष्यो के लिए भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट है किन्तु इसका अर्थ यह नही कि सारे सूत्र एव उनकी व्याख्या निरर्थक एव निष्प्रयोजन है। सवृत्ति सभी व्यवस्थाए चलेगी। जैसे जबतक मायाकार की सृजनशक्ति समाप्त नहीं होती माया सुन्दरी हाथी आदि की निवृत्ति सभव नही। नाना देश—काल पात्र (व्यक्ति) एव

आशय (उद्देश्य) के आधार पर दी गई देशनाए भी अवतारणादि प्रयोजन विशेष के कारण सार्थक है। नागार्जुन रत्नावली मे निम्नलिखित कारिकाओ के माध्यम से अपने मन्तव्य को प्रकट करते हुए कहते है कि–

यथैव वैयाकरणो मातृकामपि पाठयेत्।

बुद्धोऽवदत्तथा धर्म विनेयाना यथाक्षमम। रत्नावली श्लोक ६४

केषाचिदवंदद्धर्म पापेभ्यो विनिवृत्तये।

केसाचिद्त्पुण्यसिद्धमर्थ केषाचित ह्यनिश्रितम।। वही श्लोक ६५

द्वयानिश्रितमे केषा गम्भीर भीरुभीषणम।

शून्यताकरुणागर्भमेकेषा बोधिसाधनम। वही श्लोक ६६

नेयार्थ नीतार्थ का उपर्युक्त विवेचन ग्रन्थो के अभिप्राय को समझने के लिए कुछ उपयोगी अवश्य हो सकता है किन्तु इसप्रकार (नेयार्थ–नीतार्थ) का अवधारण भी किसी सूत्र विशेष खण्डित विचार एव युक्तियो के आधार पर इसका अर्थ यह है उसका अभिप्राय वह है कहने मात्र से नहीं हो जाता अपितु विषयविपर्यासमूलक अज्ञान के प्रतिपक्षभूत अखण्ड ज्ञान एव बुद्धवचनो के प्रति समग्र दृष्टि के आधार पर अबाध युक्तियो के द्वारा ही सभव होता है। इसी अभिप्राय से बुद्ध ने कहा है–

शून्यताश्च शान्त अनुत्पादनय अविजानादेव जगदुद्भ्रमति।

तेषामुपायनय युक्तिशतैरवतारस्यादि कृपालुतया

(राष्ट्रपालपरिपृच्छा २ ३१०)

बुद्ध का समस्त उपदेश उक्त ज्ञान और जीवन की सम्यक दृष्टि केलिए था और सभी आचार्यो ने उक्त पद्धति के आधार पर उसकी व्याख्या की है जैसा कहा है–

इम परिकर सर्व प्रज्ञार्थ हि मुनिर्जगौ।[२]

तस्मादुत्पादयेत्प्रज्ञा दु खनिवृत्तिकाक्षया।। (बोधिचर्यावतार ९ १)

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि यह निश्चितरूप से नही कहा जा सकता कि बुद्ध मे द्वन्द्वन्याय पूर्णविकसित रूप मे विद्यमान था किन्तु इसमे दो राय नही कि बुद्ध वचनो मे द्वन्द्वन्याय के स्पष्ट सकेत और सुझाव है जिनके फलस्वरूप कालान्तर मे नागार्जुन और उनके माध्यमिक दर्शन के द्वन्द्वन्याय का विकास हुआ।[२१]

शून्यता सिद्धान्त

शून्यता का सिद्धान्त भी नागार्जुन के बहुत पहले बुद्ध वचन पालि त्रिपिटक मे मिलता है।

शून्यता प्रत्यय और माध्यमिक के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। शरवात्स्की के अनुसार यद्यपि शून्यता प्रत्यय के बीच हीनयान मे भी मिलते है तथापि इसकी प्राण प्रतिष्ठा नए अर्थो मे महायान मे ही सभव हुई[२२] एन० दत्त के अनुसार दु ख अनित्य और अनात्म के साथ साथ शून्य की योजना सर्वास्तिवाद मे हुई यद्यपि महायान मे उसे नया अर्थ मिला।[३] अय्यास्वामी शास्त्री के अनुसार प्राचीन बौद्ध दर्शन मे शून्य का अर्थ नैरात्म्य था और वह नागार्जुन के दर्शन मे प्रतीत्यसमुत्पाद बन गया।[२४]

अब हमे देखना है कि उपर्युक्त विद्वानो के विचार कहॉ तक सही है।

पालि त्रिपिटक मे शून्य शब्द का रूप सुञ्ञ है जिसका अर्थ रिक्त निर्जन और तुच्छ है। सुत्तनिकाय मे निम्नलिखित कथन आता है–

सो परसेयय सुञ्ञ ग्राम। यदेव घर पविसेयय रिक्तवच्त्रेव पविसेयय तुच्छ कच्त्रेवे पविसेयय सुञ्ञवञ्ञेव पविसेयय।[२५]

इसका अर्थ है वह शून्य ग्राम देखता है वह जिसघर मे प्रवेश करता है रिक्त तुच्छ और शून्य है। यहॉ प्रथम शून्य का अर्थ जन शून्य और द्वितीय शून्य का अर्थ है उजाड। वही एक वाक्य और मिलता है जिसका अर्थ है– तीर्थको की सस्था स्वर्ग जाने वाले व्यक्तियो से शून्य है–

एव वच्छ सुञ्ञ अद तित्थायतन अन्तमसो सग्गुपगेन।[२६]

मज्झिमनिकाय मे एक कथन है जिसका अर्थ है चेतोविमुक्ति राग से शून्य होती है द्वेष से शून्य होती है मोह से शून्य होती है।

सखो पनाकुप्पा चेतोविमुत्ति सुञ्ञा रोगेन
सुञ्ञ दोसेन सुञ्ञ मोहेन।[२६]

इसी प्रकार दीर्घ निकाय मे एक वचन है–

अथ रवो अञ्ञतरो सत्तो आयुक्खया वा पुञ्ञक्खया वा आभस्सरकाया चवित्वा सुञ्ञ ब्रह्मविमान उपपज्जति।

कोई जीव अभास्वर काया छोडकर शून्य ब्रह्म लोक मे जन्म लेता है।[२]

सयुक्त निकाय का निम्नलिखित प्रयोग अवश्य ही दार्शनिक पुट लिए है– जिसका अर्थ है जगत आत्मतत्व अथवा द्रव्य से सर्वथा शून्य है–

सुञ्ञ इद अन्तेन वा अन्तनियेन वा।[26]

यही पर एक और स्थल है जहॉ शून्य का महत्वपूर्ण अर्थ मे प्रयोग किया गया है–

सुञ्ञो लोको सुञ्ञो लोकोति भन्तेवुच्चति। कित्तावतो नु खो भन्ते सुञ्ञो लोको विपुच्चती ति यस्मा चखो आनन्द सुञ्ञ अन्तेन वा अन्तनियेन वा तस्मा सुञ्ञो लोको ति वुच्चति

सुञ्ञ तो लोक अपेक्खस्सु मोघराज सदासतो। (अत्तानुदिदिह अहाच्च एव मच्चुतरो सिया।) एव लोक अपेक्खन्त मच्चुराज न पस्सति।।[3]

इसका अर्थ है आत्मा अथवा द्रव्य से शून्य। अत इस सन्दर्भ मे शून्य का अर्थ अनात्म अथवा द्रव्य शून्यता है।

पालि त्रिपिटक मे धर्म शब्द के विशेषण के रूप मे कई शब्दो का प्रयोग हुआ है जिनमे एक शब्द शून्य भी है जिसका अर्थ न केवल पुद्गल नैरात्म्य है अपितु धर्म नैरात्म्य भी है। देखिए अनिच्चतो दु खतो रोगतो गण्डलो सल्ललो

अद्यतो अवाधतो परतो पलोकतो सुञ्ञतो अनत्तवो।[31]

अगुत्तर निकाय मे सुञ्ञ शब्द का प्रयोग परम सत्य के रूप मे किया गया है–

गम्भीरा गम्भीरत्था लोकुत्तरा सुञ्ञतापटि सयुत्ता। यह लोकोत्तर शून्यता परम सत्य की ओर सकेत करती है। मज्झिमनिकाय मे चूलसुञ्ञता सुत्त[32] और महासुञ्ञतासुत्त[33] दो ऐसे सूत्र है जहॉ एकमात्र शून्यता का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम (चूल सुञ्ञतासुत्त) मे **शून्य वह चरम उत्कर्ष है जो निर्वाण का कारण है।** जहॉ शून्यता के विशेषण के रूप मे यथाभूत (यथाभुच्च) परिशुद्ध (परिसुत्त) परात्पर (परमानुत्तर) और अपरिणामी (अविपललत्थ) आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है। यहॉ सुञ्ञता के साथ ही साथ असुञ्ञता का भी प्रयोग हुआ है जो शून्यता का विरोधी नही अपितु उसका पूरक है।

शून्यता का प्राचीनतम रूप स्थविरवाद के प्राचीनतम ग्रन्थ **सुत्तनिपात** मे देखा जा सकता है जहॉ बुद्ध स्पष्ट रूप से कहते है कि मृत्यु के राज्य से हमेशा के लिए अदर्शन स्थिति प्राप्त करने के लिए लोक को शून्यत देखना चाहिए

सुञ्ञतो लोक अवेक्खसु मोघ राजा सदा सतो

अत्तानुदिट्ठि ऊहच्च एव मच्चतरो सिया।

एवलोक अवेक्खन्त मच्चुराजा न पस्सति।[३४]

इसी प्रकार पालि निकाय मे कही—कहीं सुञ्ञता शब्द का प्रयोग निर्वाण के लिए किया गया है[३५] धम्मपद मे सुञ्जता शब्द विमोक्ख अथवा निर्वाण का द्योतक है। सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्य गो चरो।[३६]

शून्यता के प्रकार

महायान दर्शन के ग्रन्थो मे अठारह से बीस प्रकार की शून्यता का विवेचन किया गया है किन्तु पालित्रिपिटक के परिसमिधामग्ग मे ३० प्रकार की शून्यता गिनाई गयी है।[३७] कही—कही ४० प्रकार की शून्यता का वर्णन है।[३]

निर्वाण

निर्वाण का जो स्वरूप हमे नागार्जुन के मूल मध्यमकशास्त्र के निम्नलिखित कारिका मे मिलता है।

अप्रहीणम् असप्राप्तम अनुच्छिन्नम अशाश्वतम।

अनिरुद्धम अनुत्पन्नम एतन्निर्वाणमुच्यते।।[३९]

ठीक यही इतिवुत्तक मे मिलता है। जिसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो नागार्जुन की निर्वाण की परिभाषा का यह पूर्वरूप हो। इतिवुत्तक मे निर्वाण की परिभाषा इस प्रकार है—

जात भूत समुप्पन्न? कत सखतमद्धुव

जरामरणसघात रोगनीड पभङगुर।

तस्स निस्सरण सन्त अतक्कावचर ध्रुव

अजात असमुत्पन्न असोक विरज पदम

निरोध दु खधम्मान सखारूप समो सुखेति।[४]

चन्द्रकीर्ति ने इसकी व्याख्या क्रम मे प्रदर्शित किया है कि निर्वाण वस्तुत सभी प्रपचो का उपशम है— सर्वप्रपचोपशम लक्षण निर्वाणमुक्तम।[४१] चुल्लनिद्देश से प्रकट है कि अनुपाद सेसायनिब्बानधातुया परिनिब्बतो सख न उपेति उद्देस न उपेति गणन न उपेति पण्णति न उपेति[४२] मे निर्वाण का कथन करते हुए शब्दश भिन्न होते हुए भी अर्थत एक ही तथ्य पर प्रकाश डाला गया है।

चुल्लनिद्देश के निम्नलिखित कथन मे भी हमे नागार्जुन के निर्वाण का पूर्वरूप मिलता है–

यस्या न खो आनन्द सुञ्ञ अन्तेन वा तस्या सुन्नो लोकोइति वुच्चति ए रित्ततो तुच्छतो सुञ्ञतो अनत्तो असारकतो वधकतो विभवत्तो अवेक्खति–

सुद्ध धम्मसमुत्पाद सुद्ध सखार सन्तति।
पस्सन्तस्स यथाभूत न भय होति गायणि।
तिणकटठ सम लोक यदा पशाय पस्सति
नाञ्ञ पश्यते किचि अञ्ञपरि सन्धिया।[४३]

दशभूमि

महायान दर्शन (शून्यवाद और विज्ञानवाद) के समाधि की दशभूमियो का पूर्वरूप भी हमे त्रिपिटक मे मिलता है। मज्झिम निकाय मे समाधि की नौ भूमियो का इस प्रकार का विवेचन है–

१ मनुस्स सञ्ञा अर्थात् मावन की चेतना

२ अरञ्ञ–सञ्ञा अर्थात् वन चेतना

३ पटवी–सञ्ञा अर्थात पृथ्वी चेतना

४ आकासानञ्ञयतन–सञ्ञा–अर्थात आकाश की अनन्ता की चेतना

५ विञ्ञाणन–वायतन–सञ्ञा अर्थात विज्ञान की अनन्तता की चेतना

६ आकिञ्चन चायतन–सञ्ञा अर्थात् अभाव की चेतना

७ नेव सञ्ञा नासञ्ञायतन–सञ्ञा अर्थात न चेतना और अचेतना की चेतना

८ सञ्ञा वेदयित निरोध अर्थात चेतना और विषय का निरोध।

६ परमानुत्तरा सुञ्ञता – अर्थात् परम आत्यन्तिक शून्यता[४४]

सयुत्त निकाय मे उक्त ६ भूमियो की सूची कुछ भिन्न है जो इस इस प्रकार है–

१ विवेजापीतिसुत्वा– वितक्क विचार

२ अझत्त सम्सादन चेतसोएकोदिभाव समाधिजपोतिसुख

३ अपेक्खो उपेक्खासुख सतो सम्पजानो

४ अपेक्खा–सति–परिसुद्धि

५ आकाससानन्चायतन–सञ्ञा

६ विञ्ञाण चायतन–सञ्ञा

७ आकिञ्चञ्चायतन–सञ्ञा

८ नेव सञ्ञानासञ्ञायतन सञ्ञा

९ सञ्ञावेदयितनिरोध[४५]

इन सूचियो मे मज्झिम निकाय की चौथी भूमि से आठवी भूमि तथा सयुत्त निकाय की पाचवी भूमि से नवी भूमि का एक ही नाम है। शेष मे अन्तर है।

बौद्ध दर्शन के महान् व्याख्याता टशी पलजोर महोदय के शब्दो मे–

नागार्जुन के दर्शन तथा मूल बौद्ध दर्शन के मूलस्रोत त्रिपिटक से तत्सम्बधी कथनो से हम यह निष्कर्ष आसानी से निकाल सकते है कि शून्यवाद के जन्मदाता नागार्जुन नही है। इसके जन्मदाता तो भगवान बुद्ध ही है। स्वय नागार्जुन के कथनो से यह बात सिद्ध होती है। उन्होने अपने कई ग्रन्थो के मगलाचरण मे शून्यता की देशना करने वाले बुद्ध को प्रणाम किया है। युक्ति षष्ठिका के मगलाचरण मे भी नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को बतलाने वाले बुद्ध को प्रणाम किया है। आचार्य कहते है– जिस (मुनीन्द्र) ने उत्पत्ति और विनाश को इस (प्रतीत्यसमुत्पाद) नीति से प्रहीण किया है (क्लेशो का त्याग किया है) उस प्रतीत्यसमुत्पाद बतलाने वाले मुनीन्द्र को मै (नागार्जुन) प्रणाम करता हू।[४६] यही बात विग्रह–व्यावर्तनी मे भी नागार्जुन दोहराते है– य शून्यता प्रतीत्यसमुत्पाद मध्यमा प्रति पदमनेकार्थम निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसबुद्धम्।। विग्रहव्यावर्तनी–७२।।

किन्तु टशी पलजोर महोदय को और आगे बढना चाहिए। और बुद्ध के स्थान पर नागार्जुन के शून्यवाद का उत्स वेदो को मानना चाहिए। क्योकि जिस सिद्धान्त सादृश्य के आधार पर पलजोर महोदय ने नागाजुन के स्थान पर बुद्ध को शून्यवाद का जनक माना है वह सादृश्य वेदो मे बुद्ध के बहुत पहले पाया जाता है। बुद्ध ने उसे पल्लवित और पुष्पित किया और नागार्जुन मे पहुचते–पहुचते वह फलान्वित हो गया।

सन्दर्भ

१ ऋग्वेद १० १२६

२ वही पुष्ठ १० ३२

३ तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्लीसप्तम अनुवाद

४ छान्दोग्योपनिषद् ७ २ १–२

५ गीता – २१६

६ दीर्घ निकाय–ब्रह्मजाल सुत्त १ पृ० २३–२६

७ के० एन० जय तिलके अर्ली बुद्धिस्ट थियरी ऑव नालिज पृ० २१५, वही पृ० ४८

८ ३ दीर्घ निकाय १ सामञ्जफलसुत्त २ पृ० ५१ वही पृ० ४८

६ प्रश्न मे मात्र दो ही विकल्प मिलते है जबकि यहाँ भी ये विकल्प हो सकते थे कि क्या आत्मा और शरीर अभिन्न और भिन्न दोनो हैं अथवा आत्मा और शरीर न तो भिन्न हैं और न अभिन्न है। चौथे प्रश्न मे दो विकल्प होने के कारण १४ अव्याकत (अव्याकत वस्तूनिप्रश्न है नहीं तो १६ अव्याकत होते।

१० द सेन्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३८ मध्यमक शास्त्रवृत्ति पृ० ५३६ और ५३८।

११ वही पृ० ४१

१२ मज्झिम निकाय पृ० ४८५–४८६

१३ काव्यायनावादे चास्तीति नास्तीति चोभयम प्रतिषिद्ध भगवताभावाभावविभाविना
म० शा० १५, ७१ पृ० ५१

१४ सयुक्त निकाय २ पृ० १६ वही पृ० ५१

१५ आत्मेति काश्यम अयम् एकोऽन्त नैरात्म्यम् इत्यय द्वितीयोऽन्त
यद् आत्मनैरात्मनार्मध्यतद् अरूत्यम् अनि दर्शनम् अप्रतिष्ठम अनाभासम् अनिकेतम अविज्ञप्तिकम इयमुच्यते। काश्यम मध्यमाप्रतिपद् धर्माणाभूत प्रत्यवेक्षा – रत्नकूट सूत्र – काश्यपपरिवर्त पृ० ८७

१६ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ५२

१७ अभिधर्म कोश व्याख्या–यशोमित्र पृ० १७४

१८ अक्षयमति सूत्र प्र० पृ० १४ माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड फिलासफी

१६ चन्द्रप्रदीपसूत्र ७५। वही पृ० १३

२० माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड फिलासफी ऑव नागार्जुन सेम्पा दोर्जे का लेख माध्यमिको की नीतार्थता और नेयार्थता पृ० १०–१६।

२१ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ५४

२२ शरवात्स्की मध्यान्तविभाग

२३ नलिनाक्षदत्त एस्पेक्टस ऑव महायान बुद्धिज्म पृ० २६ वही पृ० ४६

२४ भाव विवेक करतलरत्न भूमिका पृ० १ वही पृ० ४८

२५ सयुक्त निकाय ४ पृ० १५, वही पृ० ४६

२६ वही पृ० १५७

२७ मज्झिम निकाय १ पृ० ३६८

२८ दीर्घनिकाय १ पृ० १७

२६ सयुक्त निकाय ४ पृ० ५१

३० वही पृ० ५०५१ विसुद्धिमग्ग पृ० १५५०

३१ माध्यमिक दर्शन का स्वरूप पृ० ५०

३२ मज्झिम निकाय पण्णासक ३ सुत्त २१
(चूल सुञ्जत सुत्त)

३३ वही सुत्त २२

३४ चुल्ल निद्देश १६०

३५ मज्झिम निकाय ३ पृ० १७१

३६ ४ पृ० ७

३७ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप पृ० ५२

३८ वही पृ० ५४

३६ मध्यमकशास्त्र ५२१

४० इति वुत्तक २०७–२०८
उपर्युक्त दोनो पदो का अर्थ निर्वाण के अध्याय मे दिया गया है।

४१ मध्यमक शास्त्र कारिका वृत्ति ५२१

४२ चुतल निद्देश ११६

४३ चुतल निद्देश १६६ – महेश तिवारी का लेख निर्वाण शून्य है से उद्धृत–देखिए माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी ऑव नागार्जुन पृ० ६८

४४ मज्झिम निकाय – पण्णासक उपरिपण्णासक सुत्त २१ चूलसुत्त पृ० १६६–१७३

४५ सयुक्त निकाय – निदान वग्ग पृ० १७६

४६ माध्यमिक सिद्धान्त और उसकी व्यवस्था

अध्याय–३

महायान सूत्र और नागार्जुन का दर्शन

वेदो उपनिषदो तथा भगवान बुद्ध के मूल वचन (त्रिपिटक) मे नागार्जुन के दर्शन का मूल स्रोत खोजने के बाद अब हम महायान के वैपुल्य सूत्रो (नौधर्म) प्रज्ञापारमिताओ तथा अन्य महायान मूत्रो मे निरुपित शून्यवाद का विवेचन करेगे। किन्तु इसके पूर्व महायान सूत्रो के विपुल साहित्य का सक्षिप्त परिचय आवश्यक है। महायान धर्म की मूल शिक्षाए सूत्र ग्रथो मे सगृहीत है। इन्हे महायान सूत्र और वैपुल्यसूत्र भी कहते है। इनमे से निम्नलिखित ६ सूत्र ग्रथ अत्यधिक प्रसिद्ध है। इन्हे नौ धर्म भी कहते है। ये नौ ग्रथ है १ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता २ गण्डव्यूह ३ दशभूमीश्वर ४ सभाधिराज ५ लकावतार ६ सद्धर्मपुण्डरीक ७ तथागतगुह्यक ८ ललितविस्तर और ६ सुवर्णप्रभास।[1]

चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिक कारिका की अपनी प्रसन्नपदा नामक टीका मे उपर्युक्त सूत्रो के अतिरिक्त कुछ अन्य सूत्र ग्रथो से भी उद्धरण दिये है जिनमे प्रमुख ये है। शत साहस्रिका प्रज्ञापारमिता गगनगज दृढाध्याशयसञ्चोदनासूत्र ध्यायितमुष्ट सूत्र पितापुत्र समागम सूत्र महायान सूत्र मारदमन–सूत्र रत्नकूट सूत्र राष्ट्र पालपरिपृच्छा सूत्र बज्रच्छेदिका सूत्र विमल कीर्ति निर्देश सूत्र शालिस्तम्बसूत्र समाधि सूत्र सुखावती व्यूह सूत्र अमितायुर्ध्यान सूत्र हस्तिकारण्य सूत्र इत्यादि।[2]

महायान सूत्रो की सख्या

महायानी सूत्र साहित्य की परम्परा बहुत लम्बी है। नन्जियो की सूची मे सूत्रकाण्ड (सूत्र पिटक) के अन्तर्गत ५४१ महायान सूत्रो का उल्लेख है। इन सूत्रो को ७ प्रकारो मे विभक्त किया गया है– (१) प्रज्ञापारमिता (२) रत्नकूट जिसमे सुखावती व्यूह भी है (३) महासन्निपात (चन्द्रगर्भादि) (४) अवतसक (५) परिनिर्वाण (६)विविधअनूदित सूत्र–सद्धर्म पुण्डरीकादि और (७) सकृदअनूदित सूत्र– महावैरोचन आदि। यहॉ दीर्घ निकाय के ब्रह्मजाल सुत्त से भिन्न ब्रह्मजालसूत्र का उल्लेख है।[3]

शिक्षा समुच्चय मे उद्धत महायान सूत्रो की सूची निम्नवत है–[४]

अक्षयमतिसूत्र

अजुलिमालिक

अध्याशय सचोदन सूत्र

अनन्तमुखर्निहारधारिणी

अपूर्वसमुद्गत परिवर्त (सूत्र?)

अपारा जाव वादक सूत्र

अवलोकना सूत्र

अवलोकितेश्वरविमोक्ष

आकाशगर्भ सूत्र

आर्य सत्यक परिवर्त (सूत्र?)

उग्रपरिपृच्छा या उग्र दत्त परिपृच्छा

उदयनवत्सराज परिपृच्छा

उपायकौशलय सूत्र

उपालिपरिपृच्छा

कर्मावरण विशुद्धि सूत्र

कामापवादक सूत्र

काश्यपपरिवर्त

क्षिति गर्भ सूत्र

गगन गज सूत्र

गण्डव्यूह

गोचर परिशुद्धि सूत्र

चतु धर्मक सूत्र

चन्द्र प्रदीप सूत्र

चन्द्रोत्तरादारिकापरिपृच्छा

चन्द्र धारणी

जम्भश्रस्तोत्र

ज्ञानवर्तीस्तोत्र

ज्ञानवर्ती परिवर्त

ज्ञान वैपुल्य सूत्र

तथागत कोश सूत्र

तथागत गुह्यक सूत्र

तथागत बिम्ब परिवर्त

भिसमयराज

भिस्कन्धक

दशधर्म सूत्र

दशभूमिक सूत्र

दिव्यावदान

धर्म सगीति सूत्र

नारायण परिपृच्छा

नियतानियतावतारमुद्रा सूत्र

निर्वाण (सूत्र?)

पिता–पुत्र समागम

पुष्प कूट धारणी

प्रज्ञापारमिता– महती अष्ट

साहस्त्रिका

प्रव्रज्यान्तराय सूत्र

प्रशान्त विनिश्चयप्रतिहार्य सूत्र

प्रतिमोक्ष

वृहत्सागरनाग राजपरिपृच्छा

बोधि चर्यावतार

बोधिसत्वप्रतिमोक्ष

बुद्ध परिपृच्छा

भगवती

भद्रकल्पित सूत्र

भद्रचरी प्राणिधानराज

भिक्षुप्रकीर्णक

भैषज्य गुरूवैदूर्यप्रभसूत्र

मञ्जुश्री बुद्ध क्षेत्र गुण व्यूहालकार सूत्र

मञ्जुश्री विक्रीडित सूत्र

महा करुणापुण्डरीक सूत्र

महामेघ

महावस्तु

मारीची

मालासिहनाद

मैत्रेयीविमोक्ष

रत्नकाण्ड सूत्र

रत्नकूट

रत्नचूड सूत्र

रत्नमेघ

रत्नराशि सूत्र

रत्नोलका धारणी

राजाव वादक सूत्र

राष्ट्रपाल परिपृच्छा सूत्र

लकावतार सूत्र

ललित विस्तर

लोकनाथ व्याकरण

लोकोत्तर परिवर्त

वज्रच्छेदिका

वज्रध्वज परिणामना

वाचनोपासिकाविमोक्ष

विद्याधापिटक

विमल कीर्ति निर्देश

वीरस्त परिपृच्छा

शालिस्तम्ब सूत्र

शूरगम सूत्र

श्रद्धाबलावानावतार मुद्रासूत्र

श्रावक विनय

श्री मालासिहनाद सूत्र

सद्धर्म पुण्डरीक

सद्धर्म स्मृत्युपस्थान

सप्तमैथुनसयुक्त सूत्र

समाधिराज (चन्द्र प्रदीप)

सर्वधर्मवैपुल्य सग्रह सूत्र

सर्वधर्मा प्रवृत्तिनिर्देश

सर्ववज्रधरमन्त्र

सागरमतिपरिपृच्छा

सिह परिपृच्छा

सुवर्ण प्रभासोत्तमसूत्र

हस्तिकक्ष्य सूत्र[५]

महाव्युत्पत्ति की सूची मे त्रिपिटक सूत्र अभिधर्म विनय आदि नाम हीनयान के साहित्य का सकेत करते है। हीनयानी ग्रन्थो को छोडकर इस सूची मे निम्नलिखित ग्रन्थ है।

(१)	शतसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता	(२)	पचविशति साहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता
(३)	अष्ट साहस्त्रिका	(४)	सप्तशतिकाप्रज्ञापारमिता
(५)	पचशतिकाप्रज्ञापारमिता	(६)	त्रिशतिका प्रज्ञापारमिता
(७)	अवतसक	(८)	बोधिसत्त्वपिटक
(९)	ललित विस्तर	(१०)	समाधिराज
(११)	पितापुत्र समागम	(१२)	लोकोत्तर परिवर्तन
(१३)	सद्धर्मपुण्डरीक	(१४)	गगनगज
(१५)	रत्नमेघ	(१६)	लकावतार
(१७)	सुवर्णप्रभास	(१८)	विमलकीर्ति निर्देश
(१९)	गण्डव्यूह	(२०)	धनव्यूह
(२१)	आकाश गर्भ	(२२)	अक्षमितिनिर्देश
(२३)	उपायकौशल्य	(२४)	धर्मसगीति
(२५)	सुविक्रान्त विक्रामी	(२६)	महा करुणापुण्डरीक
(२७)	रत्नकेतु	(२८)	दशभूमिक
(२९)	तथागत महाकरुणानिर्देश	(३०)	द्रुम किन्नरराज परिपृच्छा
(३१)	सूर्य गर्भ	(३२)	बुद्धभूमि
(३३)	तथागत चिन्त्य–गुह्यनिर्देश	(३४)	शुरगमसमाधि निर्देश
(३५)	सागरनागराजपरिपृच्छा	(३६)	अजात शत्रु कौकृत्य विनोदन
(३७)	सन्धिनिर्मोचन	(३८)	बुद्धसगीति
(३९)	राष्ट्रपाल परिपृच्छा	(४०)	सर्वधर्मा प्रवृत्तिनिर्देश
(४१)	रत्नचूडपरिपृच्छा	(४२)	रत्नकूट
(४३)	महायान प्रसाद प्रभावन	(४४)	महायानोपदेश

(४५)	आर्यब्रह्म विशेषचिन्तापरिपृच्छा	(४६)	पारमार्थ सवृत्ति सत्य निर्देश
(४७)	मञ्जुश्री विहार	(४८)	महापरिनिर्वाण
(४६)	अवैवर्तचक्र	(५०)	कर्म विभाग
(५१)	रत्नलोका	(५२)	गोचर परिशुद्ध
(५३)	प्रशान्त विनिश्चयप्राति हार्ज निर्देश	(५४)	तथागतोत्पत्ति–सभवनिर्देश
(५५)	भव सक्रान्ति	(५६)	परमार्थ धर्मविजय
(५७)	मञ्जुश्री बुद्धक्षेत्रगण्डव्यूह	(५८)	बोधिपक्ष निर्देश
(५६)	कर्मावरण प्रति प्रस्रब्धि	(६०)	त्रिकन्धक
(६१)	सर्ववैदत्य सग्रह	(६२)	सचारसूत्र
(६३)	तथागत ज्ञानमुद्रासमाधि	(६४)	वज्र मेरू शिखर कुशमार धारणी
(६५)	अकेकलप्तनागराजपरिपृच्छा ज्ञानालोकालकार	(६६)	सर्वबुद्धविषयावतार
(६७)	सुबहपरीक्षा	(६८)	सिहपरिपृच्छा
(६६)	महासाहान प्रभर्दन	(७०)	उग्रपरिपृच्छा
(७१)	श्रद्धाबलाधार	(७२)	अगुलिमालीय
(७३)	हस्तिकक्ष्य	(७४)	अक्षयमति परिपृच्छा
(७५)	महास्मृत्युपस्थान	(७६)	शालिस्तम्बर
(७७)	मैत्तीव्याकरण	(७८)	मैषज्यगुरू वैदूर्यप्रभ
(७६)	अर्थविनश्च्य	(८०)	महाबलसूत्र
(८१)	बीरस्तग्रहपतिपरिपृच्छा	(८२)	रत्नकखण्डक
(८३)	विकुर्ण वाणराज परिपृच्छा	(८४)	घ्वजाग्रकेरा
(८५)	सद्विद्विसाहसिका	(८६)	अल्परक्षस
(८७)	एकाक्षरी		

शिक्षा समुच्चय और महाव्युत्पत्ति मे दी गई सूत्रो की सूची मे पर्याप्त समानता है। महाव्युत्पत्ति मे उल्लिखित सूत्रो मे निम्न लिखित है—

(१) शत साहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता (२) पचविशति साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता (३) सप्तशतिका प्रज्ञा पारमिता (४) त्रिशतिका प्रज्ञापारमिता (५) धन व्यूह (६) सुविक्रान्त विक्रामी (७) रत्नकेतु (८) तथागत महाकरुणा निर्देश (६) द्रुम किन्नर राजपरिपृच्छा (१०) सूर्यगर्भ (११) बुद्धभूमि (१२) तथागत गुह्य चिन्त्य निर्देश (१३) सागर नागराज परिपृच्छा (१४) अजातशत्रु कौकृत्य विनोदन (१५) सन्धिर्निमोचन (१६) बुद्ध सगीति (१७) महायान प्रसाद प्रभावन (१८) महायानोपदेश (१६) आर्यब्रह्मविशेष चिन्ता परिपृच्छा (२०) परमार्थ सवृति सत्य निर्देश (२१) मञ्जु—श्रीविहार (२२) महापरिनिर्वाण (२३) अवैवर्तचक्र (२४) कर्म विभग (२५) तथागतोत्पत्ति सभव निर्देश (२६) भवसक्रान्ति (२७) परमार्थधर्म विजय (२८) बोधिपक्ष निर्देश (२६) सर्ववैदत्य सग्रह (३०) सघाट सूत्र (३१) तथागतज्ञान मुद्रा समाधि (३२) वज्रमेरू शिखर (३३) कूटागार धारिणी (३४) अनवतत्सनागराजपरिपृच्छा (३५) महासाहसप्रमर्दन (३६) महास्मृत्युपस्थान (४०) मैत्रीव्याकरण (४१) अर्थविनिश्चय (४२) महाबलसूत्र (४३) विक्रर्वाण राज परिपृच्छा तथा (४४) ध्वजाग्रकेयूर।[६]

महायान साहित्य का ऊपर किञ्चित दिग्दर्शन कराया गया है किन्तु इसकी वास्तविक विपुलता चीनी और तिब्बती त्रिपिटको तथा चीनी और तिब्बती यात्रियो एव इतिहासकारो की कृतियो को देखने से विदित होती है।[७]

महायान सूत्रो का रचना काल साधारण रूप मे ई० पू० पहली शती से लेकर चौथी शती तक मानना चाहिए। यद्यपि ये सूत्र कहे जाते है तथापि शैली मे पुराणो के निकट है। विस्तार से प्रतिपादन तथा एक ही बात को बार—बार दोहराना इनकी विशेषता है सब प्रकार की अतिशयोक्ति भी इन ग्रथो मे पर्याप्त मात्रा मे पायी जाती है। बहुधा दीर्घसमासो का प्रयोग भी प्राप्त होता है। पिछले हीनयानपिटक का ज्ञान भी इनमे उपलब्ध है। प्राय हीनयान सम्मत नाना धर्मो की अपार मार्मिकता का प्रतिपादन है। इन गन्थो का लक्ष्य है जिसके साथ शून्यता का प्रतिपादन तथा बुद्ध और बोधिसत्वो की अलौकिक महिमा का गायन जुडे हुए है।

महायान की विशेषताएँ

असग ने अपने महायानअभिधर्मसगीतिशास्त्रों[८] मे महायान की सात विशेषताओ का उल्लेख किया है। आधुनिक विद्वानो ने हीनयान और महायान के भेद को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

(१) व्यापकता– हीनयान गौतम बुद्ध की शिक्षाओ तक ही सीमित है किन्तु महायान का जहॉ तक सम्बन्ध है वर्धमान कन्फयूसियस लाओजो शिण्टो मूसा जरथ्रुस्ट सुकरात ईसा और मोहम्मद आदि सभी धर्म–प्रवर्त्तको और महात्माओ की शिक्षा मे बुद्ध की शिक्षा के दर्शन होते है।

(२) प्राणिमात्र के लिए करुणा– हीनयान का लक्ष्य व्यक्ति का निर्वाण मात्र है। किन्तु महायान विश्व के निर्वाण के लिए प्रयत्नशील है। उसके अनुसार अर्हत का पद निर्वाण और तज्जन्य सुख तो मार का प्रलोभन मात्र है।[1]

(३) पुद्‌गलनैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य– हीनयान केवल पुद्‌गल नैरात्म्य मे विश्वास करता है। किन्तु महायान पुद्‌गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य दोनो मे विश्वास करता है। उसके अनुसार आत्मा और धर्म कुछ भी नही है।

(४) अद्‌भुत आध्यात्मिक शक्ति– बोधिसत्व प्राणियो के निर्वाण के लिए कभी भी थकावट या निराशा का अनुभव नही करता भले ही उसे इस लक्ष्य की प्राप्ति मे अनन्त काल लग जाये।

(५) उपाय कौशल्य– बोधिसत्व का लक्ष्य प्राणिमात्र को निर्वाण के शाश्वत आनन्द की अनुभूति कराना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह असख्य उपायो को काम मे लाता है। वह प्रत्येक व्यक्ति के निर्वाण के लिए उसी उपाय को काम मे लाता है जो उसकी परिस्थिति और बौद्धिक क्षमता मे सबसे अधिक अनुकूल होता है।

(६) उच्चतर आध्यात्मिक उपलब्धि– हीनयान मे साधक की सर्वोच्च उपलब्धि अर्हन का पद है। किन्तु महायान मे साधक बुद्धत्व को प्राप्त करता है।

(७) वृहत्तर क्रिया– बुद्धत्व की अवस्था प्राप्त करने पर बोधिसत्व ब्रह्माण्ड की दसो दिशाओ मे प्रत्येक स्थल पर अपने को प्रकट कर सकता है। वह प्राणियो की आध्यात्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर उन्हे निर्वाण का अमृत पद प्राप्त करा सकता है।

प्रो० बी० एल० सुजुकी ने हीनयान और महायान का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है

(१) बुद्धत्व की व्याख्या– हीनयान मे बुद्ध एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं किन्तु महायान मे वे एक तात्विक एव आध्यात्मिक सत्ता है।

(२) महायान मे प्रत्येक व्यक्ति बुद्धत्व की प्राप्ति का अधिकारी है क्योकि कि सभी मे बुद्धत्व सहज रूप से विद्यमान है और सभी मे बोधिप्राप्ति की उत्कठा है। किन्तु हीनयान के अनुसार बुद्धत्व सबमे नही है। अष्टाग मार्ग की साधना कर लोग इसे अर्जित कर सकते है।

(३) सामान्य व्यक्ति की स्थिति– हीनयान मे गृहस्थ और भिक्षु मे काफी अतर है किन्तु महायान मे यह अन्तर काफी कम हो गया है।

(४) निर्वाण के अर्थ मे भेद– हीनयान के अनुसार यह शान्ति या पूर्ण विराम की अवस्था है। यह एक गुण है जिसकी अष्टाग मार्ग द्वारा प्राप्ति होती है। महायान के अनुसार ससार और निर्वाण मे तनिक भी भेद नही है। प्रज्ञा पारमिता की आराधना कर हमे ससार और निर्वाण के भेद की एकरूपता को समझना है।[११]

(५) कर्म तथा परिवर्तन का सिद्धान्त– हीनयान मे प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुभ अशुभ कर्मो का फल भोगना पडेगा। उससे उसे कोई बचा नही सकता। किन्तु महायान मे बुद्ध करुणा करके दु ख सन्तप्त व्यक्ति को अपने शुभ कर्मो का फल प्रदान कर दु ख से मुक्त कर सकते है।

सक्षेप मे महायान और हीनयान के अन्तर को इस प्रकार रखा जा सकता है।

असग ने आशय उपदेश प्रयोग उपस्तम्भ एव काल के रूप मे दोनो सम्प्रदायो मे निम्न लिखित अन्तर स्पष्ट किया है–

(१) हीनयान मे पुद्गल नैरात्म्य के चिन्तन के माध्यम से क्लेशावरण का विनाश किया जाता है परन्तु महायान मे धर्म नैरात्म्य के ज्ञान से ज्ञेयावरण का विनाश होता है।

(२) हीनयान का उपदेश सर्वप्रथम मृगदाव (वाराणसी) मे पचवर्गीय भिक्षुओ के सम्मुख दिया गया और महायान का उपदेश अनन्त बोधिसत्वो के समक्ष गृद्धकूट पर्वत पर दिया गया।

(३) महायान मे बोधिसत्व समस्त ससार के निर्वाण प्राप्त होने के बाद ही स्वय निर्वाण प्राप्ति स्वीकार करते है पर यह विचार हीनयान मे नही है।

(४) महायान के अनुसार बुद्ध देशना की गुह्य तथा व्यक्त।

(५) महायानी साहित्य मे कल्पना और अतिशयोक्ति का आधिक्य अधिक है।

(६) महायानी बुद्ध अधिक लोकोत्तर है।

(७) बुद्ध ने साधारण और सरल उपदेश हीनयानियो को तथा कठिन उपदेश महायानियो को दिया। हीनयानियो को नेयार्थ का उपदेश तथा महायानियो को नीतार्थका।

(८) परमार्थत यानो मे भेद नही है। एकात्मक होकर वह एक यान मे समाहित हो जाता है।

(९) परावृत्ति योग महायान की विशेषता है।

(१०) महायान की शिक्षा दो सत्यो पर आधारित है (१) सवृत्ति सत्य (२) परमार्थ सत्य।

(११) मूलत दो काय थे– १– रूपकाय (भौतिक–शरीर) तथा धर्मकाय (आध्यात्मिक शरीर)

महायान मे सभोगकाय और निर्माणकाय (अवतारवाद) पर अधिक बल दिया गया।

(१२) हीनयान का आदर्श अर्हत्व प्राप्ति थी पर महायान का आदर्श बोधिसत्व हो गया तथा अष्टागिक मार्ग के स्थान पर बोधिसत्वचर्या का विकास हुआ।

हीनयान और महायान की विशेषताओ का किचिद् और अधिक विस्तृत विवेचन आवश्यक है जो इस प्रकार है–

हीनयान	महायान
(१) बहुधर्मवाद	(१) अद्वयवादी
(२) सस्कृत धर्मवस्तुसत् है	(२) सस्कृत धर्म (परापेक्ष) होने के कारण स्वभाव–शून्य है।
(३) अवयवी (राशि) प्रज्ञप्तिसत् है	(३) धर्मशून्य है और केवल धर्मता (धर्मकाय)वस्तुसत् है। और केवल धर्म वस्तु है न कि धर्मी।
(४) पुद्गल नैरात्म्य है। केवल सस्कार अहम् है	(४) धर्मनैरात्म्य और पुद्गल नैरात्म्य है और धर्मकाय है।
(५) धर्म सस्कृत और असस्कृत मे विभक्त है और दोनो वस्तुसत् है।	(५) सस्कृत धर्म और असस्कृत धर्म कोई नही है। दोनो शून्यता के अधीन है।
(६) सस्कृत वस्तु प्रतीत्यसमुत्पन्न है।	(६) निरपेक्ष ही वस्तु है परापेक्ष नही।
(७) प्रतीत्य समुत्पादवाद है	(७) शून्यता धर्म समानार्थक है।
(८) परिनिर्वृत्त तथागत नित्य और अचेतन वस्तु है।	(८) तथागत स्वभावत नही धर्मत है।

(९) निर्वाण सत्य नित्य दु खाभाव तथा पवित्र है।	(९) निर्वाण सुखात्मक तथा अनिवर्चनीय है।
(१०) निर्वाण प्राप्त (उपलभ्य) है	(१०) निर्वाण अप्राप्त है।
(११) निर्वाण लोकोत्तर दशा है।	(११) निर्वाण लोकोत्तरतम दशा है।
(१२) विमुक्ति काय प्राप्त करते है	(१२) धर्मकाय और सर्वज्ञत्व प्राप्त करते है।
(१३) निर्वाण के दो रूप है— (१) सोपधिशेष(प्रतिसख्या निरोध) (२) निरुपधिशेष (अप्रतिसख्यानिरोध)	(१३) निर्वाण के चार रूप है— (१) सोपधिशेष (२) निरुपधिशेष (३) प्रकृतिशुद्ध और (४) अप्रतिष्ठित
(१४) निर्वाण और ससार मे भेद है— अर्थात् धर्मसमता नही है।	(१४) निर्वाण और ससार मे अभेद है अर्थात धर्म समता है।
(१५) पदार्थ सत् है	(१५) पदार्थ का प्रपचमायिक तथा मिथ्या है।
(१६) क्लेशावरण की मुक्ति से निर्वाण मिलता है।	(१६) निर्वाण के लिए क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण दोनो से मुक्ति आवश्यक है।

महायानसूत्र साहित्य के विशाल वाडमय के सिहावलोकन तथा महायान की विशेषताओ के विवेचन के अनन्तर अब हम नागार्जुन के दार्शनिक सिद्धान्तो का विश्लेषण करेगे जो नागार्जुन के पूर्व इन ग्रन्थो मे प्रतिपादित है।

प्रज्ञापारमितासूत्रो मे शून्यता अथवा नैरात्म्य की उस मूल धारणा का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है जो हीनयान साहित्य मे सूक्ष्मरूप मे निदर्शित है। किसी भी पदार्थ का अपना कोई स्वभाव नही है। यह स्वभावशून्यता ही वास्तविक शून्यता अथवा नैरात्मय है। इस अर्थ—विस्तार से न केवल जीव अथवा आत्मा का लोप हो जाता है अपितु समस्त पदार्थो का भी। अतएव इसे धर्मनैरात्म्य भी कहा जाता है। जहॉ प्रज्ञापारमिता—सूत्रो मे एक ओर अभावात्मक शून्यता का यह सर्वग्राही विराट रूप प्रदर्शित है वही दूसरी ओर शून्यता को प्रज्ञापारमिता से अभिन्न प्रतिपादित किया गया है। प्रज्ञापारमिता वस्तुत निर्विकल्प साक्षात्कारात्मक ज्ञान है जिसमे समस्त भेद द्वैत प्रमेयता एव अभिधेयता प्रलीन हो जाती है। निर्विकल्पे नमस्तुभ्य प्रज्ञापारमितेऽमिते।[१२]

अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता मे हम इस विचारधारा का स्पष्ट और विस्तृत विवेचन पाते है। सुभूति कहते है कि तमप्यह भगवन धर्म्म न समनुपश्यामि यदुत प्रज्ञापारमिता नाम।[93] सुभूति का आशय यह है कि अस्तित्व एव नास्तित्व पारमार्थिक बोध के बहिर्भूत है। वस्तुत बोधिचित्त अचित्त ही है। इस अचित्त–चित्त मे अस्तिता एव नास्तिता की उपलब्धि नहीं होती। यह अचित्तता निर्विकार एव निर्विकल्प है। यही वास्तविक प्रज्ञापारमिता है। इसके विपरीत अविद्या है जो अविद्यमान धर्मो की ही सतत्व–कल्पना करती है। साधारण लोक अविद्या मे निमग्न है। वे अविद्यमान जगत की कल्पना कर अस्ति और नास्ति के दो अतो मे अभिनिविष्ट होते है और इस प्रकार ससारी बनते है। वस्तुत सब धर्म मायामात्र है। सब धर्मो की मायोपमता का यह सिद्धान्त अत्यत गभीर है तथा इससे नए बोधिसत्व तक उद्विग्न हो जाते है। शून्यता ही वास्तविक गभीरता है कोई भी पदार्थ वस्तुत उपलब्ध नहीं होता न वस्तुत उत्पन्न होता है न वस्तुत निरुद्ध होता है। केवल अज्ञानमुक्त चित्त मे ही नानात्व भासित होता है समस्त व्यावहारिक जगत् विकल्प–सापेक्ष विकल्पित है।

प्रज्ञापारमिता सूत्रो मे अनेक स्थलो पर १८ प्रकार की शून्यता का उल्लेख है– अध्यात्म–शून्यता वाहिर्धाशून्यता अध्यात्म–बहिर्धाशून्यता शून्यता–शून्यता महाशून्यता परमार्थ शून्यता सस्कृत–शून्यता असस्कृत–शून्यता अत्यन्त शून्यता स्वलक्षण–शून्यता अनवराग्र शून्यता अनवकार शून्यता प्रकृति–शून्यता सर्वधर्म–शून्यता अनुपलभ–शून्यता अभाव–शून्यता सर्वभाव–शून्यता एव अभाव–स्वभाव–शून्यता। यह स्पष्ट है कि शून्यता के ये नाना प्रकार शून्यता के अभ्यतर किसी प्रकार का वास्तविक वर्गीकरण उपस्थित नही करते। यदि शून्यता को केवल अभाव कहा जाय तो प्रश्न उठता है किसका अभाव? किन्तु माध्यमिको को न अभाव की पदार्थता स्वीकार्य है न भाव की। विभिन्न भाव–पदार्थो के अभाव को शून्यता कहने के साथ–साथ वे अभाव एव शून्यता की शून्यता का प्रतिपादन करते है तथा उसे शून्यता से अभिन्न मानते है।

प्रज्ञापारमिता सूत्रो मे शून्यता के सिद्धान्त का सुश्लिष्ट एव ताक्रिक प्रतिपादन नही किया गया है। अनन्त पुनरुक्ति के द्वारा हीनयान–समस्त विभिन्न धर्मो का मिथ्यात्व एव विकल्पग्राही चित्त की परमार्थ मे अनुपयोगिता वहाँ उद्घोषित की गयी है। इसीलिए सुभूति ने ऊपर उद्धृत उक्ति मे प्रज्ञापारमिता का भी अपलाप किया है। शून्यता सचमुच अग्निवत् सर्वग्रासिनी है यहाँ तक कि आत्मग्रासिनी भी और उसका निष्कर्ष मौन मे ही हो सकता है जैसा कि विमलकीर्ति सूत्र मे प्रतिपादित है जहाँ बोधिसत्व विमलकीर्ति ने मजुश्री आदि के द्वारा तत्वनिरूपण के आग्रह का उत्तर वज्र मौन के द्वारा दिया।

अन्य महायान सूत्र

जिस प्रकार उपनिषदो मे अथवा प्राचीन हीनयानी सूत्र साहित्य मे विविध दार्शनिक बीज उपलब्ध होते है उसी प्रकार महायान सूत्रो मे भी अनेक परवर्ती बौद्ध दार्शनिक परपराओ की मूल प्रेरणा देखी जा सकती है। इन सूत्रो के अनुसार बोद्धिसत्व को चाहिए कि वह हीनयान–प्रोक्त सब धर्मो मे नैरात्म्य अथवा शून्यता की भावना करे।[१४] इस प्रकार के उपदेश की दोहरी व्याख्या सभव हुई। प्रथम व्याख्या के अनुसार सभी प्रतीयमान पदार्थ अपारमार्थिक है। उनमे कोई स्थिर स्वभाव नही है। दूसरी ओर इसकी यह व्याख्या की गयी कि सब धर्म कल्पित और विकल्प सापेक्ष है। ये विकल्पात्मक चित्त की सृष्टि है। इसका कोई वास्तविक अस्तित्व नही। यदि किसी का वास्तविक अस्तित्व है तो वह चित्त का है। दूसरे शब्दो मे ससार असार है। चित्त ही एक मात्र सार या परम तत्व है।

लकावतार धनव्यूह सन्धिनिर्मोचन आदि सूत्रो मे इस चित्तवादी दूसरे पक्ष का न्यूनाधिक स्पष्टता से विवरण दिया गया है। पहले शून्यवादी पक्ष का नागार्जुन ने विस्तृत एव युक्ति युक्त प्रतिपादन किया। दूसरे योगाचार–विज्ञानवादी–पक्ष का विस्तार सर्वप्रथम मैत्रेयनाथ ने किया। इस प्रकार हम देखेगे कि शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनो का ही मूल एक है। तथा दोनो के परवर्ती आचार्यो ने इन दोनो विचारधाराओ के दार्शनिको द्वारा लिखे गए ग्रन्थो पर टीकाए लिखी है। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध माध्यमिक आचार्य आर्यदेव के चतु शतक को बोधिसत्त्व–योगाचार–शास्त्र कहा गया है। इस पर एक ओर आचार्य वसुबन्धु ने व्याख्या लिखी थी दूसरी ओर मैत्रेयनाथ ने नागार्जुन के भवसक्रान्ति पर व्याख्या लिखी तथा नागार्जुन से असग वसुबधु एव स्थिरमति मे उद्धरण पाए जाते है। यह भी उल्लेखनीय है कि परवर्ती काल मे माध्यमिक योगाचार एव सौत्रान्तिको के पारस्परिक प्रभाव से अनेक सकीर्ण मतो का आविर्भाव हुआ। उदाहरणार्थ शान्त–रक्षित को माध्यमिक भी कहा जा सकता है विज्ञानवादी भी। स्वय मैत्रेयनाथ की रचनाओ मे उत्तरतन्त्र को माध्यमिक–प्रासगिक तथा अभिसमयालकार को योगाचार–माध्यमिक–स्वातान्त्रिक कहा गया है। असग ने भी मध्यमक कारिकाओ पर मध्यमकानुसार नाम की व्याख्या लिखी जिसका गौतम–प्रज्ञारुचि ने चीनी मे अनुवाद किया। वस्तुत मैत्रेय तथा असग दोनो की रचनाओ मे शून्यवाद के अविरोध से योगाचार का प्रतिपादन किया गया है।[१५]

आज से प्राय ढाई सहस्र वर्ष पूर्व भारत मे उस विश्व विख्यात ज्योति–पुन्ज ज्ञान–सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ था जो ज्ञान करुणा प्रेम और त्याग का मूर्तिमान् स्वरूप था जिसका हृदय ससार के दुख और दयनीय दशा को देखकर द्रवीभूत हो गया था जिसने यह जाना कि विश्व के क्षणिक और दिखावटी सुख

का ऊपरी स्तर एक भयकर चिर–स्थायी सी वेदना पर टिका हुआ है जिसने यह अनुभव किया कि जगत की कृत्रिम स्मृतिरेखा के नीचे आधि–व्याधि जरा और मरण की भीषण व्यथा का उपहास निहित है। जिसने निरतर सत्य के शव पर मिथ्या का नर्तन देखते हुए भी टस से मस न होने वाले अज्ञानी जगत के आधि से क्षुब्ध होकर इस दु ख निरोध के मार्ग की खोज निकालने की दृढ प्रतिज्ञा की। जिसने उन्तीस वर्ष की भरी युवावस्था मे शाक्य साम्राज्य की समृद्धि और वैभव को ठुकरा दिया जिसने अपनी अनुपम सुदरी सुशीला और गुणवती गृहिणी के अनवद्य प्रेम की भी उपेक्षा कर दी और जिसे दम्पत्ति–स्नेह ग्रन्थि–भूत नवजात शिशु भी अभिनिष्क्रमण से न रोक सका जिसने जगत के तीन व्यापक और दृढतम कनक कामिनी और कीर्ति रूप बधनो की श्रृखलाओ को तोड फेका छ वर्षो के कठिन तप के पश्चात मार विजय करने वाले जिस दुर्बल और कृशकाय व्यक्ति ने एक दिन गया के समीप बोधिवृक्ष के नीचे लेटे लेटे अज्ञान के घने अधकार दूर करने वाले ज्ञानसूर्य का साक्षात्कार किया। जिसने फिर अपने साक्षात्कृत सत्य को–प्रतीत्यसमुत्पाद चार आर्य सत्य और आर्य अष्टागिक मार्ग को– बिना किसी जाति–पॉति रूप–रग स्त्री–पुरुष राजा–रक ऊँच–नीच छोटे–बडे धर्मो–विधर्मो आदि के भेद भाव के सब लोगो को सरल सुबोध भाषा मे समझाया और जिसे आज भी ससार श्रद्धा आदर और गौरव के साथ भगवान बुद्ध के नाम से स्मरण करता है। बुद्ध स्वय ज्ञानी थे और उन्होने ज्ञान का साग्रह प्रतिपादन किया। ससार का अर्थ भवचक्र या आवागमन है। यह क्षणिक और दु खमय है। अविद्या ससार की जननी है और सब दु खो का मूल कारण है। निर्वाण या मुक्ति का अर्थ इस भवचक्र से इस आवागमन के चक्र से इस प्रतीत्यसमुत्पाद के चक्र से मुक्त होना है। बुद्ध इस शब्द का अर्थ है– ज्ञानवान। भगवान बुद्ध की प्रसिद्ध उक्ति है– हे भिक्षुगण! जिस प्रकार लोग सोने को अग्नि मे तपाकर कसौटी मे कसकर और अच्छी तरह ठोक–पीटकर पूर्ण परीक्षा करने के बाद उसे खरा मानते है उसी प्रकार आप लोग मेरे वचनो को ज्ञानाग्नि मे तपाकर बुद्धिरूपी कसौटी मे कसकर तथा उनकी हर प्रकार पूर्ण परीक्षा करके ही उन्हे ग्रहण करना केवल मेरे प्रति आदर और श्रद्धा के कारण ही उन्हे सत्य मत मानना।"[६]

भगवान बुद्ध के अनुसार ज्ञान की तीन श्रेणियॉ है। प्रथम और सबसे नीची श्रेणी पर ज्ञान का नाम दिटठी अर्थात् दृष्टि कहा जाता है। यह साधारण काम चलाऊऊॅ व्यवहार ज्ञान है। जब यह ज्ञान साधारण श्रेणी से ऊँचा उठता है और द्वितीय श्रेणी पर पहुँचता है तो इसे तक्क वितक्क या विचार कहते है। यह ज्ञान वैज्ञानिक और दार्शनिक है। तृतीय श्रेणी मे जाकर ज्ञान सर्वोच्च तथा पूर्ण विकसित हो जाता है। यह अत्यत विशुद्ध स्वप्रकाश पूर्ण ज्ञान प्रज्ञा या बोधि कहलाता है। यही सत्य है और यही परम तत्व है। यही तक्र की सविकल्प और सापेक्ष सीमा को लॉघकर चमकने वाला निर्विकल्प और निरपेक्ष ज्ञान है।

महायान को सम्प्रदाय एव सुसम्बद्ध मत का रूप देने वाले प्रथम आचार्य अश्वघोष है। वे शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनो के ही जनक है। उनके महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र[10] मे दोनो सम्प्रदायो के मूलभूत सिद्धान्तो का सम्यग् रूप से निरूपण है। कुछ विद्वान अश्वघोष को हीनयान सम्प्रदाय का आचार्य मानते है। उनके मत से सौन्दरनन्द और बुद्ध चरित मे हीनयान का प्रतिपादन है। किन्तु ये विद्वान इस बात को भूल जाते है कि अश्वघोष महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र के भी लेखक है। यह सत्य है कि सौन्दरनन्द और बुद्ध चरित मे हीनयान के कुछ सिद्धान्तो का प्रतिपादन है किन्तु साथ ही हमे इन ग्रथो मे महायान की झलक भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अश्वघोष बुद्ध को महायान के अनुसार स्वयभू, जगत्पति महायान समाश्रित सर्वधर्माधिप तथा सर्वलोकधिप प्रभु मानते है।[1] बुद्ध चरित मे वे स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि– इस उत्कृष्ट महायान धर्म का सब लोगो के कल्याण के लिए सब बुद्धो ने प्रचार किया है।[1] अत यह सिद्ध होता है कि अश्वघोष प्रारभ मे हीनयानी थे और हीनयान से असतुष्ट होकर वे महायान की ओर झुके। उनके समय मे महायान के कुछ मूलसूत्रग्रथ वैपुल्यसूत्र है विद्यमान थे। इनसे प्रभावित होकर अश्वघोष ने महायान स्वीकार किया और इन सूत्र ग्रथो मे प्रतिपादित महायान को सुसबद्ध मत का रूप देने के लिए महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र लिखा। वह शास्त्र सौन्दरनन्द और बुद्धचरित के बाद की कृति है। इसी शास्त्र के कारण हम अश्वघोष को महायान को सुसबद्ध मत का रूप देने वाला प्रथम आचार्य मानते है। स्वय अश्वघोष ही इस ग्रथ के प्रारभ मे कहते है कि बुद्ध निर्वाण के पश्चात् उनके उपाय कौशल्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धातो के वास्तविक अर्थ को समझने वाले व्यक्ति बहुत कम थे। अधिकाश लोगो ने बुद्धोपदेश को अन्यथा समझा। अतएव प्रस्तुत शास्त्र का उद्देश्य पृथग्जनो एव हीनयानी श्रावको तथा प्रत्येक बुद्धो के विपरीत मतो को दूर करके तथागत द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तो के वास्तविक अर्थ को खोलना है।[2]

आचार्य अश्वघोष के अनुसार आदि तत्व तथता है। यह निर्विकार और सदा एक सा रहता है। सत्ता की दृष्टि से इस तथता को भूत–तथता कहते है। आनद की दृष्टि से तथागतगर्भ । बोध की दृष्टि से बोधि प्रज्ञा या आलय विज्ञान और व्यापकता की दृष्टि से धर्मकाय या धर्मधातु । व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर यही ससार या जन्ममृत्यु चक्र है पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर यही निर्वाण और अनन्त आनन्द है। यह वास्तव मे अनिर्वचनीय है क्योकि वाणी और बुद्धि की पहुँच के बाहर है। यह न सत है। न असत् न सदसत भिन्न यह न एक है न अनेक न एकानेक न एकानेक भिन्न यह न शून्य है न अशून्य न शून्याशून्य न शून्याशून्यभिन्न। तत्व अनिर्वचनीय होते हुए भी स्वय अभावात्मक या असद्रूप नही है क्योकि अनुभव का विषय

है। विश्व अनिर्वचनीय होने से मिथ्या है किन्तु असद्रूप नही क्योकि व्यवहार मे सत्य है। विश्व का पारमार्थिक मिथ्यात्व ही इसके व्यावहारिक सत्यत्व को सिद्ध करता है। जगत की प्रत्येक वस्तु सापेक्ष और सविकल्प है। कारण से कार्य होता है इसके होने पर यह होता है। इस परस्पर सभवन और अन्योन्यापेक्षा को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते है। यह अविद्या पर निर्भर है। अविद्या और उसके कार्य सब मिथ्या है। अत जगत मिथ्या है। केवल इसका आधारभूत तत्व ही सत्य है।

तत्व बुद्धिग्राह्य नही। जब कोई पुरुष बुद्धि की सीमा को लॉघकर आगे बढता है तो वह बुद्ध–ज्ञान की ओर अग्रसर होता है।[२१] किन्तु साथ ही साथ ज्ञान बुद्धि का विनाश नही है। बुद्धि की सहायता से ही हम ज्ञान की ओर बढ सकते है। यदि हम बुद्धि का गला घोट दे तो ज्ञान का द्वार हमारे लिए सदा बद रहेगा।[२२] स्वय ज्ञान ही अविद्या के कारण बुद्धि रूप से भासित होता है। स्वय तत्त्व ही अविद्या के कारण ससार रूप से भासित होता है। अश्वघोष कहते है कि जिस प्रकार समुद्र का शान्त जल वायु की उपाधि के कारण अनेक तरगो के रूप मे प्रतीत होता है उसी प्रकार विशुद्ध ज्ञानरूप तत्व अविद्या के कारण अनेक परिमित बुद्धि वाले व्यवच्छिन्न जीवो के रूप मे भासित होता है।[२३] जिस प्रकार मृत्तिका उपाधि भेद से नाना प्रकार के घर कलशादि रूपो मे भासित होती है उसी प्रकार विशुद्ध ज्ञानरूप तत्व उपाधि भेद से अनेक जीवो के रूप मे भासित होता है।[२४] मूलतत्व भूततथता वास्तव मे निर्विकल्प निर्विकार और निरूपाधि है। अविद्यामिश्रित होते ही यह भूततथता सविकल्प और सोपाधितथता के रूप मे प्रतिभाषित होती है। विषयी जीव और विष जगत के रूप मे भासित यह सपूर्ण ससार इसी सोपाधितथता की लीला है।[२५] जब ज्ञान प्राप्त होता है तब यह अनुभव हो जाता है कि बुद्धियुक्त विषयी जीव और विषय जगत वास्तव मे निरूपाधि भूततथता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही बुद्ध–ज्ञान है। यही परमानद है। यही अमृत रूप तत्व है। इसका साक्षात्कार ही जीवन का परमार्थ है। यही परम धर्म है। इसी तत्व को अश्वघोष शान्त शिव नैष्ठिक और अच्युत पद कहते है।[२६] बुद्ध रूपी ज्ञान सूर्य जगत के मोहान्धकार को नष्ट करने के लिए उदित होते है।[२७] जीवन मुक्त बोधिसत्व शान्त और शिव धर्म का साक्षात्कार करके नैष्ठिक और अच्युत पद प्राप्त कर लेता है। उसके लिए कोई कर्त्तव्य कार्य शेष नही रहता तथापि यह दयालु अपनी मुक्ति की कामना न करता हुआ लोकसग्रह के लिए दु खी और अज्ञानी प्राणियो की मुक्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है।[२]

महायान सप्रदाय के किसी भी मत का कोई भी मुख्य सिद्धान्त ऐसा नहीं है जो बीज रूप से आचार्य अश्वघोष के दर्शन मे न मिल सके। ससार व्यवहारतया सत्य होते हुए भी परमार्थतया मिथ्या है क्योकि बुद्धि द्वारा न यह सत् सिद्ध किया जा सकता है न – असत न उभय न नोभय तथा तत्व भी बुद्धि द्वारा

पूर्णतया प्रतिपादित न होने के कारण बुद्धि की शून्य अशून्य शून्याशून्य और शून्याशून्य भिन्न रूपी चार कोटियो द्वारा ग्राह्य न होने के कारण चतुष्कोटिविनिर्मुक्त और अनिर्वचनीय है तथा केवल स्वानुभूति का विषय है–यह सिद्धान्त शून्यवाद या माध्यमिक सप्रदाय द्वारा विकसित किया गया है और तत्व विशुद्ध विज्ञान स्वरूप है– यह सिद्धान्त विज्ञानवाद या योगाचार सम्प्रदाय द्वारा विकसित किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट रूप से हम निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अश्वघोष पर उपनिषद् और वेदान्त का कितना गहरा प्रभाव है। समुद्र और तरगो का मृत्तिका और घटाादिको का उदाहरण नामरूपमय जगत की पारमार्थिक सत्ता का खण्डन तथा उसकी व्यावहारिक सत्ता का प्रतिपादन तत्व को विशुद्ध ज्ञानस्वरूप और अनिर्वचनीय मानना एव विषयी जीव और विषय जगत को वास्तविक दृष्टि से निरुपाधि तथता अर्थात निर्गुण ब्रह्म मानना आदि सिद्धान्त उपनिषद् सिद्धान्त तो ही है।[२६]

सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र की उक्ति है कि जो पुरुष यह नही जानते कि जगत का अर्थ अन्योन्यापेक्षा या परस्पर सभवन है जो प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ नही समझते वे मूर्ख जात्यन्धो की भॉति इस दु खमय आवागमन के चक्र मे घूमा करते है। जो यह जानते है कि सपूर्ण जगत पदार्थ व्यावहारिक और इसलिए स्वभाव शून्य है वे बुद्ध–ज्ञान या बोधि की ओर अग्रसर होते है। जो सपूर्ण धर्मो को अर्थात् विषयी जीव और विषय जगत् के सपूर्ण बुद्धि ग्राह्य पदार्थो को माया और स्वप्न के समान मिथ्या कदली–स्कन्ध के समान नि सार प्रतिध्वनि के समान अलीक मानते है जो वास्वत मे सब पदार्थो बधमोक्षहीन मानते है जो यह जानते है कि पारमार्थिक दृष्टि से ससार और निर्वाण मे कोई अतर नही तथा इस दृष्टि से सब सम है सब निश्चित रूप से सर्वदा सम है। केवल समत्व का ही सार्वभौम साम्राज्य है वे भगवान बुद्ध द्वारा समबुद्ध शिव और अमृत रूप निर्वाण का साक्षात्कार करते है।[3]

अष्ट साहस्त्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र मे बारम्बार विशेष आग्रह के साथ यह प्रतिपादन किया गया है कि प्रत्येक बुद्धिगम्य पदार्थ तत्वचिन्ता के सम्मुख नही टिक सकता विचार के तीव्र आघातो को नही सह सकता खण्डन के तीव्र प्रहारो के आगे अपने अस्तित्व को स्थिर नही रख सकता। किसी भी बुद्धि गम्य वस्तु को तत्व मानते ही उसकी नैसर्गिक आपेक्षित स्थिति स्वय ही अतर्निहित विरोध को जन्म देगी और यह विरोध उस वस्तु के सत्य कहलाने के दावे का गला घोट देगा। सत्य रूपी सिह चर्म पहनने वाला वह पदार्थ वास्तव मे मिथ्यारूपी गर्दभ निकलेगा। किसी भी वस्तु का बुद्धिगम्य होना ही उसके पारमार्थिक मिथ्यात्व का

द्योतक है। अत बुद्धिगम्य सब पदार्थ वास्तविक सत्ताशून्य अर्थात स्वभावशून्य है। उनकी सत्ता आपेक्षिकी है। स्कन्ध पुद्गल बोद्धिसत्व महायान प्रज्ञापारमिता यहॉ तक कि स्वय बुद्ध और निर्वाण भी जहॉ तक वे बुद्धिग्राह्य है– अत मे मिथ्या और स्वभावशून्य सिद्ध होते है। यदि निर्वाण से भी विशिष्ट कोई अन्य पदार्थ बुद्धि द्वारा सोचा जा सके तो वह भी मिथ्या ही होगा।[३१] बुद्धि द्वारा विवेचित सब पदार्थ स्वप्नवत प्रतिध्वनिवत प्रतिबिम्बवत मायावत स्वभावशून्य है।[३२]

इसी प्रकार शतसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र भी सब धर्मो को सब बुद्धिगम्य पदार्थो को स्वभावशून्य कहता है। सब धर्म नामरूपमय है। नामरूपमय होने से माया है क्योकि नामरूप ही माया है और माया ही नामरूप है।[३३] माया न सत है न असत है न सद्सत् है। माया का लक्षण विचारासहत्व है। इसकी कोई स्वतत्र सत्ता नही इसका कोई अपना स्थान नही है।[३४] सब धर्मो की सत्ता व्यावहारिक है। अत सब धर्म प्रज्ञप्तिधर्म है। इनकी न उत्पत्ति है न निरोध। न केवल व्यावहारिक सकेत है।[३५]

लकावतार[३६] ललितविस्तर समाधिराज[३७] एव सुवर्णप्रभास सूत्र[३] एक स्वर से सब बुद्धिग्राह्य धर्मो को स्वप्न मरीचिका माया शशशृग वन्ध्यापुत्र गधर्वनगर द्विचद्रदर्शन प्रतिबिम्ब प्रतिध्वनि तैमिरिकदृष्टि अलातचक्र इन्द्रजाल आदि के समान असत्य बतलाते है।[३९]

लकावतार सूत्र कहता है कि बुद्धि केवल विकल्प विकार अपेक्षा भेद व्यवच्छेद द्वैत को ग्रहण कर सकती है तत्व या सत्य को कदापि नहीं। सम्पूर्ण लोकव्यवहार बुद्धि की चार कोटियो मे समाहित है। ये चार कोटियॉ है (१) सत या अस्ति (२) असत या नास्ति (३) सदसत् या अस्ति च नास्ति च और (४) सदसद्भिन्न या न चास्ति न च नास्ति। इन चार कोटियो के जाल मे फॅसे रहने वाले साधारण व्यक्ति तत्व साक्षात्कार के लिए शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते। ज्ञान के दो रूप है सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प सापेक्ष ज्ञान को तक्र कहते है और निर्विकल्प निरपेक्ष ज्ञान को प्रज्ञा। तक्र का नाम ही बुद्धि मति या युक्ति है। यह स्वय विषयी बनकर प्रत्येक वस्तु को विषय के रूप मे ग्रहण करता है। अत यह स्वय को अन्योन्यापेक्षा के जाल से नहीं छुडा सकता। निर्विकल्प निरपेक्ष निराभास निर्गुण और निर्विशेष तत्व कभी विषय रूप से नही ग्रहण किया जा सकता। अत वह तक्र का विषय नहीं। उसका साक्षात्कार तो केवल विशुद्ध ज्ञान या प्रज्ञा ही कर सकती है।[४०] ताक्रिक तत्व को देख नही सकते। वे कुत्तो की तरह आपस मे लडना जानते है। तर्कदोष और तर्कविभ्रम के कारण वे तत्व को देख नही सकते।[४१] जिस प्रकार हाथी गहरे

कीचड मे फस जाते है उसी प्रकार मूर्ख लोग वाग्जाल और तर्काडम्बर मे व्यजन मे पद मे पद समूह मे और विशेषत नामरूप के चक्र मे वाणी और बुद्धि के भयकर चक्र मे फसे रहते है[४२] कारण और कार्य नित्य और अनित्य एक और अनेक वाच्य और अवाच्य आत्मा और अनात्मा रूप और अरूप बन्धन और मोक्ष आदि सपूर्ण मतमतान्तर स्थूल या लोकायत दर्शन है सूक्ष्म या तात्विक दर्शन नही। तात्विक दर्शन मे हमे बुद्धि की कोटियो से परे जाना पडता है।[४३]

सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र मे उल्लेख है कि जब तक हम बुद्धि की कोटियो मे फसे हुये है तब तक हम जन्माध पुरुषो की भॉति पूर्ण अधकार मे है जब हम यह जान लेते है कि बुद्धि सविकल्प और सापेक्ष है और इसलिए तत्व–दर्शन कराने की शक्ति से रहित है तथा सत्य के साक्षात्कार के लिए बुद्धि को अपनी सापेक्ष धारणाओ से ऊपर उठाकर निरपेक्ष और निर्विकल्प ज्ञान मे परिणत होता है तब हमारे नेत्र खुल जाते है और उनमे दर्शन शक्ति आ जाती है किन्तु फिर भी हमारी दृष्टि धुॅधली और निर्बल ही रहती है। जब हम विशुद्ध प्रज्ञा का साक्षात्कार करते है तभी हमे बुद्ध–ज्ञान प्राप्त होता है और प्रत्येक पदार्थ को करतलामलकवत स्पष्ट देखने वाली दिव्य–दृष्टि मिलती है।[४४] वही हमे सम्यक सबुद्ध बनाने वाली उत्तम अग्र बोधि है। यही गभीर तर्कातीत तथागतविज्ञेय सद्धर्म है।[४५]

लकावतार सूत्र भी परमार्थ को ज्ञानगोचर प्रज्ञागोचर तथागतप्रत्यात्मगतिगम्य करतलामलकवत तथागतप्रत्यक्षगोचर मानता है वागविकल्पबुद्धिगोचर नही। तथागत सर्वप्रपचातीत है तत्व सर्वप्रपचोपशम है। यद्यपि बुद्धि ही तत्व की ओर सकेत करती है तथापि हमे बुद्धि को ही तत्व न समझ लेना चाहिए। बालक को चन्द्रदर्शन कराने के लिए उॅगली से चन्द्र की ओर सकेत किया जाता है किन्तु उॅगली को ही चन्द्र समझ लेना भूल है। इसी प्रकार व्यवहार द्वारा ही परमार्थ का उपदेश दिया जा सकता है किन्तु व्यवहार को ही परमार्थ न समझ लेना चाहिए।[४६] बुद्ध का वास्तविक उपदेश मौन है। जिस रात्रि को तथागत सम्यक सबुद्ध बने उस रात्रि से लेकर उस रात्रि तक जब उन्होने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया तथागत ने एक अक्षर भी उपदेश मे नही कहा। बुद्धोपदेश अवचन है वागतीत है।[४७] जो अक्षर पतित धर्म का उपदेश देते है वे मिथ्या प्रलाप करते है क्योकि सद्धर्म निरक्षर है। व्यवहार दशा मे शून्यता का अर्थ असत समझने की अपेक्षा सुमेरू पर्वत के बराबर अहकार की कल्पना करना श्रेष्ठ है क्योकि शून्यता को असत् मानकर उसके असत्व का प्रतिपादन करने वाला नास्तिक वैनाशिक है। उसका भी विनाश ध्रुव है।[४८] यह शून्यता का सर्वजघन्य अथ है।

वास्तव मे शून्यता तो परमार्थ या आर्य ज्ञान है और इसलिए वह परमार्थार्यज्ञान महाशून्यता कही जाती है। शून्यता चतुष्कोटिविर्निमुक्त तत्व है जो विशुद्ध प्रज्ञा द्वारा साक्षात किया जाता है।[३६]

सदर्भ

१ बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ० २६८

२ एक हियान (सद्धर्म पुण्डरीक २५४)

३ भागचन्द्रजैन चतु शतकम्

४ बौद्धधर्म के विकास का इतिहास पृ० ३२१–३३१

५ चतु शतकम्– पृ० १३

६ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३२६–३३१

७ वही पृ० ३३१

८ वही पृ० ३३३

६ डी०टी० सुजुकी आउटलाइन्स ऑव महायान बुद्धिज्म पृ० ६२–६५

१० अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता ११ इण्डियन फिलॉसफी भाग १ पृ० ५८५

११ महायान बुद्धिज्म पृ० १६–१७

१२ बौद्धधर्म दर्शन पृ० ३६६

१३ वही पृ० ३६६

१४ वही पृ० ३६७

१५ वही पृ० ३६८

१६ महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र अपनी मूल भाषा सस्कृत मे लुप्त है। परमार्थ ने इसका चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। इसका रिचर्ड ने अग्रेजी भाषा मे अनुवाद किया है वह उपलब्ध है।

१७ बुद्धचरित १६ ६४ ७५

१८ इद भाषा महायान सबुद्ध धर्म साधनम्।

सर्वसत्वहिताधान सर्वबुद्धै सर्व बुद्धै प्रचारितम्।।

बुद्धचरित १६ ८५

१६ सुजुकी महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र पृ० ४६ रिचार्ड पृ० का आग्लभाषानुवाद।

२० सुजुकी पृ० ६६२ रिचार्ड पृ० ६

२१ रिचार्ड पृ० १०

२२ रिचार्ड पृ० ८

२३ वही पृ० ११

२४ वही पृ० ११–१२

२५ क्षेम पद नैष्ठिकमच्युत तत।
शात शिव साक्षिकुरुषव धर्मम्।। – सौन्दरनन्द १६ २६

२६ जगत्मय मोहतमो विहन्तु ज्वलिष्यति ज्ञानमयो हि सूर्य। बुद्धचरित १ ७४

२७ अवात्तकार्योसि परा गति गतो न तेऽस्ति किञ्चित् करणीयमण्वपि।
अत पर सौम्य चरानुकम्पयाविमोक्षयन कच्छगता न परानपि।।
सौन्दरनन्द १८ ५४

२८ डॉ० चन्द्रधर शर्मा– बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ० २२

२९ सर्वधर्मा समा सर्वेसमा समसमा सदा।
एव ज्ञात्वा विजानाति निर्वाणममृत शिवम।।
बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ० २४ सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र पृ० १४३

३० यदि निर्वाणादप्यन्य कश्चिद धर्मो विशिष्टतर स्यात् तमप्यह नायोप्यह स्वप्नोपममिति वदेयम।
अष्ट साहस्रिकाप्रज्ञापारमिता पृ० ४०
बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ० २५

३१ वही पृ० ३९ १९६ २९८ २०५, २७९ ४८३ ४८४ आदि

३२ शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ० ११९ १२० १९५, २६१

बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ० २५

३३ नामरूप मेव माया मायेव नामरूपम् वही पृ० १२०९

३४ वही पृ० ३२५

३५ पृ० २२ ५१ ६१ ८४ ९० ९५, १०५ आदि

३६ पृ० १७६ १७७ १८१

३७ पृ० २७ २९

३८ पृ० ३९ ३२ ४४ बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ० २५

३९ चातुष्कोटिक च महामतेलोकव्यवहार। लकावतार पृ० १८८

४० चित्त विषय सबन्ध ज्ञान तर्के प्रवर्तते।

निराभासेऽविशेषे च प्रज्ञा वै सप्रवर्तते।। वही पृ० १३०

४१ श्वघूता कुतार्किका। तत्त्व न पश्यन्ति तार्किकास्तर्कविभ्रमात्। – वही पृ० १६७ और २७४।

४२ व्यञ्जनेपदकाये च नाम्निचापि विशेषत।

बाला मज्जन्ति दुर्भेद्या महापके यथागजा।।

वही पृ० ११३ बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ० २६

४३ वही पृ० ७६–७७

४४ सद्धर्मपुण्डरीक पृ० १३४

४५ वही पृ० २६ ३६ ११६

४६ द्रष्टव्य लकावतार पृ० ३६ ६६ २२२ २२३ ४।

४७ या च रात्रि तथागतेन नोदाहुतम्।

अवचन बुद्धवचन।

योऽक्षरपतित धर्मं देशयति स प्रलयति निरक्षात्वाद् धर्मस्य।

लकावतार पृ० १४१–१४३।

४८ वर खलु सुमेरु मात्रा पुद्गल दृष्टिर्नत्वेत नास्त्यस्तिस्वाभिमानिकस्य शून्यता दृष्टि। सहि ——— वैनाशिको भवति–

वही पृ० १४१–१४३

बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ० ३५

४६ वही पृ० ३५

अध्याय–४

द्वन्द्व-न्याय

(नागार्जुन की शून्यता–विधि–चतुष्कोटिनय या प्रसग)

द्वन्द्व न्याय– यह वह विज्ञान है जहॉ प्रकृति समाज और विचार को सचालित करने वाले विशिष्ट सामान्य नियमो का अध्ययन किया जाता है।[1] किन्तु दर्शनशास्त्र मे सामान्य अर्थ मे विवेचन की कला को द्वन्द्व–न्याय कहते है। यह तर्कशास्त्र की एक विशेष शाखा है जहॉ तर्कणा के प्रकारो (मोडस) और नियमो (रूल्स) की शिक्षा दी जाती है।[2]

इसके स्वरूप को लेकर सामान्यत लोगो मे यह भ्रान्त धारण प्रचलित है कि कोई भी सुविचारित युक्ति अथवा तर्क सम्मत रूप से किसी भी सिद्धान्त का खण्डन द्वन्द्वन्याय है।[3] किन्तु दर्शनशास्त्र मे प्रचलित अर्थ मे यह वह वैचारिक प्रणाली है जिसमे दो विरोधी स्थितियो की समीक्षा करते हुए दोनो के महत्व को ग्रहण करते हुए सत्य की ओर अग्रसर होने का प्रयास किया जाता है।[4] इसके अविष्कार का श्रेय यूनान के इलियाई दार्शनिक जेनो को है।[5] जिन्होने अपने विप्रतिषेधात्मक तर्को द्वारा देश गति और प्रपच का खण्डन कर यह सिद्ध किया था कि सभूति का अस्तित्व नहीं है। मात्र सत का ही अस्तित्व है।[6] प्लेटो के पार्मेनाइडीज सवाद मे सर्वप्रथम द्वन्द्वन्याय का सूत्रपात मिलता है। उन्होने अत्यधिक विस्तारपूर्वक एक और बहु सत और सभूति के युग्मो मे अन्तर्निहित विरोध प्रदर्शित कर उसके ऊपर जाने का प्रयत्न किया है। यदि बुद्ध के मौन का यथार्थ स्वरूप समझा जाए तो उन्हे ही विश्व का प्रथम द्वन्द्वन्याय का अविष्कार होने का गौरव मिलेगा।[6]

द्वन्द्वन्याय वितण्डावाद नही। यह अपने विरोधी को येन केन प्रकारेण पराजित करने की विधि नही अपितु जागरूक अध्यात्मिक आन्दोलन है जो अनिवार्य रूप से बुद्धि की समीक्षा है और उसमे निहित विरोध को प्रदर्शित कर उससे पार जाने का प्रयत्न है। और यह तभी सभव है जब वाद–प्रतिवाद के पारस्परिक विरोध को समझे। किन्तु यह स्थिति अस्थायी है जो एक परिस्थिति विशेष के कारण उत्पन्न हुई। है इसके विपरीत

द्वन्द्वन्याय एक सर्वभौम सघर्ष की स्थिति है जो प्रत्येक क्षेत्र मे व्याप्त है। दर्शन की जब गभीरतापूर्वक और सुसम्बद्ध रूप मे आराधना की जाती है तो वह अनिवार्यत एक सर्वव्यापी वैचारिक सघर्ष को जन्म देता है और साथ ही उसे सुलझाने का प्रयत्न भी करता है। उस सघर्ष को यथावत समझने और उसे सुलझाकर आगे बढने का नाम ही द्वन्द्वन्याय है।

दर्शन के इस सार्वभौम सघर्ष से निपटने की दो या तीन विधाए व्यावहार मे आई। प्रथम प्रत्येक दार्शनिक निकाय मे परमतत्व के विषय मे महत्वपूर्ण सिद्धान्तो की स्थापना की गयी है किन्तु वे दार्शनिक निकाय अपने ही सिद्धान्त को एक मात्र सही सिद्धान्त समझ बैठे और दूसरे सिद्धान्तो को गलत कहने लगे। इस विकृति को दूर करने के लिए विविध सम्प्रदायो द्वारा प्रणीत सिद्धान्तो मे सामजस्य और समन्वय की आवश्यकता हुई। यह प्रयास जैन दर्शन और हेगल ने किया। दर्शन के इस सामान्य सघर्ष के ऊपर जाने का एक दूसरा प्रयास भाववाद द्वारा हुआ जिसने दर्शनशास्त्र को ही अस्वीकार कर दिया। यह प्रवृत्ति समय–समय पर उभरती है। विशिष्ट और महत्वपूर्ण चिन्तनधारा के समापन के पश्चात और प्रवृत्ति उभर कर सामने आती है। पार्मेनाइडीज जेनो और हेराक्लाइटस के समृद्ध दार्शनिक चिन्तन के बाद प्रोटागोरस और गोर्जियस का सोफिस्टवाद प्लेटो और अरस्तू के दर्शन के बाद पाइरो का सशयवाद देकार्त स्पिनोजा और लाइबनीज के बुद्धिवाद तथा लॉक और बर्कले के अनुभववाद के अनन्तर ह्यूम का सशयवाद फिश्ते हेगल और शापेनहायर के बाद कॉम्टे का भाववाद तथा आधुनिक समय मे प्रत्ययवाद और बुद्धिवाद के विरोध मे विटगिन्स्टाइन तथा एअर के भाषावादी दर्शन का आविर्भाव इसका स्पष्ट प्रमाण है।

कभी–कभी नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन अथवा शून्यवाद को भी एक प्रकार का भाववाद माना जाता है जो दर्शनशास्त्र के खण्डन दर्शन से ही सतुष्ट नही अपितु अनुभवमूलक जगत को ही अलीक माया और शून्य कह कर उसका उपहास करता है। किन्तु नागार्जुन के दर्शन को ठीक से न समझने का यह परिणाम है। वस्तुत नागार्जुन का दर्शन काण्ट के दर्शन की भाति पूर्णरूप से आध्यात्मिक है। नागार्जुन दर्शनशास्त्र का खण्डन इसलिए नही करते है यह उपेक्ष्य है अथवा परमतत्व के अस्तितव मे उन्हे किसी प्रकार का सदेह है बल्कि इसलिए करते है कि तर्क की वहॉ तक गति नहीं। बुद्धि–विकल्पो से वह अगम्य हे। वे बुद्धि या तर्क के विपरीत एक उच्चतर ज्ञानावस्था को मानते है जो अन्त प्रज्ञा या प्रज्ञा है और साक्षात परमतत्व का स्वरूप ही है। दूसरे शब्दो मे प्रज्ञा और परम तत्व एकरूप है।

नागार्जुन के द्वन्द्वन्याय को ठीक से समझने के लिए जैन और हेगल के द्वन्द्वन्याय का किंचित विशेष विवेचन आवश्यक है।

जैन का द्वन्द्वन्याय साख्य न्याय और प्राचीन बौद्ध दर्शन की आलोचना कर जैन दार्शनिक इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि इन दार्शनिको ने तत्व के सम्बन्ध मे एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो तत्व के एक महत्वपूर्ण और अपरिहार्य पक्ष का निदर्शन करता है किन्तु यह त्रुटिपूर्ण (नयाभास) हो जाता है जब वह अपने मत को पूर्ण सत मान बैठता है। इसलिए सही सिद्धान्त इन सब दार्शनिक सिद्धान्तो के समन्वय मे निहित है जिसे अनेकान्तवाद की सज्ञा दी जा सकती है। उनका कहना है कि वस्तुओ के सम्बन्ध मे द्रव्यदृष्टि और गुणदृष्टि (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय) दोनो ही तत्व के विषय मे समान रूप से सत्य है। मूल विकल्प (मूल भग) मात्र दो है भाव और अभाव अस्ति और नास्ति। इन्हे क्रमिकरूप से (क्रमार्पितोभयम) युगपद रूप से (सहारपितोभयम) और अव्यक्तरूप से क्रमश रख जा सकता है। इस प्रकार क्रम से वे इन द्विविध विकल्पो को सात रूपो मे रखते है और सप्तभगिनय की सज्ञा देते है। जैन दार्शनिको के अनुसार परम तत्व का वास्तविक रूप यही है। और तत्व का यह रूप एकान्तक नही अपितु अनेकान्तक है– (अनेकान्तात्मक वस्तु)।[1]

हेगल भी एकान्तवाद का खण्डन करते है और उसे आशिक सत्य मानते है। उनके अनुसार अशी या अवयवी (समग्र) ही एकमात्र परमतत्व है न कि अश। हेगल विरोध को सिद्ध करने के लिए अनुभव का सहारा नही लेते अपितु सप्रत्यय का तार्किक विश्लेषण कर अपने सिद्धान्त को सिद्ध करते है। हेगल का कथन है कि द्वन्द्वन्याय विचार मात्र अथवा तर्कणा पद्धति मात्र नही है अपितु मार्ग है सप्रत्यय से सप्रत्यय की ओर अभिसक्रमण है जो सद्य नूतन अधिक सग्राही और उच्चतर सप्रत्ययो का सृजन करता है यह बुद्धि की युगपद् विध्यात्मक और निषेधात्मक सम्पादन क्रिया है। जो सत के सम्पूर्ण निहितार्थ का दोहन करती है और इस अवस्था मे असत् मे परिणत हो जाती है किन्तु यह प्रवर्तन यही नही रुकता अपितु एक नए सप्रत्यय को जन्म देता है। और चॅकि इस सप्रत्यय की निष्पत्ति सत के विरोधी असत के सयोग से हुई है अत यह अधिक परिष्कृत पूर्ण और समृद्ध है और यह नूतन अवस्था पुन एक प्रवर्तन को जन्म देती है। इस प्रकार विकास की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। वे इस प्रक्रिया को निम्नलिखित रूप मे व्यक्त करते है–

१ वाद (थीसिस)

२ प्रतिवाद (एण्टीथीसिस) और

३ सवाद (सिन्थीसिस)

इस सवाद से पुन एक वाद का आरम्भ होता है और अन्त सवाद मे होता है। त्रयी की यह प्रक्रिया चलती रहती है। इस प्रकार हेगल शुद्ध सत (निविर्षय सत्) से प्रारम्भ करते है और उसकी समाप्ति या चरम परिणति निरपेक्ष प्रत्यय के रूप मे होती है। हेगल इस आरोप का कि समग्र द्वन्द्वन्यायात्मक प्रवर्तन प्रत्ययात्मक या औपचारिक मात्र है खण्डन करते है और कहते है कि विचार और परमतत्व अभिन्न है और विचार सचरना का अनुसधान युगपद् परम तत्व का भी अनुसधान है।

हेगल और जैन के द्वन्द्वन्याय का अध्ययन करने से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुचते है कि हेगल का द्वन्द्वन्याय समग्रकारी सश्लेषण है। प्रत्येक भूमि पर विकल्प एकत्रित होते है और उस अवस्था को पारकर आगे बढते है और इस प्रकार एक उच्चतर और निम्नतर दृष्टिकोण का जन्म होता है। जैन द्वन्द्वन्याय विकल्पो का एक वियोजक सश्लेषण है। इसे सश्लेषण की अपेक्षा सयुक्तीकरण कहना अधिक उपयुक्त होगा। विचार की क्या क्रिया है इस बात पर भी हेगल और जैन दार्शनिको मे मतभेद है। हेगल के अनुसार विचार सर्जनात्मक है जबकि जैन के अनुसार यह परमतत्व का प्रतिनिधि है। जैन दार्शनिको का तर्कशास्त्र वस्तुवाद और बहुतत्ववाद का तर्कशास्त्र है जब कि हेगल का तर्कशास्त्र प्रत्ययवाद और निरपेक्षवाद का तर्कशास्त्र है। किन्तु दोनो ही इस बात पर सहमत है कि विचारगत भेद मात्र विचारगत भेद नही है अर्थात वे विषयिनिष्ठ मात्र नही है बल्कि वे परमतत्व के वास्तविक स्वरूप के सही अर्थ मे निर्देशक है। किन्तु नागार्जुन उपर्युक्त विचारको के इस मत से सहमत नही है। उसके अनुसार विचारगत भेद विशुद्ध रूप से विषयिनिष्ठ है और उन्हे जब विषयनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ रूप मे ग्रहण करते है और परमतत्व का स्वरूप मान लेते है तो परम तत्व का मिथ्या स्वरूप प्रस्तुत करते है।[1]

२ नागार्जुन के अनुसार किसी भी विषय के सम्बन्ध मे चार ही दृष्टिया सभव है जिनमे मूलत दो विकल्प है– सत् और असत् अथवा भाव और अभाव।

इन्ही दोनो को युगपद् रखकर (उभय सकीर्णात्म) अथवा दोनो को युगपद् अस्वीकार कर (उभयप्रतिषेधस्वभावता) दो नई दृष्टिया बनती है। इस प्रकार कुल चार दृष्टिया बनती है–

१ वस्तु है

२ वस्तु नही है

३ वस्तु है और नही भी है तथा

४ न तो वस्तु है और न तो नही है।

आर्यदेव ने चतु शतक मे इसके विकल्पो की सख्या और क्रम को इस प्रकार व्यक्त किया है–

सद् असद् सदसच्चेति नोभय चेति चक्रम ।
एष प्रयोज्यो विद्वद्भिरेकत्वादिषु नित्यश ।।[11]

उपर्युक्त रूप मे विद्वानो ने इस विधि का सदैव प्रयोग किया है। हरिभद्र ने अभिसमयालकारालोक मे इसे और अधिक तार्किक रूप मे प्रस्तुत किया है—

विधान प्रतिषेधञ्च तावेव सहितौ पुन ।

प्रतिषेध तयोरेव सर्वथा नावगच्छति।।[१२]

किसी सिद्धान्त की समीक्षा करते समय सर्वप्रथम उसका प्रथम वाक्य मे विधान (स्वीकरण) करना चाहिए पुन दूसरे वाक्य मे उसका प्रतिषेध (निषेध) करना चाहिए पुन दोनो को युगपद् रखना चाहिए कि सिद्धान्त विशेष या वस्तु विशेष विधान और प्रतिषेध दोनो हो सकती है और अन्तिम चौथे वाक्य मे उन दोनो का निषेध करना चाहिए कि न तो विधान है और न निषेध ही है। उपुर्यक्त विवेचन से यह नही निष्कर्ष निकालना चाहिए कि नागार्जुन और उनके अनुयायी माध्यमिक दार्शनिक किसी सिद्धान्त के विधिमूलक और निषेधमूलक दो किनारो का परित्याग करके बीच की स्थिति को अपना सिद्धान्त मानते है। वे समझौतावादी नही है। वे किसी मध्यम बिन्दु पर नहीं रुकते और न मध्यम बिन्दु कोई बिन्दु है अपितु उसके आगे बढते है और उस बिन्दु पर पहुचते है जो वाणी और बुद्धि विकल्पो के परे है। वस्तुत सभी दृष्टियो की समीक्षा होने के नाते यह लोकोत्तर है। वस्तुत यह चतुष्टकोटिविनिर्मुक्त है। जिसे माधवाचार्य ने निम्नलिखित श्लोक के माध्यम से बहुत ही अच्छी तरह व्यक्त किया है—

न सन्नासन् सदसन्न नोऽनुभयात्मकम।

चतुष्कोटिविर्निमुक्त तत्व माध्यमिका विदु ।।[१३]

माध्यमिक दार्शनिको के अनुसार तत्व न तो अस्तिरूप है न नास्तिरूप है न उभयरूप है और न अनुभय रूप है। वस्तुत यह उपर्युक्त किसी कोटि मे नही समाहित होता। यह चारो कोटियो के परे है चतुष्कोटिविर्निमुक्त है। समाधिराज सूत्र के निम्नलिखित श्लोक मे इस सिद्धान्त का पूर्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता

सुद्धी असुद्धीति इमेपि अन्ता

तस्मादुत्रे अत्र विवर्जयित्वा।

मध्योऽपि स्थान न करोति पण्डित ।।[१४]

काश्यप परिवर्त मे भगवान् बुद्ध ने स्पष्ट रूप से नागार्जुन के माध्यमिक सिद्धान्त मध्यमाप्रतिपत का लोकौत्तर रूप ही प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि?—

आत्मेति काश्यप अयम एकोऽन्त नैरात्म्यम इत्यय द्वितीयोऽन्त
यद् एतद् अनयोरन्तयोर्मध्य तदरुप्य अनिदर्शनम अप्रतिष्ठितम
अनाभासम अविज्ञप्तिकम अनिकेतम् इयम उच्यते काश्यप।
मध्यमा प्रतिपद् धर्माणा भूतप्रत्यवेक्षा–

रत्नकूटसूत्र काश्यप परिवर्त पृ० ८७ मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० ३५८

हे काश्यप। आत्मा है (धर्म है) यह दृष्टि एक प्रकार का अतिवाद है आत्मा नही है (धर्म नही है) यह दूसरे प्रकार का अतिवाद है जो दृष्टि इन दोनो के बीच की है या इन दोनो अतिवादो का अतिक्रमण करती है वह मध्यमा प्रतिपत है जो धर्मो के स्वरूप की समीक्षा है वस्तुत इसके स्वरूप के विषय मे कुछ भी नही कहा जा सकता। यह अरुप्य अनिदर्शन अप्रतिष्ठित अनाभास अविज्ञप्तिरूप और अनिकेत है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कसी वस्तु के सम्बन्ध मे चार ही दृष्टिया बनती है जिनमे प्रथम दो मुख्य दृष्टिया है और अन्तिम दो गौड दृष्टिया है इनमे न तो किसी भावात्मक दृष्टि को अभावात्मक मे परिवर्तित किया जा सके और न अभावात्मक को भावात्मक मे। कुछ लोग यह कह सकते है कि भावात्मक भी निषेधात्मक है।

उदाहरण के लिए यह एक त्रिभुज है यह कथन यह प्रतिपादित करता है कि यह वर्ग नही है इसी प्रकार अभावात्मक कथन भी भावमूलक सत्ता की ओर सकेत करता हे उदाहरण के लिए जो वस्तु यहा नही है वह कही अन्यत्र और किसी अन्य आकार मे हो सकती है। किन्तु इस प्रकार का प्रश्न मात्र कल्पना की उपज है क्योकि किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप भाव और अभाव पूर्णरूप से एक दूसरे से भिन्न है और एक की निष्पत्ति दूसरे से नही हो सकती। विधान या स्वीकरण किसी वस्तु के अस्तित्व को इगित करता है उसका विधेयीकरण करता है उसको किसी वर्ग मे सम्मिलित करता है अथवा किसी वस्तु से एकीकृत करता है इसके विपरीत अस्वीकरण या निषेध उसके अस्तित्व को अस्वीकार करता है उसे अन्य वस्तु से अलग करता है अथवा उस वस्तु के विधेय का खण्डन करता है। उन दोनो पक्षो को हम एक ही वस्तु के दो पहलू कह सकते है अथवा किसी सिक्का के दो पहलू कह सकते है किन्तु फिर भी दो पहलू है और उन्हे स्पष्ट रूप से भिन्न समझना चाहिए।

सभी प्रकार के दार्शनिक निकायो को इन्ही चार प्रकार की दृष्टियो के चौखट मे रखा जा सकता है। परम तत्व सत एकाकार सामान्य और सर्वत्र अभिन्न (तादात्म्यक एकरूप) है यह सत्पक्ष है यह आत्मवाद की परम्परा है जो आत्मवादी निकायो विशेषकर वेदान्त द्वारा प्रतिपादित है जो आत्मा को एकमात्र वास्तविक

(सत) मानते है। इसके विपरीत बौद्ध या ह्यूम की दृष्टि है जो असत्प्रतिपक्ष का प्रतिपादन करते है जो द्रव्य सामान्य या तादात्म्य (एकरूपता) का निषेध करते है। जैन और हेगल समन्वय पक्ष का प्रतिपादन करते है और ग्रीक दार्शनिक पाइरो अथवा भारतीय दार्शनिक सजय चौथी दृष्टि का प्रतिपादन करते है।[१५]

शून्यताविधि द्वन्द्वन्याय को जिसे उपर्युक्त चार पदो मे व्यक्त किया जाता है नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन की पदावली मे प्रसगापादनम् कहा जाता है। यहॉ वादी किसी वस्तु के सम्बन्ध मे अपना कोई भी पक्ष नही प्रस्तुत करता। वह अपने प्रतिपक्षी के सिद्धान्त को अक्षरश स्वीकार कर लेता है और उसमे निहित आत्मविरोध की समीक्षा कर उसके सिद्धान्त का खण्डन करता है और प्रतिवादी को हास्यास्पद स्थिति पर ला खडा करता है।[१६] इस प्रकार माध्यमिक एक प्रासगिक या वैतण्डिक (वितण्डावादी) के रूप मे प्रस्तुत करता है।

पाश्चात्य दर्शन की भाषा मे प्रसग की तुलना हम काण्ट के अपॉगोजिक युक्ति से नही कर सकते जहा वह प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का खण्डन कर परोक्षरूप से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। यहा प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का खण्डनमात्र लक्ष्य है न कि अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन। काण्ट के दर्शन का बुद्धि के विप्रतिषेध तथा साख्य दर्शन मे असत्कार्यवाद का खण्डन कर परोक्षरूप से सत्कार्यवाद की स्थापना और सौत्रान्तिक बौद्ध दार्शनिको द्वारा नित्यता का खण्डन कर क्षणिकवाद की परोक्षरूप से स्थापना भारतीय दर्शन मे अपॉगोजिक युक्ति के ज्वलन्त उदाहरण है। किन्तु इन युक्तियो द्वारा भी किसी सिद्धान्त की निश्चित रूप से स्थापना नही की जा सकती है क्योकि हो सकता है कि वादी और प्रतिवादी दोनो के सिद्धान्त गलत हो। इन युक्तियो की उपयोगिता तो मात्र गणित जैसे शास्त्रो मे ही है जहा मात्र दो ही विकल्प है और एक के गलत सिद्ध होने पर दूसरा विकल्प स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। किन्तु इस प्रकार के तर्क अनुभवमूलक जगत और विशेषकर इन्द्रियातीत जगत् के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से असफल सिद्ध होते है। पुनश्च किसी वाद के खण्डन से अनिवार्यत उसके प्रतिवाद की सत्यता नही सिद्ध हो जाती। उदाहरण के लिए कोई वस्तु स्वत उत्पन्न नहीं है यह न सिद्ध होने से यह नही सिद्ध होता कि वह निश्चित रूप से परत उत्पन्न है। अत प्रसगविधि पूर्णरूपेण अत्यन्त निषेध विधि (प्रसज्य प्रतिषेध) है। अत इस विधि से मात्र वादी को ही लाभ होता है क्योकि वह अपने द्वारा स्वीकृत तर्क प्रक्रिया और सिद्धान्त के आधार पर प्रतिपक्षी पर आघात करता है। वस्तुत नागार्जुन का प्रसग (द्वन्द्वन्याय) एक आध्यात्मिक युद्धालु है जिसका कोई अपना पक्ष नही और इसलिए उसे सिद्ध करने के लिए न तो किसी न्याय वाक्य की सरचना की आवश्यकता है और न कोई युक्ति और उदाहरण देने की।

नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन की एक विशेष शाखा अवश्य थी जहाँ दार्शनिक प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का खण्डन कर न्यायवाक्य उदाहरण और तर्क देकर अपने सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करते थे। इस शाखा को स्वतत्र माध्यमिक निकाय कहते है और इसके प्रवक्ता भव्य या भाव विवेक थे जिनकी मध्यमकशास्त्र की तर्कज्वाला नाम की टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है। किन्तु इस विचारधारा का अधिक प्रचलन नही हो पाया। नागार्जुन आर्यदेव बुद्धपालित चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव प्रासगिक माध्यमिक निकाय के ही पोषक है और अपना कोई पक्ष न रखकर प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का प्रसग द्वारा खण्डन अपना लक्ष्य मानते है। और इस विधि द्वारा बुद्धि द्वारा बुद्धिविकल्पजन्य सवृति (जगत) का खण्डन कर प्रज्ञापारमिताओ दशभूमियो और प्रातिमोक्ष आदि नियमो का पालन कर परमार्थ मे लीन होते है।

हम चतुष्टकोटिन्याय को दृष्टान्त के रूप मे भारतीय दर्शन के कारणता सिद्धान्त पर लागू कर उसे समझाने का प्रत्यन करेगे।

१ साख्य यह सिद्धान्त कि भावो की उत्पत्ति स्वत होती है– (स्वत उत्पाद) अर्थात वस्तुओ की अपने से होती है गलत है क्योकि स्वत उत्पादन निरर्थक है यह पुनरावृत्ति मात्र है।[१७]

२ अब यदि बौद्धो और नैययायिको का यह सिद्धान्त स्वीकार करे कि भावो की उत्पत्ति अपने से भिन्न वस्तु से होती है तो किसी भी वस्तु से कोई भी वस्तु उत्पन्न हो सकती है जो अनुभव के विरुद्ध है।[१]

३ यदि जैन का यह सिद्धान्त माना जाए कि भावो की उत्पत्ति उभयत (स्वत और परत के युगद् रूप से) होती है तो यह भी ठीक नही क्योकि सत और असत परस्पर विरुद्ध है अत वे युगपद् हो ही नही सकते क्योकि यह सिद्धान्त स्वीकार करने पर अभाव (अभावमूलक वस्तु–बन्ध्यापुत्रादि) से भावमूलक वस्तु मानव पशु पक्षी आदि की उत्पत्ति माननी पडेगी जो कि असभव है। क्या निर्वाण भाव और अभावरूप हो सकता है। उनका एकत्रीभाव वैसे ही असभव है जैसे सूर्य ओर अन्धकार का युगपद् अस्तित्व।[१६]

४ और यदि चार्वाक दार्शनिको (स्वभाववादियो) का सिद्धान्त माना जाए कि भाव न तो स्वत उत्पन्न होते है और न परत अर्थात् वे अकस्मात उत्पन्न होते है तो इस सिद्धान्त को प्रचलन मात्र (दृष्टिवाद) ही कहा जाएगा जहाँ वस्तुए अकारण और निराधार उत्पन्न होती है।[२] अत भावो के उत्पाद सबधी ये चारो सिद्धान्त अपर्याप्त और अग्राह्य है।

इन चारो सिद्धान्तो का खण्डन करते समय हम स्पष्ट रूप से देखेगे कि नागार्जुन किसी सिद्धान्त का खण्डन करते समय किसी अन्य सिद्धान्त की सहायता नहीं लेते। वह बुद्धि की कसौटी पर कसने पर स्वत खण्डित हो जाता है। उदाहरण के लिए साख्य सिद्धान्त का खण्डन करते समय उसके विरोधी न्याय या बौद्ध सिद्धान्त का सहारा नहीं लिया जाता है उसके पक्ष मे अन्तर्विरोध है। कोई वस्तु किसी वस्तु को उत्पन्न करे

और वह उसी रूप मे बनी रहे यह असभव है। यही बात अन्य सिद्धान्तो पर भी लागू होती है। इन विविध दृष्टियो पर दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि कोई दृष्टि इसलिए नही मिथ्या है कि इसकी विरोधी दृष्टि सत्य है बल्कि दूसरी तीसरी अथवा चौथी दृष्टि से विचार करने से विचारक के मन मे समीक्षात्मक बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है और विवेच्य दृष्टि की कमी का अनुभव होता है। इस प्रकार विवेच्य सिद्धान्त अन्तर्निहित विरोध से स्वत खण्डित हो जाता है अन्य दृष्टि के आधार पर नही। इस प्रकार जब हम किसी वस्तु या सिद्धान्त के प्रति कोई धारणा बनाते है तो हम उससे इस सीमा तक ग्रस्त हो जाते है कि उसे ही एकमात्र सही मानते है किन्तु जब अन्य दृष्टिया सामने आती है तब हमे पूर्व विवाच्य दृष्टियो की कमी का अनुभव होता है और हमारे मन मे समीक्षा बुद्धि जागती है और अपनी स्वीकृत दृष्टि मे कमी की चेतना जगती है।

नागार्जुन के द्वन्द्वन्याय का आधार

नागार्जुन के अनुसार सभी दृष्टिया स्वभावत खण्डनीय हैं क्योकि अनुभव से हमे यह बोध होता है कि प्रत्येक वस्तु मे स्वत विरोध अन्तर्निहित है। वस्तुत कोई भी वस्तु स्वत सद्वस्तु नही है उसका कोई अपना स्वभाव नही है। अन्य वस्तुओ के परिप्रेक्ष्य मे अथवा अन्य वस्तुओ के आधार पर हम उनका ज्ञान करते है। इसलिए सभी वस्तुए प्रतीत्यसमुत्पन्न (नि स्वभाव) है अर्थात् अपने अस्तित्व के लिए दूसरी वस्तुओ पर निर्भर करती है और जो प्रतीत्यसमुत्पन्न सापेक्ष या अन्योन्याश्रित है वे विषयिनिष्ठ अथवा असत है। बुद्धि की वर्गणाए नाना प्रकार के उपायो के द्वारा तत्व को ग्रहण करने का प्रयत्न करती है किन्तु वे असफल रहती है। वे तत्व को ग्रहण नही कर सकतीं क्योकि तत्व बुद्धिगोचर नही है बुद्धिविकल्पो की वहा तक गति नही है अत वह अपनी वर्गणाओ द्वारा सत्य (तत्व) का जो भी स्वरूप प्रस्तुत करती है वह सवृति मात्र है तत्व नही है।

अप्रतीत्य समुत्पन्नो धर्म कश्चिन्न विद्यते।
यस्मात् तस्माद शून्योहि धर्म कश्चिन्न विद्यते।।

मध्यमकशास्त्र १४ ६ चतु शतक ६ २

यहा हमे नागार्जुन और हेगल के दर्शन मे स्पष्ट रूप से अन्तर दिखाई पडता है। नागार्जुन कहते है कि जो प्रतीत्यसमुत्पन्न या अन्योन्याश्रित है वह सवृति या असत् का द्योतक है किन्तु हेगल इसे तत्व का अनिवार्य स्वभाव मानते है। उनके अनुसार वस्तुओ का सापेक्ष अस्तित्व द्वन्द्वन्यायात्मक बुद्धि का अनिवार्य स्वभाव है जो विरुद्धो के माध्यम से कार्य करती है उनके अन्तर्निहित विरोध को स्पष्ट करती है तद्नन्तर

उन्हे एकरुपता प्रदान करती है। इस प्रकार हेगल बुद्धि और तत्व को अभिन्न (एकाकार) मानते है। इसके विपरीत नागार्जुन अन्योन्याश्रय या सापेक्षत्व को तत्व का स्वरूप नहीं मानते इसलिए जो भी तत्व है वह सापेक्ष या अन्योन्याश्रित नही है। उनके अनुसार बुद्धि तत्व को अपने विकल्पो और सम्बधो के माध्यम से दूसरे शब्दो मे अपनी वर्गणाओ के माध्यम से वास्तविक रूप मे नही जान सकती है। तत्व तो निरपेक्ष निरुपाधिक और अप्रतीत्य समुत्पन्न है अत उसे बुद्धि की कोटियो भाव अभाव भावाभाव अथवा नभावाभाव किसी भी रूप मे नही जाना जा सकता।"[३]

अपरप्रत्यय शान्त प्रपचैरप्रपचितम।

निर्विकल्पम अनानार्थम एतत् तत्त्वस्य लक्षणम।।

मध्यमक शास्त्र १८ ६

आर्यदेव भी तत्व के स्वरूप का यही विधान करते है। उनके अनुसार जिसने किसी एक भी वस्तु को जान लिया उसने सभी वस्तुओ का स्वरूप जान लिया क्योकि स्वभावत सभी वस्तुए शून्य है–

भावस्यैकस्य यो द्रष्टा द्रष्टा सर्वस्य स स्मृत ।

एकस्य शून्यता यैव सैव सर्वस्य शून्यता।।

चतु शतक ८ १६

पाश्चात्य दार्शनिक ब्रेडले भी नागार्जुन और आर्यदेव के ही निष्कर्ष का अनुमोदन करते है। वे कहते है कि जिस निष्कर्ष पर मै पहुचा हॅ वह यह है कि चिन्तन की सम्बन्धात्मक प्रणाली जो पदो और सम्बधो के माध्यम से किसी तत्व का विवेचन करती है वह मात्र आभास का ज्ञान करा सकती है सत्य (तत्व) का नही।

४ नागार्जुन के द्वन्द्वन्याय के विकास की अवस्थाए

१ **दृष्टिवाद** इस अवस्था मे किसी वस्तु के स्वरूप के सबध मे किसी सिद्धान्त की स्थापना करते है और यह सोचते है कि यह ऐसी ही है किन्तु कुछ ही दिनो बाद हमे इसके सबध मे अन्य प्रकार के सिद्धान्त मिलते है और पहले से भिन्न होते है और उस वस्तु के स्वरूप का वास्तविक विवेचन करने का दावा करते है। ऐसी स्थिति मे हममे एक सदेह की भावना होती है कि क्या ये परस्पर विरोधी सिद्धान्त वस्तु का वास्तविक स्वरूप बताने मे समर्थ है। यहीं समीक्षाबुद्धि या द्वन्द्वन्याय का जन्म होता है।

२ इस अवस्था मे हमे इन्द्रियातीत भ्रम अथवा विचार की विषयिनिष्ठता का अनुभव होता है। इस **अवस्था मे द्वन्द्वन्याय बुद्धि की समीक्षा करता है और इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि बुद्धि अपने समस्त** विकल्पो का प्रयोग करके भी वस्तु (तत्व) का स्वरूप नही जान सकती। यहा द्वन्द्वन्याय प्रसगविधि द्वारा तत्व सबधी प्रत्येक सिद्धान्त में निहित विरोध को प्रदर्शित करता है। माध्यमिक द्वन्द्वन्याय हेगल के द्वन्द्वन्याय के

बिल्कुल विपरीत है। यह विशुद्ध रूप से विश्लेषणात्मक है। यह समीक्षा शून्यता है जो हमे इस बात का बोध कराती है कि बुद्धिविकल्पो द्वारा तत्व का ज्ञान नही हो सकता। तत्व के सबध मे सभी निर्णय सभी दार्शनिक सम्प्रदाय विकल्प प्रपच अथवा बौद्धिक सरचना मात्र है। वे तत्व का स्पर्श नही कर सकते।

किन्तु यह द्वन्द्वन्याय मात्र तर्क के लिए तर्क नहीं है यह वितण्डावाद नहीं है जहॉ वादी का लक्ष्य अपने प्रतिवादी को किसी प्रकार पराजित करना होता है। इसका आधार एक परमसत्ता या परमतत्व है जिसे जानने या जिसके अनुरूप बनने की कोशिश बुद्धि द्वारा की जाती है किन्तु असफलरूप मे।

यदि किसी परमार्थ निर्विकल्प तत्व का अस्तित्व न हो तो हमे यह भी अनुभूति नही होगी कि हमारे विचार व्यक्तिगत या विषयिनिष्ठ है तत्व तक इनकी पहुच नही है। निर्विकल्प तत्व निश्चित ही विचार के परे है यह कुर्सी मेज फल फूल की तरह इन्द्रियगोचर नही है फिर भी अज्ञेय नही है। प्रज्ञा द्वारा इसकी अनुभूति होती है। और यह प्रज्ञा चिन्तन के अवसान के साथ समुद्भूत होती है। दृष्टिज्ञान होते ही अद्वयज्ञान प्रज्ञा का उदय होता है। और यह प्रज्ञा तत्व बोध है जिसका कही उत्सृजन नही होता है यह नित्य और शाश्वत है। यह सदैव थी मात्र सवृत ज्ञान से इसे अवरुद्ध कर रखा था (तथता सर्वकाल तथाभावात)। नागार्जुन स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि वे व्यक्ति बुद्ध की देशना को कदापि नहीं समझ सकते जो परमतत्व (परमार्थ) और सवृत्ति सत्य का भेद नही जानते।[२२]

किन्तु इसका अर्थ यह नही कि बुद्ध ने जिन दो सत्यो का प्रतिपादन किया था वे शाश्वत है और एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है। वस्तुत तत्व एक ही है जिसे हमारी मूढदृष्टि (अविद्या) और तज्जन्य बुद्धिविकल्पो ने आच्छादित कर रखा है और ज्यो ज्यो हम इस परमार्थ को बुद्धि विकल्पो के माध्यम से जानने का प्रत्यन करते है त्यो त्यो इसका वास्तविक रूप हमसे ओझल होता जाता है। किन्तु विद्या का प्रकाश फैलते ही निर्विकल्प निष्प्रपच परमार्थ तत्व की अनुभूति होने लगती है। इसलिए सवृति और परमार्थ का भेद मात्र विषयिगत है तत्वत नही। इसलिए नागार्जुन कहते है कि सवृति और परमार्थ मे अथवा ससार और निर्वाण मे तनिक भी अन्तर नहीं है–

निर्वाणस्यच या कोटि कोटि ससरणस्य च।
न तयोरन्तर किचित्सुसूक्ष्मपि विद्यते।। १

मध्यमकशास्त्र २५,२

नागर्जुन यह बात भले ही मानते हो कि परमार्थ बुद्धिगम्य नही है किन्तु वे इसे अनुभवातीत नही मानते अपितु बोधिगम्य मानते है।

बुद्धिविकल्पो की क्षमता का ज्ञान होने पर तथा सर्वदृष्टिप्रहाण होने पर हमे जिस प्रज्ञा (प्रज्ञापारमिता) का साक्षात्कार होता है वहॉ विषयी और विषय द्रष्टा और दृश्य ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत का अन्त हो जाता है और सर्वत्र अद्वयतत्व की अनुभूति होती है। इसे प्रज्ञा शून्यता भूततथता चाहे जिस नाम से पुकारे एक ही तत्व का दर्शन होगा। प्रज्ञा को शून्यता इसलिए कहते है कि यह अवस्था पालेने पर उस परमार्थ का साक्षात्कार होते हैं जो सभी दृष्टियो से शून्य है। और यह प्रज्ञा न केवल सैद्धान्तिक चेतना का चरमोत्कर्ष है अपितु साधनाजन्य चेनता और धार्मिक चेतना का भी। नागार्जुन का कथन है कि मोक्ष या निर्वाण कर्म और क्लेश का अन्त है जो विकल्प और तज्जन्य प्रपच से उत्पन्न होते है और शून्यता का बोध होते ही विकल्प और प्रपच का अन्त हो जाता है।

कर्मक्लेशक्षयान्मोक्ष कर्मक्लेशा विकल्पत ।
ते प्रपचात्प्रपचस्तु शून्यताया निरुध्यते।।

मध्यमकशास्त्र १८ ५

इस प्रकार शून्यता या प्रज्ञा अद्वयज्ञान के रूप मे हमे समस्त कलेशो से मुक्त करती है। यही हमारी साधना का गन्तव्यहै और यही निर्वाण है जो परम स्वतत्रता की अवस्था है। और यही द्वन्द्वन्याय प्रज्ञापारमिता के रूप मे तथागत (धर्मकाय) है जो सभी प्राणियो का सहज रूप है। किन्तु इसकी अनुभूति कठिन तपश्चर्या पारमिताओ के अभ्यास और दशभूमियो की साधना से सभव होती है। और इसके परिणामस्वरूप सभी प्राणी बुद्धकाय मे विलीन हो जाते है नागार्जुन के शब्दो मे–

बुद्धाना सत्वधातोश्च येनाभिन्नत्वमर्थत ।
आत्मनश्च परेषा च समता तेन ते मता।।

चतु स्तव–बोधिचर्यावतार पजिका पृ० ५६०

नागार्जुन ने न केवल चतुष्कोटि न्याय को चरमोत्कृष्ट रुप मे विकसित किया अपितु उसके द्वारा दार्शनिको के सभी सिद्धान्तो का खण्डन भी किया गया है। उनका सम्पूर्ण मध्यमकशास्त्र उनके द्वन्द्वन्याय का प्रयोग है जिसका विवेचन अगले अध्याय मे किया जाएगा।

सदर्भ

१ आई० फ्रोलोव द्वारा सम्पादित डिक्शनरी ऑव फिलासफी पृ० १०६

२ चैम्बर्स टयवेन्टियथ सेन्चरी डिक्शनरी पृ० २८८

३ द सेन्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० १२४

४ मानविकी पारिभाषिक कोश (दर्शन खण्ड) सम्पादक प्रो० वी० एस० नरवणे राजकमल प्रकाश दिल्ली पृ० ६५।

५ जेलर हिस्ट्री ऑव ग्रीक फिलॉसफी भाग १ पृ० ६१३

६ ग्रीक दर्शन पृ० ४२–४८

७ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० १२४

८ वही पृ० १२६

६ स्याद्वाद रत्नाकर स्याद्वाद मजरी और प्रमेयकमल मार्तण्ड मे इसका अच्छा विवेचन है।

१० द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० १२८

११ चतु शतक १४–२१

१२ अभिसमयालकारालोचक पृ० ६१ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० १२६

१३ माधवाचार्य सर्वदर्शन सग्रह

१४ समाधिराजसूत्र ६ २८ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० १२६

१५ द सेण्ट्रल १ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारिमता पृ० ८१

१६ आचार्यो भूयसा प्रसगापत्ति मुखेनैव परपक्ष निराकरोतिस्म मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० ६४ प्रसगसाधन च न स्वपक्ष स्थापनायोपादीयते किन्तु परस्यानिष्टापादनार्थम परानिष्ठ च तदभ्यूपगम् सिद्धैरेव धर्मादिभि शवयम अपादयितुम– न्यायकन्दली पृ० १६७ न्यायसूत्र १ १ ३

१७ न स्वत उत्पद्यन्ते भावा तद्उत्पादवैयर्ध्यात् अतिप्रसगदोषाच्च। मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० ११४

१८ न परत उत्पद्यन्ते भावा सर्वत सर्वसभव प्रसगात वही पृ० ३६।

१६ परस्पर विरुद्ध हि सच्चा सच्चैकत कुत । मध्यमकशास्त्र ८ ७

भवेद भावो भावश्च निर्वाणम् उभय कथम।

न तयोरेकत्रास्तित्वम् आलोक तमसो र्यथा वही १५ १४

विधान प्रतिसेधौ हि परस्पर विरोधिनौशक्यावेकत्र नो कर्तु केनचित् स्वस्थ चेतसा।। तत्वसग्रह १७ ३०

२० हेतुरस्तीति वदन् सहेतुकम्

ननु प्रतिज्ञा स्वयमेव शातयेत्।

अथापि हेतु प्रणयालसो भवेत्

प्रतिज्ञया केवलयास्य कि भवेत्।।

बोधिचर्यावतार पञ्जिका पृ० ५४४ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० १३५

२१ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० १३६

२२ मध्यमकशास्त्र १५ ३

अध्याय—५

द्वन्द्व-न्याय (प्रसग) का प्रयोग

मध्यमकशास्त्र (मूल माध्यमिक कारिका)

जैसा आचार्य नागार्जुन के जीवनी के प्रसग मे निरुपित किया गया है कि वे बहुत ही सिद्धहस्त लेखक थे तथा उनकी लेखनी द्वारा अनेक ग्रथो की रचना हुई है। उनमे मध्यमक शास्त्र अथवा मूलमाध्यमिककारिका का स्थान सर्वोपरि है। इसी ग्रन्थ के आधार पर नागार्जुन का दर्शन और उसकी सम्पूर्ण परम्परा ही माध्यमिक दर्शन के नाम से जानी जाती है। उस पर चार सौ वर्षो बाद चन्द्रकीर्ति नाम के महान दार्शनिक ने मध्यमवृत्ति या प्रसन्नपदा नाम की टीका लिखी जिसका लक्ष्य नागार्जुन के दर्शन को उसके वास्तविक रूप मे प्रकट करना था तथा अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक भव्य या भावाविवेक की मध्यमक शास्त्र पर मध्यमक हृदयवृत्ति तर्क ज्वाला की ज्वाला से दग्धमान बौद्धो को नागार्जुन के सदुपदेश का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर शान्तिप्रदान करना था। इसलिए नागार्जुन के साथ उनके वृत्तिकार चन्द्रकीर्ति की वृत्ति (प्रसन्नपदा) का भी उपयोग किया गया है। नागार्जुन ने इस ग्रन्थ के २६ अध्यायो (प्रकरणो) मे अपने द्वन्द्वन्याय (प्रसग—तर्कणा—पद्वति) – चतुष्कोटिनय द्वारा समस्त दार्शनिक सप्रत्ययो (विशेषकर स्थविर वाद—हीनयान) का खण्डनकर परोक्ष रूप से अपनी दार्शनिक स्थिति (शून्यवाद) को स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

मध्यमकशास्त्र मे निम्नलिखित २७ अध्याय है–

१ प्रत्यय परीक्षा

२ गतागत परीक्षा

३ चक्षुरादीन्द्रिय परीक्षा

४ स्कन्ध परीक्षा

५ धातु परीक्षा

६ रागरक्त परीक्षा

७ सस्कृत परीक्षा

८ कर्म कारक परीक्षा

९ पूर्व परीक्षा

१० अग्नीन्धन परीक्षा

११ पूर्वापर कोटि परीक्षा

१२ दु ख परीक्षा

१३ सस्कार परीक्षा

१४ ससर्ग परीक्षा

१५ स्वभाव परीक्षा

१६ बन्धनमोक्ष परीक्षा

१७ कर्म फल परीक्षा

१८ आत्म परीक्षा

१९ काल परीक्षा

२० सामग्री परीक्षा

२१ सभव–विभव परीक्षा

२२ तथागत परीक्षा

२३ विपर्याय परीक्षा

२४ आर्यसत्य परीक्षा

२५ निर्वाण परीक्षा

२६ द्वदशाग परीक्षा

२७ दृष्टि परीक्षा

अत सक्षेप मे उपर्युक्त अध्यायो मे निरुपित दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

१ प्रत्ययपरीक्षा इस अध्याय मे कुल १६ कारिकाए है यहॉ भगवान बुद्ध और प्रतीत्यसमुत्पाद के गुणो मे तादात्म्य दिखाकर प्रतीत्यसमुत्पाद के उपदेष्टा भगवान बुद्ध को प्रणाम किया है। इसके अनन्तर सत्कार्यवाद असतकार्य आदि वस्तुओ की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तो का खण्डन किया गया है। चन्द्रकीर्ति ने मध्यमकावतार चतु शतक विग्रह व्यावर्तनी ललित विस्तर समाधिराज आर्य रत्नकूट लोकास्तीस्तव शून्यतासप्तति और आर्यरत्नाकर सूत्र आदि ग्रन्थो की सहायता से नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का समर्थन किया है।

इस अध्याय का शुभारभ भगवान बुद्ध की वन्दना से होता है।[1]–

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम

अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम।।[1]।।

य प्रतीत्यमुत्पाद प्रपञ्चोपशम शिवम्।

देशयामास सबुद्धस्त वन्दे वदतावरम्।।[2]।।

बुद्ध के स्वरूप तथा प्रतीत्यसमुत्पाद मे तादात्म्य का सम्बन्ध है। उनके स्वरूप को निम्नलिखित आठ विशेषणो से प्रदर्शित किया गया है। वे अनिरोध है अनुत्पाद है अनुच्छेद है अशाश्वत है अनेकार्थ अनानार्थ अनागम और अनिर्गम है।

चन्द्रकीर्ति उपर्युक्त विशेषणो की व्याख्या निम्नलिखित रूप मे करते है–

निरोध क्षणभगता है किन्तु तत्त्व मे क्षणभगता नही है अत वह अनिरोध है। उत्पाद अपने भाव का उन्मज्जन (प्राकटय) है तत्त्व मे आत्मभावोन्मज्जन नही है अत वह अनुत्पाद है। उच्छेद सन्तानप्रबन्ध (प्रक्रिया) का विच्छेद है किन्तु तत्व मे यह विच्छेद नही है अत वह तत्त्व (बुद्ध) अनुच्छेद है। शाश्वतिकता सार्वकालिक स्थाणुता (स्थिरता) है परन्तु तत्त्व मे यह स्थाणुता नही है अत वह अशाश्वत है।[2] तत्व मे नानार्थता और अनानार्थता दोनो विकल्प नहीं है। अत वह अनेकार्थम अनानार्थम है। तत्व मे आगम और निर्गम द्वन्द्व के ये दोनो पहलू नही लागू होते अत वह अनागम और अनिर्गम है।[3]

चन्द्रकीर्ति प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या करते हुए कहते है कि यह हेतु प्रत्ययो की अपेक्षा कर भावो की उत्पत्ति का नियम है। भावो (वस्तुओ) की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अहेतुवाद एकहेतुवाद विषमहेतुवाद आदि भिन्नवाद है। इन वादो का वे खण्डन करते है और कहते है कि इन वादो के निषेध से पदार्थो का सावृत रूप प्रकट होता है और यह सिद्ध होता है कि आर्य ज्ञान की दृष्टि से पदार्थ स्वभावत अनुत्पन्न है। अत प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थो मे निरोधादि नही है।[4]

प्रश्न उठता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का स्वरूप क्या है? यह व्यावहारिक है या पारमार्थिक? प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा व्यावहारिक जगत् का निषेध उपर्युक्त आठ विशेषणो द्वारा किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद मे न निरोध होता है न उत्पाद न उच्छेद होता है न शाश्वतस्थिति। विरुद्ध धर्मो का निषेध प्रतीत्यसमुत्पाद की अतर्क्यता घोषित करता है। तर्कबुद्धि प्रत्येक पदार्थ को धर्म विशेष से विशेषित कर उसके विपरीत धर्म से उसकी व्यावृत्ति करती है।

इस दृष्टि से जो वस्तु एक नही है उसे अनेक होना चाहिए जो उच्छिन्न नही होती उसे शाश्वत होना चाहिए। किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद मे इस प्रकार का तक्र नही लगता। इसका कारण यह है कि शून्य मे विशेषण लगा देने से शून्यगुणित अको के तुल्य विशेषणो का विरोध भी शून्यसात् हो जाता है। आचार्य गौड पाद ने कहा है कि मायामय बीज से उत्पन्न हुआ मायामय अकुर न शाश्वत कहा जा सकता है और न नश्वर।[5]

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि प्रतीत्यसमुत्पाद व्यवहार का पारमार्थिक स्वरूप है व्यावहारिक स्वरूप नही अर्थात् व्यवहार मे निरोध उत्पाद आदि वस्तुत होते है किन्तु परमार्थत इनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। नागार्जुन के शब्दो मे यदि वस्तुओ का कोई स्वभाव स्वीकार करे तो व्यवहार ही नही चल सकता क्योकि स्वभाववान् वस्तु न उत्पन्न हो सकती है और न उत्पन्न कर सकती है और परिणामस्वरूप तब कोई क्रिया भी सभव नहीं है। दूसरे शब्दो मे व्यवहार मे उत्पाद निरोधादि है और यह होना ही इस बात का द्योतक है कि व्यवहार जगत नि स्वभाव है।

इसके बाद हम प्रपञ्चोपशम का विवेचन करेगे।

प्रपञ्चोपशम मे प्रपच शब्द का अर्थ वाक (वाणी) अथवा उसके द्वारा प्रतिपाद्य समस्त अभिधेय मण्डल समझना चाहिए। इस प्रकार प्रपञ्चोपशम का अर्थ सर्ववाग विषय का अतिक्रमण होता है। चित्तचैत्त की अप्रवृत्ति तथा ज्ञानज्ञेय व्यवहार की निवृत्ति होने पर जाति जरामरण आदि सम्पूर्ण उपद्रव के अभाव के कारण प्रतीत्यसमुत्पाद को शिव कहा गया है। अनिरोध आदि विशेषण न केवल प्रतीत्यसमुत्पाद की अतर्क्यता सूचित करते है अपितु उत्पाद निरोध एकत्व अनेकत्व तथा गमनागमन आदि तर्कबुद्धिसुलभ धर्मो की अपारमार्थिकता भी द्योतित करते है। सक्षेप मे लौकिक बुद्धि द्वारा विकल्पित उत्पादनिरोधयुक्त जगत की अपारमार्थिकता तथा परमार्थ की अवाच्यता दोनो ही प्रतीत्यसमुत्पाद से सूचित होते है। यही शून्यवाद का सार है और माध्यमिक कारिकाओ के प्रारम्भ मे ही इस प्रकार निर्दिष्ट है।[6]

आचार्य नरेन्द्र देव के शब्दो मे इन विशेषणो से निर्वाण की सर्वप्रपचोपशमता एव उसका शिवत्व बोधित होता है। यह मध्यमशास्त्र का प्रतिपाद्य एव प्रयोजन है।[7] हेतु प्रत्ययो की अपेक्षा करके ही सकल भावो (पदार्थ) की उत्पत्ति होती है। आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते है कि इस नियम को प्रकाशित कर भगवान ने भावो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वादियो के विभिन्न सिद्धान्तो का अहेतुवाद एकहेतुवाद विषमहेतुवाद आदि का निराकरण किया है। इसलिए विभिन्न वादियो का स्वकृतत्व पर कृतत्व स्वपरोमय कृतत्व का सिद्धान्त निषिद्ध हो जाता है। इन वादो के निषेध से वस्तुत पदार्थो का सावृत (अयथार्थ) रूप उद्भावित होता है और यह सिद्ध होता है कि आर्यज्ञान की दृष्टि से पदार्थ स्वभावत अनुत्पन्न है। अत प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थो मे निरोधादि नहीं है।

आर्य जब प्रतीत्यसमुत्पाद का उक्त विशेषणो से ज्ञान कर लेता है तब स्वभावत उसके प्रपचो का उपशम होता है। इसलिए नागार्जुन प्रतीत्य समुत्पाद का विशेषण प्रपचोपशम देते है। वह शिव है इसलिए कि वहॉ चित्तचैत्त अप्रवृत्त है। ज्ञानज्ञेय व्यवहार निवृत्त है। इसलिए तत्व जातिजरामरणादि उपद्रवो से रहित है। पूर्व अभिहित विशेषणो से विशिष्ट प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना ही मध्यमकशास्त्र का अभीष्टार्थ है। भगवान बुद्ध ने ही इसे अवगत कराया है। अत उनके लिए अविपरीतार्थवादित्व (सत्यवक्ता होने से) आचार्य प्रसादानुगत होकर उन्हे वदतावर आदि अनेक विशेषणो से विशेषित करते है और प्रणाम करते है।[६]

पदार्थो की उत्पत्ति का खण्डन आचार्य नागार्जुन अजातिवाद की गम्भीर शखध्वनि से अपना ग्रन्थ प्रारम्भ करते है। प्रथम कारिका मे ही वे अपना सिद्धान्त स्पष्ट कर देते है कि कोई भी पदार्थ कभी कही और कदापि नही उत्पन्न हो सकता। कोई पदार्थ न अपने आप (स्वत) उत्पन्न हो सकता है न दूसरे के कारण (परत) न अपने और दूसरे दोनो के कारण (द्वाभ्या) और न बिना कारण (अहेतुत)[७]

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्या नाप्यहेतुत ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा क्वचन केचन।। मध्यमकशास्त्र १३

कोई भी भाव स्वत नहीं उत्पन्न हो सकता क्योकि यदि कार्य अपने कारण मे पहले से ही स्थित है (सत्कार्यवाद) तो वह कार्य पहले ही एक उत्पन्न और विद्यमान पदार्थ है जिसकी पुनरुत्पत्ति मानना व्यर्थ है और यदि अपने कारण मे पहले ही स्थित नही है (असत्कार्यवाद) तो वह कार्य कदापि उत्पन्न नही हो सकता क्योकि वह वन्ध्यापुत्र और शशश्रृग की भाति असत् है। अत सिद्ध है कि कोई भाव स्वत नही उत्पन्न हो सकता। और जब कोई भाव अपने आप ही नही उत्पन्न हो सकता तो दूसरे के कारण कैसे उत्पन्न हो सकता है। यदि यह कहा जाए कि कोई भाव स्वत और परत दोनो के कारण उत्पन्न होता है तो यह युक्ति विरुद्ध है क्योकि प्रकाश अन्धकार की भॉति स्वत और परत दोनो एक साथ एक स्थान मे कभी नही रह सकते। एव किसी भाव की अहेतुक उत्पत्ति निश्चय ही असभव है। अत जाति असभव है।[११]

उत्पादवाद के सामान्यसिद्धान्त के खण्डन के अनन्तर नागार्जुन हीनयानियो के विशिष्ट सिद्धान्त प्रत्ययवाद अथवा कारणवाद की समीक्षा करते है। हीनयानियो की दृष्टि मे किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए चार बातो (प्रत्यय) का होना अनिवार्य है–

१ हेतु या उत्पत्ति का कारण

२ आलम्बन या विषय

३ समनन्तर–उत्पत्ति के पूर्व का क्षण

४ अधिपति प्रत्यय या निर्णायक नियम

नागार्जुन इसका खण्डन करते है–

कारण की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उसका कोई सत्व हो किन्तु जब कोई सत या असत पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हो सकता तो फिर कारण का सत्व कैसे उत्पन्न हो सकता है? तथा सत्वहीन कारण असभव है। अत हेतु असिद्ध है। आलम्बन भी असिद्ध है क्योकि विषय के लिए आवश्यक है कि पहले विषयी विद्यमान हो और जब विषयी विषय से पूर्व विद्यमान है तो फिर वाद मे वह कैसे विषय का आश्रय हो सकता है।

समनन्तर भी असिद्ध है। क्योकि जब किसी भाव की कभी भी और कहीं भी उत्पत्ति ही नही हो सकती तो उत्पत्तिपूर्व क्षण कैसे सिद्ध हो सकता है? हीनयानी यह मानते है कि प्रथमकारण क्षण द्वितीय कारण क्षण को जन्मदेकर स्वय नष्ट हो जाता है। किन्तु जब उत्पाद ही सिद्ध नहीं तो विनाश कैसे सिद्ध होगा और यदि यह मान लिया जाय कि विनाश सभव है तो यह समझ मे नही आता कि स्वय विनष्ट कारण–क्षण कार्य क्षण को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है? यदि बीज ही नष्ट हो जाए तो वृक्ष कैसे उत्पन्न होगा? अस्मिन सति इद भवति– कारण के होने पर कार्य होता है– यह अधिपति प्रत्यय या निर्णायक नियम है ऐसा हीनयानियो का मत है। किन्तु जब जगत के समस्त पदार्थ सापेक्ष और मिथ्या है तथा मिथ्या होने से न इनका उत्पाद हो सकता है और न निरोध तो यह निर्णायक नियम स्वय व्यर्थ हो जाता है। अत अधिपतिप्रत्यय भी असिद्ध है। अत इससे यह सिद्ध होता है कि इन चारो प्रत्ययो से न तो पृथक–पृथक रूप मे और न सयुक्त रूप मे कोई कार्य उत्पन्न हो सकता है। और यदि इन प्रत्ययो द्वारा ही कार्य नही उत्पन्न हो सकता तो फिर किसके द्वारा कार्य उत्पन्न हो सकता है? यदि कार्य को कारण मे विद्यमान माना जाए अर्थात यदि सत्कार्यवाद स्वीकार किया जाए तो दूध को ही दही और धागो को ही वस्त्र मानना पडेगा। यदि कारण मे कार्य को विद्यमान न माना जाए अर्थात यदि असत्कार्यवाद का आश्रय लिया जाए तो किसी से भी किसी की उत्पत्ति हो सकती है। ऐसी स्थिति मे जल से दही और घास से भी ऊनी वस्त्र की उत्पत्ति माननी पडेगी। अत न उत्पत्ति है न उत्पाद न निरोध। कार्य और कारण दोनो ही सापेक्ष है। सापेक्ष होने से स्वत सिद्ध नही और स्वत सिद्ध होने से इनकी कोई अपनी सत्ता अपना कोई स्वभाव नही। और अपना स्वभाव न होने स ये नि स्वभाव या स्वभाव शून्य है। और स्वभावशून्य होने से मिथ्या है सत्य नही।[१२]

२ **गतागत परीक्षा** इस अध्याय मे कुल २५ कारिकाए हैं। चन्द्रकीर्ति ने ललितविस्तर और समाधिराजसूत्र आदि ग्रन्थो की सहायता से इन कारिकाओ मे प्रतिपादित सिद्धान्त की व्याख्या की है।

मध्यमकशास्त्र मे अभिधेयार्थ अनिरोधादि आठ विशेषणो से युक्त प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना है। उसकी सिद्धि भावो के उत्पाद–प्रतिषेध से प्रथम अध्याय मे की जा चुकी है। किन्तु भावो का अध्वगत (कालिक) आगम–निर्गम लोक मे सिद्ध है जिससे भावो की नि स्वभावता पुन सन्दिग्ध हो जाती है। इस सन्देह की निवृत्ति करना और उसके द्वारा आगम–निर्गम से रहित प्रतीत्यसमुत्पाद की सिद्धि करना अपेक्षित है इसके लिए नागार्जुन इस अध्याय मे अनेक उपपत्तियो से गमनागमनक्रिया का निषेध करते है।[१३]

गति गता और गन्तव्य का निषेध गत् मार्ग पर गमन नहीं हो सकता क्योकि वह पहले ही गत हो चुका है। अगत मार्ग पर भी गमन नहीं हो सकता क्योकि वह तो अगत है। गतागत मार्ग की कल्पना स्पष्टत असगत है। तथा ऐसा मार्ग जो न गत है और न अगत है निश्चय ही असभव है। अत गति असिद्ध है। गन्ता मे गति नही हो सकती अगन्ता मे गति होने का सवाल ही नही उठता और गन्ता तथा अगन्ता दोनो से भिन्न किसी तीसरे पदार्थ मे गति की कल्पना ही नही की जा सकती। अत गति गन्ता और गम्यस्थल तीनो आपेक्षिक होने के कारण असत्य हैं।[१४]

नागार्जुन के अनुसार गमन क्रिया की सिद्धि गत या गम्यमान अध्व मे ही सम्भव है। किन्तु गत अध्व का गमन असिद्ध है क्योकि वह गमन क्रिया से उपरत अध्व है। इसलिए वर्तमान कालिक गमन क्रिया से उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। (गत न गम्यते)। अगत अध्व का भी गमन सभव नही क्योकि अगत मे गमन क्रिया उत्पन्न नहीं है। इसी प्रकार गम्यमान का भी गमन नही हो सकता क्योकि गत और अगत के बीच कोई अध्व ही नही बचता।[१५]

पुनश्च नागार्जुन दूसरा तर्क देते जैसे कि यदि गम्यमान गन्तव्य (अध्व) मे गमन क्रिया माने तो गमन के पूर्व ही गन्तव्य अध्व को गम्यमान मानना पडेगा। ऐसी स्थिति मे या तो दो गमन मानने पडेगे अथवा गति के अभाव मे भी गम्यमानता की सिद्धि माननी पडेगी।

परमाणुवाद के आधार पर नागार्जुन गति को पुन असिद्ध करते है उनके अनुसार पैर परमाणुओ मे अन्तत विभाज्य है। पैर को परमाणुओ मे विभक्त कर वे तर्क करते है कि उसका कुछ भाग गत और शेष कुछ भाग अगत अध्व है। परिणामत उसमे गतिमयता नहीं है। वे गमन क्रिया का निषेध करते हुए कहते है

कि गमन को गन्ता से या तो अभिन्न मानना पडेगा या भिन्न। यदि अभिन्न मानते है तो कर्ता और क्रिया मे अभेद मानना पडेगा और यदि भिन्न माने तो गन्ता घट पटादि के समान गमननिरपेक्ष होगा।[१६]

आलोचना

नागार्जुन की यह आपत्ति कर्त्ता के स्वरूप को अस्पष्ट छोड देने के कारण है। गमन क्रिया शरीर मे होती है और शरीर इस दृष्टि से घट और पट आदि के समान ही है जिसमे गमन क्रिया हो भी सकती है और नही भी हो सकती। उदाहरण के लिए देवदत्त जब गमन क्रियावान है तो गन्ता (गन्तृ) है और जब गमन क्रियावान नही है तो गन्ता (गन्तृ) भी नहीं है और देवदत्त का सदैव गन्तृ (गन्ता) होना आवश्यक भी नही है वह स्थातृ (स्थाता) भी हो सकता है और होता है।[१७]

नागार्जुन की गतिविषयक युक्ति की तुलना जेनो से आशिक रूप मे की जा सकती है किन्तु नागार्जुन का उद्देश्य गति का मात्र विरोधाभास प्रदर्शन नहीं था अपितु उस की अतत्वता का प्रदर्शन था इसलिए ये युक्तियॉ जेनो की अपेक्षा अनेकपक्षीय और अधिक व्यापक है। इन युक्तियो के आधार पर नागार्जुन का निष्कर्ष है कि इसलिए न गति है न गन्ता और न गन्तव्य। चन्द्रकीर्ति इस कारिका[१] की व्याख्या आर्य अक्षयमतिसूत्र को उद्धत करके करते है जो इस निषेध की उभयपक्षता प्रदर्शित करता है। बुद्ध कहते है ये भक्त शारद्वतीपुत्र! चरण का सकर्षण अगति है चरण का निष्कर्षण गति है किन्तु जहॉ न सकर्षण–पदत्व है न निष्कर्षण पदत्व वह आर्य (बुद्ध) का पद है।

अपद योग से ही आर्य की गति है जो वास्तव मे अगति और अनागति है।[१९]

बुद्ध की गति विषयक यह व्याख्या व्यवहार और परमार्थ का भेद करने वाले किसी भी व्यक्ति को स्वीकार्य होगी क्योकि गति व्यवहार जगत का विषय है और बुद्ध परम परमार्थ है। किन्तु नागार्जुन गति का निषेध केवल परमार्थ मे ही नही अपितु व्यवहार मे भी करते है जो युक्तिसगत नहीं जान पडता।[२]

३ **चुक्षुरादीन्द्रिय परीक्षा** इस अध्याय मे नागार्जुन ने दर्शन द्रष्टा और द्रष्टव्य तीनो का खण्डन किया है। इस अध्याय मे कुल ६ कारिकाए है। चन्द्रकीर्ति ने चतु शतक ललित विस्तर और आर्योपालिपृच्छा आदि ग्रन्थो की सहायता से नागार्जुन के सिद्धान्त को स्पष्ट किया है।

इस अध्याय का उद्देश्य यह है कि लोग भगवान् के प्रवचन को आधार बनाकर भी भावो का अस्तित्व न सिद्ध कर सके।[31] सर्वास्तिवादी छ इन्द्रियो (द्रष्टा) और उनके विषयो (द्रष्टव्य) का अस्तित्व मानते है। प्रथम–दर्शन अर्थात् चक्षु जब अपने रूप को नही देख सकता तब वह नील पीतादि विषयो के रूप को कैसे देख सकता है जैसे श्रोत्र (कान) आदि इन रूपो को नही देख सकते।

द्वितीय पुनश्च दर्शन किसका दर्शन करता है? दृष्ट का अदृष्ट का या कि दृश्यमान का। दृष्ट देखा जा चुका है अत उसका दर्शन निरर्थक है। अदृष्ट का दर्शन असभव है क्योकि अभी उसका अस्तित्व ही नही है और दृष्ट–अदृष्ट के अभाव मे तीसरा विकल्प सभव ही नही है।

तृतीय पुन प्रश्न उठता है कि दर्शन क्या है? दर्शन वह है जो देखता है। अब इस दर्शन क्रिया के साथ दर्शनस्वभाव चक्षु का सम्बन्ध है या अदर्शनस्वभाव चक्षु का दर्शन स्वभाव चक्षु का पश्यति के साथ सम्बन्ध सभव नही क्योकि तब दो दर्शन क्रियाए तथा दो दर्शन मानने होगे। यदि यह कहा जाए कि दर्शन क्रिया से अदर्शनस्वभाव चक्षु का सम्बन्ध होता है तो भी ठीक नही तब स्तम्भ आदि अन्य अदर्शन स्वभाव वस्तुओ का भी दर्शन क्रिया के साथ सम्बन्ध सभव होगा।[32]

आलोचना

इस युक्ति के विरुद्ध यह प्रश्न उठता है कि विषयो के रूप को देखने के लिए अपना रूप देखने की योग्यता क्यो आवश्यक है?

वस्तुत इस युक्ति का यह आधार प्रतीत होता है कि इन्द्रिय और विषय मे सयोग सम्बन्ध होता है जो कि बाह्य सम्बन्ध है और इसके लिए इन्द्रिय मे कोई विशेषता होनी चाहिए और वह है आत्मरूप की दृश्यमानता। इसलिए यदि दर्शनेन्द्रिय मे आत्म–दर्शन–योग्यता या गुण अर्थात् रूप से आन्तर सम्बन्ध नही है तो उसमे पर दर्शन–योग्यता या गुण भी नहीं हो सकता। यदि श्रोत्र मे आत्मश्रवण गुण नही है तो उसमे परश्रवण–गुण भी नही हो सकता। किन्तु यह तर्क युक्ति–सगत नहीं है। इन्द्रिय और विषय को परस्पर बाह्य वस्तुओ के रूप मे नहीं देखकर एक ही वस्त्र के दो कल्पित पक्षो (विज्ञप्ति और विज्ञप्त) के रूप मे देखना चाहिए। ऐसी अवस्था मे दर्शन (चक्षु) दृश्य से स्वतत्र दर्शन (चक्षु) नही होगा। पुनश्च यदि यह मान भी लिया जाए कि दर्शन (चक्षु) और दृश्य का बाह्य सम्बन्ध है तो भी परदर्शन के लिए आत्मदर्शन सामर्थ्य आवश्यक नहीं है क्योकि तब दर्शन या चक्षु परदर्शन (दृश्य) से ही चक्षु होगा और श्रोत्र पर–श्रवण से श्रोत्र।[33]

दर्शन के सम्बन्ध मे नागार्जुन की ये आपत्तियाँ इस धारणा पर आधारित है कि दर्शन (चक्षु) किसी वस्तु की सज्ञा है। किन्तु इन्द्रियो को वस्तुओ के रूप मे नही देखकर चैत्त फलनो– फक्शस के रूप मे देखना चाहिए जिन्हे हम वाग्व्यवहार मे एक प्रसग मे वस्तु दूसरे मे गुण और तीसरे मे क्रिया कह सकते है।[२४]

द्रष्टा का खण्डन– दर्शन की भाति वे द्रष्टा का भी खण्डन करते है और निम्नलिखित तर्क देते है –

१– द्रष्टा जब स्वय का दर्शन नही कर सकता तो वह अन्य का दर्शन क्या करेगा।

२ पुनश्च द्रष्टा का सद्भाव (अस्तित्व) मानने पर प्रश्न उठता है कि वह दर्शन सापेक्ष है या दर्शन निरपेक्ष? यदि दर्शन सापेक्ष है तो प्रश्न उठता है कि यह अपेक्षा सिद्ध द्रष्टा की है या असिद्ध द्रष्टा की? सिद्ध द्रष्टा को दर्शन की पुन अपेक्षा व्यर्थ है। असिद्ध द्रष्टा वन्ध्या पुत्र की भाँति स्वय असिद्ध है इसलिए वह दर्शन की अपेक्षा ही क्या करेगा?[२५]

किन्तु ये आपत्तियाँ निराधार है–

१ यद्यपि द्रष्टा चक्षु के समान ही अपने रूप का दर्शन नही कर सकता क्योकि चक्षु के समान वह भी रूप रहित है किन्तु ज्ञाता चक्षु से भिन्न जानने के एक अर्थ मे अपने को जान सकता है उदाहरण के लिए यह एक युक्तवाक्य है मुझे यह ज्ञात है कि मै अभी सो रहा था।

२ दूसरी आपत्ति भी निराधार है। द्रष्टा के दर्शन–सापेक्ष या निरपेक्ष होने का कोई प्रश्न नही उठता क्योकि दर्शन और द्रष्टा मे अभेद है।[२५]

४ **स्कन्ध परीक्षा** इस अध्याय मे कुल ६ कारिकाए (श्लोक) है। चन्द्रकीर्ति ने इनकी व्याख्या करते समय चतु शतक समाधि राजसूत्र तथा नागार्जुन के ग्रन्थ आर्य रत्नावली की सहायता ली है। इस अध्याय मे नागार्जुन ने रूपस्कन्ध के अस्तित्व का खण्डन किया है। वे कहते है कि यदि रूप भौतिक है तो चार महाभूत उनके कारण होगे क्योकि कारण के बिना कुछ नही हो सकता।[२६] किन्तु यदि रूप का कारण माने तो प्रश्न यह होगा कि यह कारण सत्–रूप का है अथवा असत्–रूप का? यदि रूप के सत होने पर उसका कारण माने तो सत (विद्यमान) कार्य को कारण से कोई प्रयोजन नहीं है (उत्पन्न को उत्पादक की अपेक्षा नही है) और यदि रूप असत् है तो उसका कारण नही हो सकता–अविद्यमान कार्य का कारण कैसे होगा?

प्रतिवादी यहाँ नागार्जुन के प्रश्न की समीक्षा करते हुए उनसे प्रश्न करता है कि आप यह आपत्ति कारण कार्य सम्बन्ध पर कर रहे हैं या कि उसकी अवधारणा के एक पक्ष पर? यदि आप की कठिनाई यह है कि कारण–कार्य एक साथ नहीं हो सकते और सम्बन्ध के दोनो पदो का एक साथ होना आवश्यक है तो

आपकी प्रतिज्ञा यह नहीं है कि कारण–कार्य सम्बन्ध असत है अपितु यह है कि इसका स्वरूप सम्बन्ध की अवधारणा के अनुरूप नही है। किन्तु ऐसी अवस्था मे यही कहा जाएगा कि आपकी सम्बन्ध की अवधारणा मे अल्प–व्याप्ति दोष है जिसका एक प्रमाण यह है कि यह कार्य कारण–सम्बन्ध पर व्यापक नही है। दूसरा समाधान यह है हो सकता है कि कार्य–कारण दो स्वतन्त्र पद नही है और परिणामत इनमे कोई सम्बन्ध नही होता। ये एक प्रक्रिया मे व्यावहारिक सुविधा के लिए पृथक्कृत या उद्गृहीत दो स्थितियॉ है। प्रक्रिया काल–क्रमात्मक उत्पन्न–विनष्टात्मक होती है जिसमे प्रत्येक स्थिति युगपद् रूप से सदसद् और इस प्रकार सतत् होती है। यह सातत्य निष्पादन–निष्पत्ति रुप होता है। इसी का उद्ग्रहण द्वारा पृथक कर हम कारण–कार्य कहते है। बौद्ध इस सम्बन्ध को तदाश्रित्य तदोत्पत्ति रूप मानते है। इसलिए भूत और स्कन्ध की कारण–कार्यता के प्रसग मे नागर्जुन की आपत्ति का उत्तर निम्नलिखित है स्कन्धको की अपनी विद्यमानता मे ही भूत की आवश्यकता है और स्कन्ध की विद्यमानता मे ही भूत उसका कारण होता है। अनुत्पन्न स्कन्धो का भूत सभाव्य कारण होता है– अर्थात उसमे स्कन्धो की उत्पत्ति की योग्यता निहित रहती है।[२६]

५ **षड धातुओ का निषेध** इस अध्याय मे कुल ६ कारिकाए (श्लोक) है। चन्द्रकीर्ति ने इनकी व्याख्या करते समय आर्य रत्नावली और समाधिराजसूत्र से उद्धरण दिए है। इस अध्याय मे षडधातुओ (पृथ्वी वायु अग्नि जल विज्ञान आकाश) का नागार्जुन ने खण्डन किया है वे कहते है[२७] कि आकाश धातु अनावरण–लक्षण माना जाता है किन्तु यह तब हो जब अनावरण लक्षण के पूर्व लक्ष्य हो। किन्तु आकाश–लक्षण के पूर्व आकाश क्या होगा? यदि आकाश आकाश–लक्षण से पूर्व हो तो वह अवश्य अलक्षण होगा। किन्तु कोई भी भाव अलक्षण नही होता। पुन जब अलक्षण भाव की सत्ता नही है तो लक्षण की प्रवृत्ति कहॉ होगी। लक्षण स्वीकार करे तो यह प्रश्न होगा कि लक्षण सलक्षण मे प्रवर्तमान होगा या अलक्षण मे? अलक्षण शशश्रृग के समान है इसलिए उसमे प्रवृत्ति नही होगी। सलक्षण मे लक्षण की प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन नहीं है अन्यथा अतिप्रसग दोष होगा। सलक्षण और अलक्षण से प्राप्त लक्षण की प्रवृत्ति असभव है।

लक्षण की प्रवृत्ति न होने पर लक्ष्य की सत्ता सिद्ध नहीं होती क्योकि लक्षण की प्रवृत्ति न होने पर लक्ष्य की सभावना अवश्यमेव निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार लक्ष्य की उपपत्ति से लक्षण असभव है। लक्षण की असप्रवृत्ति से लक्ष्य अनुपपन्न होता है। इसलिए लक्ष्य–लक्षण बिनिर्मुक्त कोई भाव नही होगा। जब लक्ष्य–लक्षण निर्मुक्त भाव नहीं होता तो भाव की अविद्यमानता के आधार पर आकाश अभाव पदार्थ भी कैसे होगा। भावाभाव से अतिरिक्त कोई तृतीय पदार्थ नहीं है जो आकाश हो। जब लक्ष्य–लक्षण का अभाव है

तभी लक्ष्य–लक्षण रहित आकाश की सत्ता आकाश–कुसुम के समान असिद्ध होती है इसी प्रकार पृथिव्यादि पॉच धातुओ का भी अभाव है।

६ **रागरक्त परीक्षा** इस अध्याय मे कुल दस कारिकाए है। इनका विवेचन करते समय चन्द्रकीर्ति ने बौद्ध साहित्य के महायान सूत्र समाधिराज सूत्र से उद्धरण लिए है। यह अध्याय माध्यमिक दर्शन के विरोधी दर्शन से प्रारम्भ होता है। यहॉ प्रतिपक्षी यह बात बडी दृढता से कहता है कि माध्यमिक को स्कन्ध आयतन और धातु की सत्ता स्वीकार करनी पडेगी अन्यथा उसके आश्रित क्लेशो की उपलब्धि नही होगी। रागादि क्लेश सक्लेश–निबन्धन है। भगवान् ने कहा है – हे भिक्षुओ! बाल अश्रुतवान पृथग्जन प्रज्ञप्ति मे अनुपतित हो चक्षु से रूप को देखकर उसमे सौमनस्य का अभिनिवेश करता है अभिनिविष्ट होकर राग उत्पन्न करता है राग से रक्त होकर रागज द्वेषज मोहज कर्मो का काम वाक और मन से अभिसस्कार करता है। नागर्जुन इस का उत्तर निम्नलिखित प्रश्न के अनुसार देते हैं। वे कहते है कि पृथगजनो के द्वारा जिस राग की कल्पना होती है वह रक्त–नर या अरक्त नर मे पायी जाती है? उभय युक्त नही है। रक्त रागाश्रय है। राग के पूर्व भी यदि रक्त है तो वह अवश्य राग–रहित होगा। जब राग–रहितता है तभी उसका प्रतिपक्ष राग सिद्ध होता है किन्तु राग–रहित का होना सभव नही है अन्यथा अरक्त अर्हत को राग होगा। रक्त की असत्ता मे राग नहीं होगा अन्यथा राग निराश्रय होगा।[1]

नागार्जुन के विरोधी के अनुसार ये दोष राग–रक्त की पौर्वापर्य (पूर्वोत्तर) मानने से उत्पन्न होते है। इसलिए मै इनका सहोद्भव मानता हूँ। चित्त सहभूत राग से रजित होता है वही उसकी रक्तता है। माध्यमिक कहते है कि इस स्थिति मे राग–रक्त परस्पर निरपेक्ष होगे। पुनश्च राग और रक्त का सहभाव इनके एकत्व मे है या पृथकत्व मे? एकत्व मे सहभाव नही होगा क्योकि दोनो एक है। पृथक पदार्थो का भी सहभाव सर्वथा असिद्ध है। पुन एकत्व मे सहभाव हो तो बिना सहत्व के ही सहभाव होगा। इसी प्रकार पृथकत्व मे सहभाव मानने पर भी बिना सहत्व के सर्वथा पृथक गो–अश्वादि का सहभाव मानना पडेगा। पृथकत्व मूलक सहभाव की सिद्धि के लिए राग–रक्त का पृथकत्व सिद्ध होना चाहिए जो असिद्ध है। फिर यदि उनका पृथकत्व ही सिद्ध करना है तो उनके सहभाव की कल्पना क्यो करते है? पृथक–पृथक होने के कारण राग और रक्त की स्वरूप सिद्धि होगी इसलिए यदि आप सहभाव चाहते है तो पुन सहभाव के लिए उनका पृथकत्व मानना पडेगा और इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष होगा।

नागार्जुन के अनुसार राग–रक्त की सिद्धि न क्रमिक (पूर्वोत्तर) मानने से होगी और न एकसाथ मानने से। इसी प्रकार द्वेष द्विष्ट मोह–मूढादि की भी सिद्धि नही है।

७ **सस्कृत परीक्षा** इस अध्याय मे कुल ३४ कारिकाए है। यहाँ नागार्जुन ने समस्त सस्कृत धर्मो का खण्डन किया है। चन्द्रकीर्ति ने इनकी व्याख्या करते समय समाधिराजसूत्र चतु शतकम मज्झिम निकाय अगुत्तर निकाय आदि ग्रन्थो की सहायता ली है। नागार्जुन कहते है कि वैभाषिक या सर्वास्तिवादी। (१) स्कन्ध आयतन धातु को सस्कृत लक्षण मानता है। सस्कृत लक्षण का अर्थ है उत्पाद स्थिति भग का समाहार। अब प्रश्न है कि सस्कृत लक्षण का उत्पाद स्वय सस्कृत लक्षण है या कि असस्कृत लक्षण? यदि सस्कृत कहे तो उसे स्वय भी त्रिलक्षणी होना चाहिए क्योकि त्रिलक्षणी से सभी सस्कृत धर्मो का अव्यभिचार सबन्ध है इस प्रकार उत्पाद को त्रिलक्षणी ही होना चाहिए किन्तु तब वह लक्षण नही रह कर लक्ष्य हो जायेगा।[२६]

(२) दूसरा प्रश्न है कि ये लक्षण व्यस्त है या समस्त? ये व्यस्त नही हो सकते क्योकि तब एक काल मे तीनो के न रहने से त्रिलक्षणी नही होगी और समस्त भी नही हो सकते क्योकि एक ही क्षण मे इनकी विद्यमानता असम्भव है।

(३) सस्कृत लक्षण स्वय सस्कृत नही हो सकते क्योकि यदि उत्पादन का उत्पाद माने तो अनवस्था दोष होगा।

आलोचना वैभाषिक नागार्जुन के इन प्रश्नो का क्रमश उत्तर देते हुए कहता है कि उत्पाद सस्कृत लक्षणो को लक्षित करने वाले तीन लक्षणो मे से एक है इस प्रकार वह त्रिलक्षणात्मक लक्ष्य नही हो सकता परिणामत वह इस अर्थ मे सस्कृत भी नही हो सकता क्योकि वह सस्कृत धर्म का एक लक्षण है। नागार्जुन का यह प्रश्न ऐसा ही है जैसा कोई साख्य से प्रश्न करेकि सत्त्वगुण प्रकृति है या अप्रकृति? स्वभावत उसका उत्तर होगा कि सत्त्व प्रकृति नही होकर प्रकृतिगत है।

उत्पद्यमान के उत्पाद का निषेध वैभाषिक की यह अवधारण है कि उत्पाद उत्पद्यमान की उत्पत्ति करता है क्योकि घटोत्पत्ति–क्रिया की अपेक्षा से घट की उत्पद्यमानता प्रतीत होती है। नागार्जुन इसके विरुद्ध कहते है कि जब उत्पाद के पूर्व कोई अनुत्पन्न घट नही है तो उसकी उत्पत्ति क्रिया की अपेक्षा करके उत्पाद कहना ठीक नही है।[३] वैभासिक इसके विरुद्ध यह कहता है कि यद्यपि उत्पाद के पूर्व घट नहीं है तथापि घट उत्पन्न होकर घट सज्ञा का लाभ करेगा।

इसके उत्तर मे नागार्जुन कहते है कि आपका कथन सही नही है। जब उत्पाद क्रिया प्रवृत्त होती है तो उस समय का वर्तमान पदार्थ घट सञ्ज्ञा लाभ करता है किन्तु जब भाव अनागत है तो उससे क्रिया का सम्बन्ध ही नही हो सकेगा और परिणामत तद्विषयक क्रिया की प्रवृत्ति भी नही हो सकेगी। तब कौन घट उत्पन्न होकर घट–सञ्ज्ञा लाभ करेगा? क्रिया के अघट के आश्रित होने के लिए निश्चित करना होगा कि अघट क्या है? यह पट है या अभावमात्रता है? यदि प्रथम है तो समस्या दुहरी हो जायेगी। एक तो जो समस्याएँ घट की उत्पत्ति को लेकर है वे ज्यो की त्यो पट को लेकर होगी और दूसरी समस्या होगी कि उत्पद्यमान पट उत्पन्न होकर घट कैसे हो जाएगा?

पुनश्च आपके मत से उत्पद्यमान पदार्थ को उत्पाद उत्पादित करता है किन्तु तब प्रश्न होगा कि इस उत्पाद को दूसरा कौन उत्पाद उत्पन्न करेगा? यदि एक उत्पाद को उत्पन्न करने के लिए दूसरे उत्पाद की अपेक्षा है तो अनवस्था दोष होगा यदि उत्पाद स्वत उत्पन्न हो जाता है तब सभी कुछ स्वय क्यो नही उत्पन्न हो जाता? इस युक्ति को नागार्जुन और आगे बढाते हुए कहते है कि उत्पाद का विद्यमान (वर्तमान) से सम्बन्ध वृथा है क्योकि वह तो पहले से ही उत्पन्न है अनागत (भविष्य) से उसका सम्बन्ध हो नही सकता क्योकि जो है ही नही उससे सम्बन्ध कैसा? और तीसरी कोई कोटि ही नही है तब उत्पत्ति कैसे होगी क्या स्वत होगी? यदि यह माने तो अव्यवस्था होगी? क्योकि तब घट के बजाय पट और पट के बजाए घट उत्पन्न हो जाएगा। फिर उत्पाद को भी उत्पन्न होना चाहिए उसके लिए अन्य उत्पादक उत्पाद की अपेक्षा होगी। किन्तु ऐसा मानने पर अनवस्था होगी[31] जहॉ तक उत्पाद की स्वोत्पादकता का प्रश्न है वहॉ यह भी प्रश्न होगा कि उत्पाद उत्पन्न होकर अपना उत्पाद करता है या अनुपन्न रहकर ही? उत्पन्न उत्पाद को अपर से क्या प्रयोजन? अनुत्पन्न उत्पाद अपना उत्पाद करेगा कैसे?

नागार्जुन अपनी आलोचना सक्षेप मे प्रस्तुत करते हुए कहते है कि काल–त्रय मे कुछ भी उत्पन्न नही होता। सामान्यत उत्पद्यमान (उत्पन्न होती हुई वस्तु) की उत्पत्ति की प्रतीतिगोचर होती है किन्तु विचार करने पर वह असिद्ध है। उत्पत्ति की अपेक्षा से उत्पद्यमान होता है इसलिए यह विशेष बनाना पडेगा कि किस उत्पत्ति की अपेक्षा से वह उत्पद्यमान है। इसे वादी नही बता सकता क्योकि वह अनुत्पन्न है और उत्पन्न होने का कोई निमित्त नही दिखाई पडता।[32]

सर्वास्तिवादी इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए माध्यमिक पर भयकर नास्तिकवाद और बुद्ध वचन के खण्डन का आरोप लगाता है। वह कहता है कि

अनुत्पाद से प्रतीत्यसमुत्पाद का अविरोध

आपका यह सर्व–नास्तिकवाद अत्यन्त भयकर है। आप तथागत के वचनो की व्याख्या के बहाने केवल दोष निकालने का अपना कौशल दिखाते है किन्तु इससे तथागत के परमार्थ सत्य प्रतीत्यसमुत्पाद का वध होता है। भगवान बुद्ध ने अस्मिनसति इद भवति अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते इस सिद्धान्त से प्रकृति–ईश्वर–स्वभाव–काल–अणु–नारायणादि के जगत–कर्तृत्व का खण्डन किया किन्तु आपने उत्पद्यमान–उत्पन्न–अनुत्पन्न आदि विकल्प करके उत्पाद का ही बाध कर दिया। आपने यह नही देखा कि आपके द्वारा तथागत–ज्ञान की जननी प्रतीत्य–समुत्पत्ति का ही वध हो रहा है।[32]

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते है कि मै दशवल–जननी माता प्रतीत्य–समुत्पत्ति का वध नहीं करता हॅ प्रत्युत यह पाप आपके ही सिर है। भगवान ने प्रतीत्य–समुत्पाद की देशना से सर्व धर्मो की नि सारता बताई है। विद्यमान पदार्थ सस्वभाव होते है क्योकि स्व की अनपायिता (अविनाश) ही स्वभाव है। स्व की विद्यमानता के कारण ही स्वभाव किसी की अपेक्षा नही करता और न उत्पन्न ही होता है। इस प्रकार सस्वभाववादी के ही मत मे भावो का प्रतीत्य–समुत्पन्नत्व बाधित होता है और उससे धर्म और बुद्ध का दर्शन भी बाधित होता है। माध्यमिक कार्य और कारण दोनो को प्रतीत्यय–समुत्पन्न मानता है इसलिए उसके मत मे पदार्थ शान्त और स्वभाव–रहित है। इस व्याख्या से माध्यमिक तथागतो की माता प्रतीत्यसमुत्पत्ति का स्वरूप स्पष्ट करते है।

स्थिति का निषेध सर्वास्तिवादी पुन कहता है कि जब पदार्थो की स्थिति है तो उनका उत्पाद भी मानना होगा क्योकि अनुत्पन्न पदार्थो की स्थिति नही होती। नागार्जुन कहते है कि पदार्थो की स्थिति भी नहीं है। स्थित पदार्थ की स्थिति नही होगी क्योकि वहॉ स्थिति–क्रिया निरुद्ध है। अस्थित की स्थिति नही होगी क्योकि वह स्थिति क्रिया–रहित है। तिष्ठमान की स्थिति मानने से गम्यमान की गति के समान स्थिति–द्वय की प्रसक्ति होगी। नागार्जुन कहते है कि जब जरा–मरण क्षण–मात्र के लिए भी पदार्थो को नही छोडते तब स्थिति के लिए यहॉ अवकाश की कहॉ है? इसके अतिरिक्त जैसे उत्पाद अपना उत्पाद नही करता है वैसे स्थिति भी अपनी स्थिति नही करेगी।

प्रश्न है कि स्थिति निरुद्धयमान पदार्थ की होती है या अनिरुद्धयमान की निरुध्यमान की स्थिति नहीं होती, क्योकि विरोधाभिमुख पदार्थ की विरोधी स्थिति है। अनिरुघ्यमान कोई पदार्थ नही होता अत उसका कोई प्रश्न नहीं है।

निरोध का निषेध सर्वास्तिवादी पुन प्रश्न करता है कि यदि सस्कृत धर्मो की अनित्यता है तो उसके दो सहचारी स्थिति और उत्पाद भी मानने होगे। आप अनित्यता नही मानते और कहते है कि अनित्यता निरुद्ध की अनिरुद्ध की या निरुद्ध्यमान की? अतीत निरुद्ध का वर्तमान निरोध से विरोध है। अनिरुद्ध का निरोध उसके निरोध–विरह के कारण सभव नही है। निरुद्ध्यमान के निरोध से निरोधद्वय की प्रसक्ति होगी। नागार्जुन–सर्वास्तिवादी के इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कहते है कि जिन कारणो से धर्मो का उत्पाद सिद्ध नही होता उन्ही से निरोध भी सिद्ध नही होगा। इसलिए जैसे उत्पाद का स्वात्मना परात्मना उत्पाद सिद्ध नही होता वैसे ही निरोध का निरोध भी स्वात्मना या परात्मना सिद्ध नही होता।[३३] सर्वास्तिवादी इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं। उसके अनुसार यदि निरोध का निरोध नही होता तो उसकी सस्कृत–लक्षणता कैसे सिद्ध होगी? इसके अतिरिक्त पर समत विनाश को तो नागार्जुन भी मानते ही है। इस स्थित मे उभय समत दोष उत्पन्न होगा।

नागार्जुन सर्वास्तिवादी के इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कहते है कि पदार्थ अवश्य नि स्वभाव है किन्तु बाल पृथग्जन उसमे सत्याभिनिवेश करते है और उससे व्यवहार चलाते है। हम लोग भी इस अविचारित प्रसिद्ध व्यवहार को मान लेते है। वस्तुत गन्धर्व नगरादि के समान लौकिक पदार्थ निरूपत्तिक है क्योकि अविद्या अधकार से ग्रस्त दृष्टि के लोग समस्त पदार्थो की आपेक्षिक सत्ता खडी किए है। उत्पाद की अपेक्षा उत्पाद्य और उत्पाद्य की अपेक्षा उत्पाद निरोध की अपेक्षा निरोध्य और निरोध्य की अपेक्षा निरोध इस प्रकार लौकिक व्यवहार अभ्युपगत होते है। ऐसी अवस्था मे दोषो का समप्रसग उचित नही है।[३४]

सर्वास्तिवादी पुन कहता है कि भगवान् बुद्ध ने उपदेश किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि सस्कृत है और उनके सद्भाव से सस्कृत–लक्षण भी है। नागार्जुन का उत्तर है कि उत्पाद–स्थिति–भग लक्षण ही जब असिद्ध है तो सस्कृतो की सिद्धि कैसे होगी? और सस्कृतो की असिद्धि से तदपेक्ष असस्कृत भी असिद्ध होगे। भगवान बुद्ध ने सस्कृत धर्मो के उत्पाद व्यय और स्थित्यन्यथात्व के प्रज्ञात होने की जो बात कही है वह तथाविध विनेय जन पर अनुग्रह करने के लिए है। वस्तुत पदार्थ स्वभावत अनुत्पन्न एव अविद्यमान है जैसे–माया स्वप्न गन्धर्व नगर आदि।[३५]

कर्मकारक परीक्षा इस अध्याय (प्रकरण) मे कुल १३ कारिकाए है। नागर्जुन ने इन कारिकाओ द्वारा कर्त्ता कर्म और पुद्गल (आत्मा) आदि का खण्डन किया है। चन्द्रकीर्ति ने इन कारिकाओ की व्याख्या के लिए आर्यरत्नावली मध्यमकावतार आर्योपालिपरिपृच्छा आदि ग्रन्थो की सहायता ली है। सर्वास्तिवादी सभी सस्कृत धर्मो के अस्तित्व को मानते है तथा अपने पक्ष मे बुद्ध वचन को भी प्रस्तुत करते है। उनके अनुसार

भगवान ने अविद्यानुगत पुद्गल के द्वारा पुण्य अपुण्य आनिज्य सस्कारो का अभिसस्कार बताया है और कर्मों का कारक उन कर्मों का फल तद्विज्ञान उपदिष्ट किए है। अत अवश्य ही ये कारकादि व्यवस्थाए सत पदार्थों की ही माननी होगी। कूर्म–रोमादि के समान असत की कर्म–कारकादि व्यवस्था नही होती।

नागार्जुन कर्म–कारिकादि का निषेध करते है। उनके अनुसार क्रिया व्यापार मे सलग्न ही कारक रूप से व्यपदिष्ट होता है।[३६] इसलिए सर्वास्तिवादी को यह बताना होगा कि इस व्यापार का कर्त्ता सद्भूत है या असद्भूत या सदसद्भूत? जो किया जाता है वह कर्म है। वह कर्ता का ईप्सिततम (तीव्र इच्छा का विषय) होता है इसलिए आपको बताना होगा कि वह कर्म भी सत् असत या सदसत मे क्या है? क्रियायुक्त (सदभूत) कारक मे क्रियायुक्त सद्भूत कर्म का कतृत्व नही बन सकता और क्रिया से रहित असद्भूत कारक क्रिया रहित कर्म का कर्ता नहीं होता जबकि कारक व्यपदेश के लिए उसका क्रिया से युक्त होना आवश्यक है।[३७] किन्तु जिस क्रिया से उसका कारकत्व व्यपदिष्ट है उससे अतिरिक्त दूसरी क्रिया नहीं है जिससे वह कर्म करे। इस प्रकार क्रिया के अभाव मे जब कारक कर्म नही करता तब कर्म कारक निरपेक्ष होगा जो असभव है। अत सिद्ध हुआ कि सद्भूत कारक कर्म नहीं करता। सद्भूत कर्म को भी कारक नही करेगा क्योकि कर्म क्रिया से युक्त है और जिस क्रिया से उसका कर्मत्व व्यपदिष्ट है उससे अतिरिक्त कोई द्वितीय क्रिया नही है जिससे वह कर्म हो। दूसरी क्रिया के अभाव मे कारक अकर्मक होगा जो असभव है।

इसी प्रकार असद्भूत कर्म को असद्भूत कारक नही कर सकता क्योकि क्रिया से रहित कारक (असद्भूत) और कर्म (असद्भूत) निर्हेतुक होगे। यदि अहेतुक वाद का अभ्युपगम करेगे तो समस्त कार्य कारण भाव अपोहित हो जायेगा। साथ ही क्रिया कर्ता और करण समस्त अपोहित होगे। क्रियादि के अभाव मे धर्म अधर्मादि का अभाव होगा और धर्माधर्मादिके अभाव से इष्ट अनिष्ट सुगति दुर्गति फलो का अभाव होगा। इन फलो के अभाव मे स्वर्ग या मोक्ष के लिए मार्ग–भावना विफल होगी और उसके लिए कोई प्रवृत्ति नही होगी। इस प्रकार लौकिक–अलौकिक समस्त क्रियाए निरर्थक हो जायगी। अत असद्भूत कारक असदभूत कर्म को करता है यह पक्ष त्याज्य है।

उभयरूप कारक उभय रूप कर्म को कथमपि नही कर सकता है क्योकि वे परस्पर विरुद्ध है। एक पदार्थ एक ही काल मे क्रिया और अक्रिया से युक्त नही होते। इसी प्रकार विषम पक्ष (सद्भूत कर्ता से असत् कर्म असत् कर्ता से सत् कर्म का होना आदि) भी निषिद्ध होते है।

सर्वास्तिवादी माध्यमिक से पुन पूछता है कि भगवान ने यह कहॉ अवधारित किया है कि भाव पदार्थ नहीं है। माध्यमिक कहता है कि आप स्वभाववादी है। इसलिए आपके पक्ष मे सर्वभावो का अपवाद सभावित

है किन्तु हम लोग समस्त भावो को प्रतीत्य–समुत्पन्न मानने के कारण उनका स्वभाव नहीं मानते फिर अपवाद किसका करे जब सर्वभाव नि स्वभाव हैं तो पूर्वोक्त प्रकार से उनकी सिद्धि कथमपि नही हो सकती।[3]

नागार्जुन के अनुसार समस्त पदार्थ मरुमरीचिका के तुल्य है। लौकिक विपर्यास का अभ्युपगम करके ही इन सावृत पदार्थो की इद प्रत्ययता (यह घट है यह पट है इत्यादि) प्रसिद्ध होती है। जैसा ऊपर विवेचित किया गया है कि कर्म–निरपेक्ष कारक नही हो सकता और कारक–निरपेक्ष कर्म नही हो सकता। इसलिए ये परस्परापेक्ष है। जैसे कर्म और कारक की परस्परापेक्ष सिद्धि है वैसे ही क्रियादि अन्य भावो की भी है।

भावो की नि स्वभावता की सिद्धि मे वे ही हेतु होते है जो उनकी सस्वभावता को सिद्ध करते है। भावो की सत्ता आपेक्षिक है अत निरपेक्ष उनकी सत्ता नहीं है। माध्यमिक भावो की इस सापेक्ष सिद्धि से ही समस्त पदार्थो के स्वभाव का निषेध करते है।[३६]

६ **पूर्व परीक्षा** इस अध्याय मे कुल १२ कारिकाए है। चन्द्रकीर्ति ने इनकी व्याख्या के लिए चतु शतक और समाधिराजसूत्र का उपयोग किया है।

इस अध्याय मे नागार्जुन दर्शन श्रवणादि वेदनाओ का और उनके उपादाता आत्मा का निषेध करते है। यहॉ यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्वय भगवान् बुद्ध और उनके प्राय अधिकाश अनुयायी दर्शन श्रवणादि वेदनाओ का निषेध नही करते।[४१] केवल इनके अधिष्ठाता आत्मा का निषेध करते है। चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा के अनुसार यहॉ नागार्जुन का लक्ष्य सम्मितीय बौद्धो के मत का खण्डन करना है जो दर्शन श्रवणादि उपादानो (इन्द्रियो) के अस्तित्व के आधार पर उनके आश्रय को अर्थात आत्मा को स्वीकार करना आवश्यक मानते है। वे कहते है कि यदि पुद्गल को दर्शन श्रवणादि से पहले स्वीकार नही करे तो दर्शनादि का उपादान कौन करेगा? इसलिए पुद्गल दर्शन श्रवणादि से प्राक है। इसके उत्तर मे नागार्जुन कहते है। बीज सज्ञक कारण से अकुर सज्ञक कार्य अभिव्यक्त होता है और इस अकुर सज्ञक कार्य से बीज सज्ञक कारण अभिव्यक्त होता है।[४२] इस प्रकार यदि किसी दर्शनादि सज्ञक उपादान से कुछ आत्म स्वभाव अभिव्यक्त होता है कि ये दर्शनादि उपादान स्वरूप है इसलिए इनके किसी उपादाता का होना आवश्यक है तब इन उपादान उपादाता मे बीजाकुरवत् परस्पर सापेक्षता होगी। यदि उपादाता के बिना ही दर्शनादिक उपादान की सिद्धि मानेगे तो इनका निराश्रयत्व होगा और ये असत् होगे। इसलिए दोनो ही असिद्ध है। इस प्रकार यह कहना सही नही है कि उपादाता आत्मा दर्शनादि से पृथक अवस्थित है।[४३]

१० अग्निन्धन परीक्षा– इस अध्याय मे कुल १६ कारिकाए (श्लोक) है। चन्द्रकीर्ति ने निरुपमस्तव और ललित विस्तर आदि ग्रन्थो की सहायता से नागार्जुन के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। अन्य अध्यायो की भॉति यहॉ भी नागार्जुन का लक्ष्य अग्नि और इन्धन की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार कर उन्हे सापेक्ष सिद्ध करना है। नागार्जुन सर्वास्तिवादी से प्रश्न करते है कि अग्नि और इधन की सत्ता परस्पर अभिन्न होने से है या भिन्न होने से? दाह्य इधन है दाहक अग्नि है। यदि इन्हे भिन्न माने तो कर्त्ता और कर्म को अभिन्न मानना होगा जो अनुचित है। कुभ और कुभकार मे अभेद नही माना जा सकता यदि इन्हे भिन्न माने तो अग्नि–इधन घट–पट के समान निरपेक्ष होगे यह भी अनुचित है।[४४]

नागार्जुन प्रश्न उठाते है कि अग्नि और इधन के कर्त्ता और कर्म होने पर इनमे प्रथम कौन है? यदि इधन पूर्व हो तो उसके अग्नि निरपेक्ष होने से उसमे इध्यमानता नहीं होगी और परिणामत उसमे इधनत्व भी नही होगा अन्यथा समस्त तृणादि इन्धन होगे। यदि अग्नि को पूर्व माने तो यह असभव होगा और अग्नि निर्हेतुक भी होगी।[४५]

इसके आगे वे कहते है– यदि इधन को पूर्व और अग्नि को पश्चात मान भी ले और कहे कि इधन की अपेक्षा करके अग्नि होती है तो सिद्ध–साधनता दोष होगा क्योकि विद्यमान पदार्थ ही अन्य की अपेक्षा कर सकता है। और विद्यमान की अपेक्षा से सिद्धि मे प्रयोजन ही क्या है? यदि इसमे यौग पद्य (साथ–साथ अवस्थित होना) माने तो भी ठीक नही। क्योकि यदि अग्नि इधन की अपेक्षा से सिद्ध होती है और इधन अग्नि की अपेक्षा से तो फिर कोई भी सिद्ध नहीं होगा क्योकि किसकी अपेक्षा से सिद्ध करेगे।? [४६]

जहॉ तक अग्नि के इधन से जलने की और इस प्रकार दोनो के अस्तित्व की प्रतीति का प्रश्न है नागार्जुन उसे मिथ्या मानते हैं। उनके अनुसार यदि इधन मे अग्नि हो तो वह इधन को जलाये किन्तु वह असभव है इधन के अतिरिक्त कही अन्यत्र से अग्नि का आगमन देखा नही जाता क्योकि निरिन्धन अग्नि अहैतुक होगी।[४७]

आलोचना

अत नागार्जुन के अनुसार न अग्नि की सत्ता है और न इधन की। यदि पूछा जाय कि वह अग्नि जिससे इधन परिगत है इधन को क्यो नहीं जला सकती? तो उनका उत्तर होगा कि उसके इधन न होने से वह कर्त्ता नहीं हो सकती। किन्तु यहॉ नागार्जुन सर्वास्तिवादी की युक्ति का समाधन नहीं कर उससे बच रहे

है क्योकि सर्वास्तिवादी के अनुसार यहॉ अग्नि–इधन मे कर्त्ता कर्म सम्बन्ध का नही सापेक्षता सम्बन्ध का है।[4]

द्रष्टव्य है कि यहॉ नागार्जुन पूर्वपक्ष की अग्नि–इधन की परस्पर सापेक्षता का कोई उत्तर नही दे रहे है अपितु उसे पूर्व अपर मानने की अवस्था मे उत्पन्न होने वाला दोष दिखा रहे है जबकि पूर्वपक्ष यह कह ही नही रहा है। इसके अतिरि्क्त वे इस पूर्वापरता के साथ निरपेक्षता को भी जोड रहे है जिसका पूर्वपक्ष मे स्पष्टत अस्वीकार है। वास्तव मे पूर्वापरता के लिए यह भी आवश्यक नही है कि ये घटनाए परस्पर निरपेक्ष हो। कारण–कार्य मे पूर्वापरता के साथ सापेक्षता होती है। इसके अतिरिक्त पूर्वापरता स्वय भी सापेक्षता सम्बन्ध है यद्यपि न वह पूर्वपक्ष को अभिप्रेत है और न वह अग्नि और इधन की नागार्जुन द्वारा गृहीत तार्किक परिभाषा के अनुसार सभव है।[5]

यह युक्ति और भी अयुक्त है पहले तो नागार्जुन अग्नि–इधन मे पूर्वापरता मानने की बात करते है और फिर कहते है कि अग्नि को इधन की अपेक्षा तभी हो सकती है यदि इधन विद्यमान हो और यदि वह विद्यमान होगा तो सिद्ध–साधन दोष होगा। किन्तु तब इसका क्या अर्थ हुआ कि यदि अग्नि इधन मे पूर्वापर सम्बन्ध मान भी ले। क्योकि यदि आप इनमे यह सबध मानते है तो अपरपूर्व के साथ युगपद् नही हो सकेगा।

इस युक्ति मे आचार्य पूर्व पक्ष की सापेक्षता प्रतिपत्ति का खण्डन करते है किन्तु यह खडन भी स्पष्टत अविचार मात्र है। यदि ईधन वही है जो इद्धमान है और अग्नि वही है जो ईधन की इद्धमानता है तो यह प्रश्न ही कैसे उठता है कि कौन किसकी अपेक्षा कर सिद्ध होता है? क्योकि दोनो ही परस्पर की अपेक्षा कर सिद्ध होगे और यह पूर्वपक्ष की प्रतिपत्ति है क्योकि अग्नि ईधन मे और किसी प्रकार यौगपद्य बन ही नहीं सकता।[5]

इसके बाद नागार्जुन अभिव्यक्ति सिद्धान्त का भी खण्डन करते है। वे पूछते है यह अभिव्यक्ति किसकी होती है? अभिव्यक्त की या अनभिव्यक्त की? अभिव्यक्त की अभिव्यक्ति का कोई प्रयोजन नही है और अनाभिव्यक्त की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं क्योकि उसकी स्थिति आकाश–कुसुम के समान है। यदि यह कहे कि हेतु प्रत्यय सूक्ष्म रूप से विद्यमान का ही स्थूलीकरण करते है तो यह भी युक्त नही है क्योकि इसका अर्थ है कि पूर्वत विद्यमान स्थौल्य का (चैतसिकता या भौतिकता का) ये प्रत्यय नव्योत्पादन करते है इसलिए स्थौल्यापादन को भी अभिव्यक्ति नहीं कह सकते। और फिर इस युक्ति के अनुसार सूक्ष्म–रूपता का कोई

हेतु नही होगा हेतु नही होने पर वह होगा ही नही तो फिर स्थूलतापादन किसका होगा? इस प्रकार ईधन मे अग्नि सर्वथा नही है।[५१]

इस प्रकार देखने पर अभिव्यक्तिवाद तब तक अयुक्त ही रहता है जब तक पुरुष ने भोगापवर्ग–निमित्त का इसमे अध्याहार नही करते। इसका अध्याहार करने पर यह कहा जा सकता है कि भोग और अपवर्ग निमित्तक प्रत्यय प्राकृतिक उपादान को माध्यम बनाकर व्यक्त होते है। वे आत्मा विषयक पूर्वपक्ष की उपादानो स्कन्धो के उपादाता ग्रहीता निष्पादक के रूप मे उपपत्ति करते हैं[५२]–

तत्र उपादीयते इत्युपादान पचोपादन स्कन्धा यस्तानुपदाय प्रज्ञत्त्यतेस उपादाता ग्रहीता निष्पादक आत्मेत्युच्यते। अहकार–विष–यत्वादाहित उत्पादितोऽहम्मानोऽस्मिन्निति।[५३]

वेदान्त और साख्य का आत्मा सब निषेधो सब प्रतिपत्तियो शून्यता की प्रतिपत्ति सहित मे पूर्वगृहीत है और यह पूर्वगृहीतता तार्किक नही है क्योकि तर्क स्वय इसे पूर्वगृहीत करता है। यह आत्मा प्रत्यड मुख–साक्षात्कारात्मक तत्त्व है। उदाहरणत आत्मा असत है इस प्रतिज्ञप्ति मे भी आत्मा अपना विषयकरण कर उसके निषेध मे प्रतिष्ठित होता है।

११ पूर्वापर कोटि परीक्षा

इस अध्याय मे कुल ८ कारिकाए है। चन्द्रकीर्ति ने चतु शतक समाधिराजसूत्र तथा आर्य रत्न मेघसूत्र की सहायता से इन कारिकाओ मे प्रतिपादित सिद्धान्त की व्याख्या की है। इस अध्याय मे ससार के अस्तित्व तथा दु ख के आधार पर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने वाले वात्सीपुत्रीय बौद्ध के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है।

इस अध्याय मे सर्वास्तिवादी ससार की सत्ता से आत्मा की सत्ता सिद्ध करता है। उसका कथन है कि यदि आत्मा नही है तो जन्म–मरण–परम्परा से ससरण किसका होगा? भगवान ने अनवराग्रता[५४] (आदि–अत कोटि शून्य) जाति–जरा–मरण की सत्ता स्वीकार की है। ससार की सत्ता से ससरण–कर्त्ता आत्मा की सिद्धि होती है। माध्यमिक इस तर्क का खण्डन करता है उसके अनुसार भगवान ने ससार की अनवराग्रता[५५] कहकर उसकी असत्ता का उपदेश किया है क्योकि अलात–चक्र के समान पूर्वापर कोटि–शून्य होने से ससार नहीं है। अवन रागृ ससार की प्रतिपत्ति अविद्या विरण युक्त सत्वो की दृष्टि से है जिससे वे उसके क्षय मे प्रवृत्त हो। उसके लिए यह शिक्षा नहीं है जिसने लोकोत्तर ज्ञान से अपने समस्त क्लेश–वासनाओ

को समाप्त कर दिया है।[५६] प्रश्न उठता है कि आदि रहित ससार का अत कैसे माना जाय? चन्द्रकीर्ति कहते है कि जैसे व्यावहारिक जगत मे आदिरहित बीजादि का दहनादि से अत देखा जाता है। भगवान ने बन्धन गठित सत्वो के उत्साह प्रदान करने के लिए लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से ही ससार का अन्तोपदेश किया है। वस्तुत ससार नही है और न उसके क्षय होने का ही कोई प्रश्न उठता है। यहॉ प्रश्न उठता है कि भगवान ने लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से ही सही ससार का आदित्व भी क्यो नही कहा? चन्द्रकीर्ति कहते है कि ससार का आदिभाव लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से भी सिद्ध नहीं होता। आदि मानने पर ससार अहेतुक होगा।[५७]

सर्वास्तिवादी के अनुसार ससार की आदि और अन्त कोटि न भी हो फिर भी मध्य के अस्तित्व से ससार की सत्ता सिद्ध होगी। नागार्जुन कहते है कि जिसका आदि और अन्त न होगा। उसका मध्य क्या होगा?[५] ज्ञानशून्य सत्वो की दृष्टि मे ही ससार है। वस्तुत वह सज्ञामात्र है ससार नही है । और ससर्ता आत्मा भी नही है।

नागार्जुन ससार का अभाव सिद्ध कर जाति–जरा–मरण आदि के पूर्वापर क्रम या सह क्रम का निषेध करते है। जाति–जरा–मरण मे यदि जाति पूर्व है तो वह असस्कृत धर्मो के समान जरामरण से रहित होगी।

इस प्रकार जरा–मरण से रहित पदार्थ की जाति स्वीकार करने पर अमरण धर्मा देवदत्त की जाति माननी होगी। ऐसी अवस्था मे ससार आदिमान् होगा और अहेतुक होगा। यदि जाति से पूर्व जरा–मरण माने तो अजात का जरामरण मानना पडेगा। यदि जाति और जरामरण का सहभाव माने तो जायमान का मरण मानना पडेगा जो कथमपि युक्त न होगा क्योकि जाति और मरण के समान परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है। उनकी एक कालिकता नहीं सिद्ध हो सकती।

नागार्जुन कहते है कि जैसे ससार की पूर्व कोटि नही है उसी प्रकार किसी भाव की पूर्व कोटि नही होती? क्योकि यदि कार्य को पूर्व और कारण को पश्चात माने तो कार्य निर्हेतुक होगा। यदि कारण को पूर्व और कार्य को पश्चात् माने तो कारण अकार्य होगा। कार्य–कारण के इस प्रत्याख्यान से ज्ञान ज्ञेय प्रमाण–प्रमेय साधन–साध्य अवयवावयवी गुण–गुणी आदि सभी पदार्थो की पूर्व कोटि सिद्ध नही होती।[५९]

१२ दु ख परीक्षा (दु ख की असत्ता)

दु ख परीक्षा इस अध्याय मे कुल १० कारिकाए हैं। यहॉ पुद्गलवादी सर्वास्तिवादी दु ख के अस्तित्व के आधार पर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास है किन्तु नागार्जुन ने अपने तर्को से यह सिद्ध किया है कि दु खो का अस्तित्व ही नहीं अत उनके आश्रयभूत आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न ही नही उठता। चन्द्रकीर्ति

ने आर्योपालिपृच्छा समाधि राजसूत्र और लोकातीतस्तव ग्रन्थो के उद्धरणो से अपनी व्याख्या को सबल बनाने का प्रयास किया है।

पुद्गलवादी के अनुसार पॉच उपादान–स्कन्ध दुख है। उस दुख का आश्रय होना चाहिये। और वह आश्रय आत्मा है। नागार्जुन कहता है कि आत्मा दुखाश्रय अवश्य सिद्ध होता है यदि दुख होता। किन्तु दुख की सत्ता के लिए उसका स्वय कृतत्व परकृतत्व उभयकृतत्व या अहेतुकत्व बताना होगा।[६] इन पक्षो मे किसी के स्वीकार से उसकी सत्ता सिद्ध नही होती। यदि मरणान्तिक स्कन्धो की अपेक्षा करके औपपत्तिक स्कन्धो का उत्पाद माने तो दुख स्वयकृत सिद्ध नही होगा। मरणान्तिक स्कन्धो से औपपत्तिक स्कन्धो को अतिरक्ति मानने पर उसका परकृतत्व सिद्ध होता किन्तु यह असभव है क्योकि दुख के लिए हेतु–फल–सबध की व्यवस्था आवश्यक है।

पुद्गलवादी यदि यह कहे कि दुख के स्वय कृतत्व से मेरा अभिप्राय दुख के उत्पन्न होने का नही है अपितु यह है कि पुद्गल के द्वारा वह स्वयमेव कृत है दूसरे ने करके उसे नहीं दे दिया है। इस पर नागार्जुन कहते है कि मनुष्यो का दुख पञ्चोपादान का लक्षण है। उसे यदि पुद्गल ने स्वय किया है तो उस पुद्गल को बताइए जिससे उस दुख का स्वयकृतत्त्व सिद्ध हो। यदि जिस दुख से पुद्गल स्वय प्रज्ञप्त होता है वह दुख उस पुद्गल के द्वारा कृत है तो भेदेन यह बताइए कि यह वह दुख है और उसका यह कर्त्ता है। अपि च यह माने कि मनुष्य के दुख का उपादान पुद्गल है और उसने उस दुख को उत्पन्न किया है तो यह निश्चित नहीं होगा कि जो स्वपुद्गल–कृत है वह परपुद्गल कृत भी अवश्य होता है। उपादान का भेद रहने पर भी पुद्गल का अभेद नही दिखाया जा सकता क्योकि उपादान से अतिरिक्त पुद्गल को दिखा सकना अत्यन्त असभव है।

दूसरी बात यह है कि यदि यह दुख स्वकृत है तो वृत्ति–विरोध होगा क्योकि स्वात्मा मे ही कणत्व तथा कतृत्व मानना पडेगा। परकृत दुख भी नहीं मान सकते क्योकि पर स्व से निष्पन्न नही है। जो स्व से निष्पन्न नहीं है वह अविद्यमान स्वभाव है। स्वय अविद्यमान स्वभाव दूसरे को क्या सपन्न करेगा? दुख जब एक का कृत नहीं है तो उभयकृत भी सिद्ध नही होगा। उक्त न्याय से यदि दुख का स्वयकृतत्व सिद्ध नही हुआ तो दुख की निर्हेतुकता का प्रश्न भी नही उठेगा जैसे आकाश कुसुम की सुगन्धि के लिए निर्हेतुकता का प्रश्न ही नही उठा सकते। चन्द्रकीर्ति के शब्दो मे उपर्युक्त न्याय से जब दुख सिद्ध नहीं होता तो उसके आश्रयभूत आत्मा की सिद्धि का प्रश्न ही क्या है?[६१]

१३ सस्कार परीक्षा (सस्कारो की नि स्वभावता)

इस अध्याय मे कुल ८ कारिकाए है। यहॉ नागार्जुन ने सस्कारो के स्वरूप (स्वभाव) का परीक्षण कर उन्हे नि स्वभाव बताया है। चन्द्रकीर्ति ने अनवतप्त ह्रत्दाप सक्रमण सूत्र और आर्य रत्नाकर महायान सूत्र का हवाला दे नागार्जुन के अस्पष्ट सिद्धान्त को सुस्पष्ट और बोधगम्य करने का प्रयत्न किया है।

भगवान बुद्ध ने सर्वसस्कारो को मृषा और मोषधर्मा[62] कहा है। अलात चक्रवत समस्त सस्कारो का आख्यान वितथ हो केवल निर्वाण मोक्षधर्मा नही है सत्य है। इसके अतिरिक्त सब धर्म नि स्वभाव होने से शून्य है।

सर्वास्तिवादी कहता है कि यदि सब सस्कार मृषा है तो आपका यह कथन भी कि कोई पदार्थ नही है मृषा–दृष्टि होगी। नागार्जुन का कथन है कि यद्यपि सर्व सस्कारो की मोष धर्मता अवश्य है किन्तु हमारा यह वचन कि मोषधर्मा सभी मृषा है? क्या मोषण (वचना) किया? अवश्य ही यदि कोई सत–पदार्थ होता और उसका हम अपवाद करते तो हमारी दृष्टि अभाव–दृष्टि होती और उसे आप मिथ्या–दृष्टि कह सकते थे।

चन्द्रकीर्ति यहॉ अनवतप्तह्रत्दापसक्रमण सूत्र का एक सूत्र[62] उद्धृत कर कहते है– जो प्रत्ययो से उत्पन्न होता है वह वस्तुत अनुत्पन्न ही है क्योकि उसकी स्वभाविक उत्पत्ति नही है।प्रत्ययाधीन उत्पत्ति से ही शून्यता उक्त हो जाती है। ऐसी शून्यता को जानने वाला प्रमाद नहीं करता।[63]

सर्वास्तिवादी के अनुसार यह आगम भावो का अनवस्थायित्व मात्र बतलाता है भावो के स्वभाव का अनुत्पाद नही। भावो का स्वभाव है क्योकि उनका परिणाम देखा जाता है। इसके अतिरिक्त एक ओर तो माध्यमिक भावो को अस्वभाव मानते है दूसरी ओर उसमे शून्यता–धर्म भी मानते है। किन्तु यदि धर्मी नही है तो तदाश्रित धर्म कैसे उत्पन्न होगे? अत विपरिणामादि की सिद्धि के लिए उन्हे भाव–स्वभावता माननी होगी।

यदि भावो के स्वभाव स्थित है तो अन्यथाभाव किसका होगा? जो धर्म जिस पदार्थ को किसी प्रकार नही छोडता वह उसका स्वभाव कहा जाता है जैसे अग्नि की उष्णता। यदि भावो का स्वभाव माने तो उसका अन्यथात्व (रूपान्तरता) नही बनेगा। यदि भाव अपनी प्राकृतअवस्था मे ही उत्पन्न रहेगे तो उनका अन्यथात्व कैसे उत्पन्न होगा। युवक जब युवावस्था मे ही वर्तमान है तब उसका अन्यथात्व नही होगा। सर्वास्तिवादी के सिद्धान्त मे अवस्थान्तर प्राप्ति से भी अन्यथात्व नहीं होगा क्योकि युवक का अन्यथात्व उसकी जीर्णता है। यदि युवक पूर्ववत् है तो उससे अन्य की ही जीर्णता माननी होगी। अन्य युवा की जीर्णता से भी उसकी जीर्णता है

तो उसका जरा से सबध निष्प्रयोजन होगा। यदि कहे कि युवा का ही अन्यथा भाव होगा तो यह ठीक नही है क्योकि जो जरावस्था प्राप्त नहीं है वह युवा है। उसे कोई जीर्ण भी माने तो एक मे परस्पर दो विरुद्ध अवस्थाएँ माननी पडेगी।

यदि आप कहे कि क्षीरावस्था के परित्याग से दधि–अवस्था आती है अत क्षीर दधि नहीं होता तो हम कहते है कि क्या उदक का दधिभाव होगा? इस प्रकार तो सस्वभाववाद मे आप किसी तरह परिणमन नहीं सिद्ध कर सकते।

आपका यह आक्षेप कि शून्यता के आश्रय के लिए माध्यमिक को भावो को सस्वभाव मानना पडेगा ठीक नही है। अवश्य ही शून्यता का कोई धर्म होता तो उसके आश्रय के लिए भावो की सस्वभावता भी होती। किन्तु ऐसा नहीं है। नागार्जुन कहते हैं कि हमारे मत मे शून्यता सब धर्मो का सामान्य लक्षण है। इसलिए कोई अशून्य धर्म नहीं है। जब अशून्य पदार्थ नही है और अशून्यता नही है तब प्रतिपक्ष (अशून्यता) से निरपेक्ष होने के कारण शून्यता भी नही होगी। जब शून्यता नहीं है तो उसके आश्रित पदार्थ की भी सत्ता नही है। हमारा यह पक्ष सुसगत है।

सर्वास्तिवादी का कथन है कि भगवान बुद्ध ने विमोक्ष के लिए शून्यता अनिमित्तता अप्रणिहितता का निर्देश किया है। यह सौगत बचन की अन्य सबसे असाधारणता है। अन्य तीर्थको के बाद–मोह से अभिभूत इस जगत् को शिक्षा को देने के लिए भगवान् बुद्ध ने जगत् मे नैरात्म्योपदेश के प्रदीप को जलाया था। किन्तु आपने तथागत के प्रवचन का व्याख्यान करने के व्याज से शून्यता का ही प्रतिक्षेप कर दिया।[६४]

नागार्जुन सर्वास्तिवादी को फटकारते हुए कहते है कि आप अत्यन्त विपर्याक्ष के कारण निर्वाणपुर–गामीशिव एव सरल मार्ग को छोडकर ससार–कान्तार–गामी मार्ग का अनुसरण कर रहे है। आपको जानना चाहिए कि निरवशेष क्लेश–व्याधि के चिकित्सक महावैद्यराज बुद्ध ने कहा[६५] है कि मिथ्या दृष्टियो से अभिनिविष्ट लोगो का निस्सरण (अप्रवृत्ति) ही शून्यता है। किन्तु जो शून्यता मे भी भावाभिनिवेश (शून्यता एक तत्व है ऐसा अभिनिवेश) करेगे वे असाध्य है।[६६]

१४ ससर्ग परीक्षा (ससर्गवाद का खडन)

इस अध्याय मे कुल ८ कारिकाए है। यहॉ नागार्जुन ने सर्वास्तिवादी दार्शनिक के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि ससार के पदार्थो का वास्तविक अस्तित्व है क्योकि उनमे आपस मे ससर्ग होता है।

नागार्जुन का कथन है कि ससर्ग का ही अस्तित्व नहीं है तो वे कैसे किसी पदार्थ को जोड सकते है। चन्द्रकीर्ति ने उपालि परिपृच्छा का उदाहरण दे नागार्जुन के सिद्धान्त को स्पष्ट किया है नागार्जुन भावो की नि स्वभावता सिद्ध करने के लिए पदार्थों के ससर्गवाद का खण्डन करते है। सर्वास्तिवादी कहता है कि भावो की सस्वभावता है क्योकि उनका ससर्ग होता है। जब यह कहा जाता है कि चक्षुर्विज्ञान चक्षु और रूप की अपेक्षा करके (प्रतीत्य) उत्पन्न होता है तो उससे तीनो का सनिपात या स्पर्श अभिप्रेत है। स्पर्श से वेदना आदि होते है। इसी प्रकार सज्ञा और वेदना सस्पृष्ट है। इन्हे अससृष्ट धर्म नही कहते। अत ससर्ग भावो की सस्वभावता को सिद्ध करते है।

नागार्जुन सर्वास्तिवादी को उत्तर देते हुए कहते है कि इनका ससर्ग सिद्ध नही होता क्योकि द्रष्टव्य (रूप) दर्शन (चक्षु) और द्रष्टा (विज्ञान) मे किन्हीं दो या तीन मे (सर्वश) ससर्ग नही होता। इसी प्रकार राग रक्त–रजनीय द्वेष–द्विपट–द्वेषणीय तथा श्रोत्र–श्रोता–श्रोतब्य का ससर्ग नही होता। पुनश्च आपका पक्ष तब ठीक हो जब अन्यता सिद्ध हो किन्तु यह सर्वथा असिद्ध है। यह बताइये कि अन्यत्व अन्य मे कल्पित है या अनन्य मे? प्रथम पक्ष मे अन्यत्व–परिकल्पना व्यर्थ है क्योकि अनायास ही अन्यत्वेन व्यपदिष्ट पदार्थ मे आप अन्यत्व की कल्पना करते है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नही है क्योकि अनन्यएक होता है जो अन्य का विरोधी है। अत अनन्य मे विरोधी अन्यत्व कैसे रहेगा।

सर्वास्तिवादी पुन आक्षेप करता है उसके अनुसार दर्शनादि का त्रिकसनिपात (तीन का स्पर्श) है क्योकि दर्शनादि स्पष्टत उपलब्ध है। नागार्जुन प्रश्न करते है कि आपके मत मे दर्शनादि का ससर्ग एकत्वेन परिकल्पित है या अन्यत्वेन। एकत्व पक्ष मे ससर्ग नहीं बनेगा क्योकि उदक–निरपेक्ष क्षीर का उदक से ससर्ग नही होता। अन्यत्व पक्ष भी असिद्ध है क्योकि उदक से पृथक रहकर क्षीर उदक से सस्पृष्ट नही होगा। सर्वास्तिवादी कहता है कि ससर्ग न हो किन्तु ससृज्यमान–सस्पृष्ट–सस्रष्टा तो है जो ससर्ग के बिना असभव होगे? नागार्जुन कहते है कि जब ससर्ग ही नही है तो ससृज्यमानादि की सत्ता कहॉ से सिद्ध होगी।

चन्द्रकीर्ति इस ससर्गवाद् का निषेध केवल तर्को के आधार पर नही करते भगवद्वचन भी उदधृत करते है कि चक्षु वस्तुत नहीं देखता है। यह सयोग–वियोग विकल्प मात्र है।[67]

१५ स्वभाव परीक्षा (नि स्वभावता की सिद्धि)

इस अध्याय मे कुल ११ कारिकाए है। यहॉ नागार्जुन नये सर्वप्रचलित इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि ससार की वस्तुए सस्वभाव होती है अर्थात् अग्नि मे दाहकता पाई जाती है और जल मे शीतलता।

नागार्जुन का कथन है कि किसी वस्तु का कोई अपना स्वभाव नही होता सभी सापेक्ष स्वभाव वाली है एक दूसरे की सहायता से अपना स्वभाव प्रकट करती है। उदाहरण के लिए यदि इन्धन हवा की स्तब्धता सूखी माचिस जलाने वाला और जलवृष्टि रहितता न हो तो अग्नि मे दाहकता नही हो सकती। यही बात अन्य वस्तुओ के स्वभाव के विषय मे भी ज्ञात है। चन्द्रकीर्ति ने लकावतारसूत्र आर्यरत्नावली और समाधिराजसूत्र आर्याक्षयमतिनिर्देश आर्यकात्यायनाववादसूत्र का उदाहरण दे नागार्जुन के इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है कि ससार की सभी वस्तुए निस्वभाव है सस्वभाव कोई भी वस्तु नहीं है।

बौद्धो मे एक देशी कहता है कि भावो का स्वभाव है क्योकि उसकी निष्पत्ति के लिए हेतु प्रत्ययो का उपादान होता है।[६] उपादान आकाशकुसुम के लिए नही होता अकुर की निष्पत्ति के लिए बीज का तथा सस्कार के लिए अविद्या का उपादान होता है।[६६]

नागार्जुन के अनुसार यदि सस्कार और अकुरादि सस्वभाव है और वर्तमान है तो इनके लिए हेतु प्रत्यय व्यर्थ है जिस प्रकार वर्तमान सस्कारादि की भूयो निष्पत्ति के लिए अविद्यादि का उपादम व्यर्थ है उसी प्रकार समस्त भावो की विद्यमानता हेतु प्रत्यय के उपादान को व्यर्थ सिद्ध करती है। अत हेतु–प्रत्ययो के द्वारा भावो का स्वभाव सिद्ध नही होता। यदि यह कहा जाए कि उत्पाद से पूर्व स्वभाव अविद्यमान है हेतु प्रत्ययो की अपेक्षा के पश्चात उसका उत्पाद होता है तो ऐसी स्थिति मे स्वभाव कृतक होगा। किन्तु जो स्वभाव है वह कृतक कैसे होगा?[७] उसका स्वत्व ही जब उसकी सत्ता है (स्वो भाव) तब उसे नियमत अकृतक होना चाहिए। जैसे– अग्नि की उष्णता या अन्य पद्मरागादि का पद्मरागादि स्वभाव।

चन्द्रकीर्ति का कथन है कि स्वभाव की अकृतकता लोक–व्यवहार से व्यवस्थित है। उसके आधार पर हम माध्यमिको ने भी अग्नि की उष्णता को अग्नि का स्वभाव मान लिया है। वस्तुत औषणय भी अग्नि का स्वभाव नहीं हो सकता क्योकि अग्नि की उत्पत्ति मणि–इन्धन–आदित्य के समागम से तथा अरणि के निर्घषणादि के कारण हेतु प्रत्ययापेक्ष है। अग्नि से अतिरिक्त उसकी उष्णता सभव नही है अत जल की उष्णता के समान अग्नि की उष्णता भी उसका स्वभाव नहीं होगी प्रत्युत उसकी उष्णता हेतु–प्रत्यय–जनित होने से कृत्रिम है। बौद्ध एकदेशी कहता है कि उष्णता अग्नि का स्वभाव है यह सर्वजन प्रसिद्ध है। चन्द्रकीर्ति कहते है कि हमने कब कहा कि यह वाद प्रसिद्ध नही है। हम भी यह मानते है कि यह बात लोक प्रसिद्ध है कि वस्तुए स्वभावयुक्त होती है। किन्तु हम माध्यमिक इतना अधिक और जोड देते है कि लोक प्रसिद्धि की दृष्टि से वस्तुए भले ही सस्वभाव मानी जाए किन्तु स्वभाव का जो वास्तविक लक्षण (परिभाषा) है उस पर वे स्वभावयुक्त नही सिद्ध होतीं। लोक अविद्या–विपर्याप्त से नि स्वभाव को ही स्वभावत्वेन प्रतिपन्न करता है और

उसके अनुसार आख्यान करता है कि उष्णता अग्नि का स्वलक्षण है। साधारण व्यक्तियो की प्रसिद्धि के अनुसार ही भगवान ने अभिधर्म मे भावो का सावृतस्वरूप व्यवस्थापित किया है। किन्तु जिनका अविद्या–तिमिर नष्ट हो चुका है ऐसे प्रज्ञाचक्षुवाले आर्य लोगो की दृष्टि से विचार करे तब साधारण जनो की कल्पित सस्वभावता उपलब्ध नही होगी। फलत आर्य पारमार्थिक (तात्त्विक) दृष्टि से कहता है कि भावो का स्वभाव नही है।[७१]

स्वभाव का लक्षण

नागार्जुन स्वभाव की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि स्वभाव पर– निरपेक्ष तथा अकृत्रिम होता है।[७२]

चन्द्रकीर्ति उसकी व्याख्या मे कहते है कि स्वो भाव इस व्युत्पत्ति से पदार्थ का आत्मीय रूपस्वभाव है। आत्मीय रूप वही होगा जो अकृत्रिम होगा। जो जिसका आयत्त है वह भी उसका आत्मीय है जैसे– स्वभृत्य स्वजन। इस प्रकार सापेक्ष और कृत्रिम पदार्थ स्वभाव नहीं होगे। अतएव अग्नि की उष्णता हेतु– प्रत्यय जन्य होने के कारण पूर्व मे न होकर पश्चात् होने के कारण कृतक है और अग्नि का स्वभाव नही है। इस प्रकार अग्नि का निजरूप अकृत्रिम है जो काल त्रय मे अव्यभिचारी है।

इसके उत्तर मे माध्यमिक परमार्थ का सकेत करता है कि (स्वरूपत) स्वभाव नहीं है किन्तु नही है भी नही है (न तद् अस्ति न चापि नास्ति स्वरूपत)। इस रहस्य से श्रोताओ को उल्लास न हो इसलिए सावृतिक आरोपण से कहा जाता है कि स्वभाव है।[७३]

भगवान बुद्ध का वचन[७४] है कि अपरमार्थ धर्मो की देशना और श्रवण केवल समारोपित कर्मो से ही देशित या श्रुत होता है। जो पदार्थ उपलब्ध है उन्हे अविद्या विरहित ज्ञानी जन जिस रूप मे अपने दर्शन का विषय बनाता है वही उसका स्वभाव है।[७५]

प्रश्न उठता है कि अध्यारोप के कारण यदि स्वाभावातिरिक्तवाद सिद्ध होता है तो वस्तु की अस्तिता का स्वरूप क्या है? चन्द्रकीर्ति उत्तर मे कहते है कि जो धर्मो की धर्मता है वही उसका स्वरूप है (या सा धर्माणा धर्मता सैव तत्स्वरूपम) धर्मो की धर्मता क्या है? धर्मो का स्वभाव। स्वभाव क्या है? प्रकृति। प्रकृति क्या है? शून्यता। शून्यता क्या है? नि स्वभावत । नि स्वभावता क्या है? तथता। तथता क्या है? तथाभाव अविकारिता सदैव स्थायिता। पर निरपेक्ष तथा अकृत्रिम होने के कारण अग्न्यादि का अनुत्पाद ही उसका स्वभाव है।[७६]

बौद्ध एकदेशी कहता है कि आपके मत मे भावो का स्वभाव न हो परभाव तो है क्योकि उसका आप प्रतिषेध नहीं करते। परभाव स्वभाव के बिना असभव है अत स्वभाव भी मानना पडेगा। नागार्जुन कहते हैं कि

स्वभाव के अभाव मे परभाव भी कहॉ होगा? इतना ही नही स्वभाव और परभाव के अभाव मे भावामात्र नही होगा। इस प्रकार भाव के प्रतिषेध से अभाव भी प्रतिषिद्ध होता है। यदि भाव नाम से कुछ होता तो उसका अन्यथाभाव अभाव होता। जब घटादि भावरूप से असिद्ध है तो उस अविद्यमान स्वभाव के अन्यथत्व (अभाव) का प्रश्न ही कहॉ है? नागार्जुन कहते है कि स्वभाव परभाव अभाव भाव ये सर्वथा अनुपपन्न है जो अविद्या–तिमिर से उपहृत लोग इसकी सत्ता स्वीकार करते है वे बुद्ध शासन के तत्व को नही जानते।[७७]

चन्द्रकीर्ति कहते है कि कुछ लोग अपने को तथागत के प्रवचन का यथार्थ व्याख्याता समझते है और कहते है कि पृथिवी का स्वभाव काठिन्य है वेदना का स्वभाव विषयानुभाव है आदि। विज्ञान अन्य है रूप अन्य है वेदना अन्य है। इस प्रकार इनकी परभावता है। वर्तमानावस्था का विज्ञानादि भाव है वह अतीतावस्थापन्न होकर अभाव होता है। नागार्जुन के अनुसार इन मान्यताओ को मानने वाले प्रतीत्य–समुत्पाद के परम गभीर तत्व को नही जानते क्योकि स्वभाव–परभावादि का अस्तित्व उपपत्ति–विरुद्ध है।

इसलिए नागार्जुन कहते हैं कि मुमुक्षुओ के लिए भगवान् बुद्ध ने आर्यकात्यायनावाद सूत्र[७] मे अस्तिवाद नास्तिवाद दोनो का प्रतिषेध किया है क्योकि उन्हे भावाभाव के अविपरीत (यथार्थ) स्वभाव का यथावस्थित ज्ञान है। उन्होने भावाभाव उभय का प्रतिषेध किया है अत पदार्थो का भाव या अभाव–दर्शन तत्व[७६] नहीं हो सकता।

नागार्जुन कहते है कि यदि अग्न्यादि का स्वभाव है तो उस विद्यमान सद्वस्तु का अन्यथाभाव कैसे होगा? क्योकि जिसका प्रकृति अस्तित्व है उसका नास्तित्व कैसे सभव होगा। प्रकृति का अन्यथाभाव किसी प्रकार सिद्ध नही किया जा सकता। किन्तु वादी प्रबन्धोपरम (प्रवाह का विच्छेद) विनाश का लक्षण मानता है। उसके मत मे सभी वस्तुए जल की उष्णता के समान विपरिणाम धर्मी है अत सिद्ध है कि पदार्थो मे कही स्वभावता नहीं है क्योकि खपुष्प के समान जो प्रकृत्या अविद्यमान है उसका अन्यथात्व कैसा? या प्रकृत्या (स्वभावेन) जो विद्यमान है उसका अन्यथात्व कैसा? नागार्जुन ने जिस प्रकार स्वभाववाद का खण्डन किया उससे उन्हे यह प्रतीत हुआ कि कही लोग उन्हे तीर्थक (दृष्टिवादी) और उच्छेदवादी न समझ ले इसलिए वे अपने दर्शन को सक्षेप मे यह कह कर प्रस्तुत करते है कि मेरा दर्शन शाश्वतवाद उच्छेदवाद नही है।

शून्यवाद उच्छेद या शाश्वतवाद नहीं–

नागार्जुन कहते है कि मेरे दर्शन मे अन्यथात्व दर्शन से पदार्थो की जो नि स्वभावता सिद्ध की गई है वह विपक्षी के दर्शन मे मान्य अन्यथात्व दर्शन की दृष्टि से है, क्योकि मेरे दर्शन मे कभी किसी का अन्यथात्व अभिप्रेत नही है।

नागार्जुन अपने मत को साररूप मे व्यक्त करते हुए कहते है कि प्रकृति तथा धर्म अत्यन्त अविद्यमान एव अस्वभाव है। इनमे जो भावो के अस्तित्व नास्तित्व की परिकल्पना करते है वे शाश्वतग्राही अस्तिवादी है या उच्छेदद्रष्टा नास्तिवादी है। इसलिए तत्वग्राही विचक्षण को अस्तिनास्तिवाद का आश्रयण नहीं करना चाहिए। जिसके मत मे भावो का स्वभाव ही अभ्युपगत (स्वीकार) नही है उसके मत मे शाश्वत या उच्छेदवाद कैसे बनेगा?

सर्वास्तिवादी कहता है कि आप नि स्वभाववादी है भावदर्शन नही मानते। अत भावो का शाश्वत–दर्शन न माने यह ठीक हो सकता है किन्तु उच्छेद–दर्शन मानना होगा। चन्द्रकीर्ति कहते है कि भाव–स्वभाव का अभ्युपगम कर पश्चात् उसका अपवाद करे तो अभाव–दर्शन प्रसक्त होगा। जैसे तैमिरिक का उपलब्ध केश वितैमिरिक को किञ्चिद् उपलब्ध नही होता और वह नास्ति कहता है। इससे यह नही सिद्ध होता है कि वितैमिरिक का प्रतिषेध्य कोई सत् है। इस प्रकार माध्यमिक विपर्यस्त लोगो के मिथ्याभिनिवेश की निवृत्ति के लिए भावो के अस्तित्व का प्रतिषेध करता है। यह कहने मात्र से उस पर उच्छेदद्रष्टा होने का आरोप नही लगाया जा सकता।[२]

नागार्जुन ने स्वभाव की जो परिभाषा दी है वह नितान्त सम्यक और युक्त है किन्तु इस परिभाषा के अनुसार अग्नि और इस प्रकार कोई धर्म स्वभाववान नही है पर निष्कर्ष युक्त नही है। यह सही है कि अरणियो के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है किन्तु इससे उत्पन्न ये कोई स्वीय भाव (अपना निजी स्वरूप) नही होता यह बात सिद्ध नहीं होती।[३] यह सही है कि गाय का दूध तभी प्राप्त हो सकता है जब कोई स्वस्थ दुधारू गाय विद्यमान हो दोग्धा हो उसे समय पर खिलाया पिलाया जाए किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि गाय के दूध का कोई अपना स्वभाव या वैशिष्टय नही है। यही बात अन्य प्रकार के उत्पन्नो पर भी लागू होती है। इस प्रकार नागार्जुन का स्वभाववाद का खण्डन मात्र तार्किक बुद्धि कौशल और वितण्डावाद प्रतीत होता है। नागार्जुन को भी जब गाय के दूध की आवश्यकता होगी तो उनके मस्तिष्क मे निरन्तर यह बात होगी कि गाय के दूध का कुछ अपना स्वभाव (गुण) है जो भेड बकरी के दूध मे नही मिल सकती।

१६ बन्धनमोक्ष परीक्षा

इस अध्याय मे कुल १० कारिकाएँ है। यहॉ नागार्जुन ने अपने तर्को द्वारा ससार की सत्ता का निषेध किया है। चन्द्रकीर्ति ने अष्ट्रसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता और समाधिराजसूत्र से उदाहरण देकर नागार्जुन के मत

का पोषण किया है और उसकी तार्किक व्याख्या प्रस्तुत की है। नागार्जुन ससार की सत्ता का निषेध करने के लिए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते है–

सस्कारो का ससरण होता है या कि सत्वो का? जिन सस्कारो का ससरण होता है वे नित्य है या अनित्य[४]? नागार्जुन का कथन है कि–

१ नित्यो का ससरण असभव है और अनित्य उत्पाद के समनतर ही नष्ट हो जाते है विनष्ट सत्व अविद्यमान होने के कारण वन्ध्यापुत्र के सस्कारो के समान कही गमन नही कर सकते।

२ यदि कहे कि सस्कार हेतु–फल–परम्परा के रूप मे अविच्छिन्न रहते है और सतानरूप से प्रवर्तित होकर ससरण करते है तो यह भी ठीक नहीं है क्योकि कार्य कहीं से आगमन नही करता और कहीं गमन नही करता।

३ यदि कहे कि उत्तर क्षण के उत्पन्न होने पर पूर्व का ससरण होता है तो पूर्व और उत्तर क्षणो के एक ही होने पर यह असम्भव होगा। किन्तु उनका एकत्व असभव नही है क्योकि उनमे कारण–कार्यभाव है और पुन भिन्नता मानने और ससरण मानने पर अर्हतो का भी ससरण मानना होगा।[५]

४ पुनश्च नष्ट अनष्ट या नष्टमान किस प्रकार पूर्व क्षण से उत्तर क्षण का उदय होता है? यदि नष्ट से तो वह्नि–दग्ध बीज से भी अकुरोदय मानना होगा जब नष्ट–अनष्ट असिद्ध है तो नश्यमान स्वत ही असिद्ध हो जाता है।[६]

आलोचना

(१) अनित्य उत्पाद के समनन्तर नष्ट हो जाता है यह प्रतिपत्ति काल की उदग्रहणात्मक अवधारणा अव्ययीकरण पर आधारित है अन्यथा आनुभूतिक काल का क्षण प्रलबित क्षण होता है अर्थात इसके वर्तमान मे सद्य अतीत और सद्य भविष्यत् तनाव उग्निता या अपेक्षा के रूप मे सम्मिलित रहते है। इसके अतिरिक्त जैव और चैत्त तत्व अतीत सग्राही भी देखा जाता है। उदाहरण के लिए प्राणि व्यवहार अतीत अनुभव के अनुसार भिन्न देखा जाता है। यदि कहे कि वह मन का वर्तमान क्षण ही होता है अतीत क्षण नहीं तो यह काल का भौतिक निर्धारण है मानसिक नही। मानसिक काल का निर्धारण भौतिक प्रकार से करने पर स्मृति की व्याख्या असभव होगी जिसमे अतीत के अनुभूत विषय अतीतता के परिवेश और लक्षणो के साथ सग्रहीत होता है।[७]

(२) हेतु फल–परम्परा के रूप मे ससरण के तर्क का नागार्जुन का खण्डन भी युक्त नही है। उनकी युक्ति है कि हेतु अतीत होने और फल अनागत होने से असत है और असत होने से ससरण मे असमर्थ है। हेतु और फल को पृथक–पृथक देखना केवल हमारे द्वारा व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से आरोप है अन्यथा हेतु और फल एक ही प्रक्रिया के अन्तर्गत है। बीजाकुर को बीज और अकुर इन दो कोटियो के रूप मे ही क्यो देखा जाय। इन्हे एक ही प्रक्रिया क्यो नही माना जाय।

(३) उत्तर क्षण के आगमन पर पूर्व क्षण का ससरण मानने पर नागार्जुन की आपत्ति है कि वह क्षण की एकता होने पर ही सभव है और एकता होने पर कारण कार्य भेद नही होगा जैसे रूप से विज्ञान की उत्पत्ति कहने मे यह पूर्वगृहीत है।[६]

यहॉ नागार्जुन हमे दो विकल्प देते है या तो ससरण को चुने और कारण–कार्य भेद को छोडे अथवा कारण–कार्य भेद को चुने और ससरण को छोडे। किन्तु प्रश्न है कि ऐसा क्यो आवश्यक है? इसके लिए उनका उत्तर है कि प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर ससरित और आगत पूर्व और उत्तर की एकक्षणता स्वीकार करना आवश्यक होगा अन्यथा वे पृथक–पृथक होगे और परिणामत ससरण नही होगा किन्तु यदि एकक्षणता मानते है तो कारण–कार्य भेद नही होगा। स्पष्टत यह प्रतिपत्ति क्षणो की अणु–रूप कल्पना पर आधारित है। अर्थात् इनके अनुसार क्षण असीमल्प अवधि की पृथक–पृथक सत्ताए है। जिस क्षण मे कारण घटित होता है वह पृथक और जिसमे कार्य घटित होता है वह पृथक है और इसी से कारण और कार्य भी पृथक है। यह प्रतीत्य समुत्पादवाद की प्रतीत्य की परिभाषा से सगत भी है जिसके अनुसार एक घटना के घटित होने और अवसित होने पर दूसरी घटना घटित होती है। जैसा कि हमने देखा यह कारण–कार्यसम्बन्ध की और इस प्रकार उस वस्तु स्वरूप की जिसे बोधगम्य बनाने के लिए यह सम्बन्ध कल्पित है अयुक्त अवधारणा है।[६]

आत्म–बाधितता का प्रदर्शन ही उनका प्रतिपाद्य है इसलिए वे क्षण–भेद की प्रतिज्ञा की विसगति भी प्रदर्शित करते है। इसके विरुद्ध उनकी युक्ति है कि इससे अर्हतो का ससरण भी अपादित होगा क्योकि अर्हतो से भिन्न पृथग्जनो की उत्पत्ति तो होती ही है और उनकी उत्पत्ति से अर्हतो का जो कि पृथग्जनो से भिन्न है ससरण मानना होगा।[११] किन्तु यह तर्क भी युक्त नही है क्योकि क्षण भेद के साथ ससरण मानने का यह अर्थ नहीं है कि कोई भी दो वस्तुए पूर्वोत्तर रूप से और इस प्रकार ससरित और वदनुगामी रूप से परस्पर सम्बन्धित हो सकती है।

आलोचना

यह आपत्ति भी भ्रान्तिपूर्ण है जिस भ्राति का कारण वस्तु–स्वरूप को गहराई से नहीं देखना है। पूर्वक्षण से उत्तर क्षण के उदय का कोई एक रूप नहीं है बीजाकुर एक है आघात से व्रण दूसरा व्रण से पीडा तीसरा है वियोग से दु ख चौथा उपदेश से बोध पाचवा है और मनन से बोध छठा इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार पूर्वक्षण से उत्तर क्षण के उदय के हो सकते है। अब बीजाकुर मे यह कहना ठीक–नहीं है कि बीजक्षण अकुर क्षण के साथ रहता है बल्कि यह कहना ठीक है कि बीज–क्षण से अकुरक्षण तक एक विकास प्रक्रिया घटित होती है जिसके प्रथम छोर को बीज और अतिम छोर को अकुर की सज्ञा दी जाती है।[62]

नागार्जुन उपर्युक्त युक्तियो के आधार पर जिनकी अयुक्तिता दिखाई गयी है नागार्जुन आत्मा तथा बन्धन और मोक्ष का खण्डन करते है। बन्धन और मोक्ष के विषय मे उनकी युक्तियॉ नवीन नहीं है फिर भी यह स्वपूर्ण है यहॉ चन्द्रकीर्ति ससार के अस्तित्व को असिद्ध करने के लिए एक नवीन युक्ति देते है। नागार्जुन की नही वे ससार मे सद्भाव के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते है कि ससार है क्योकि उसका प्रतिद्वन्द्वी निर्वाण है। इसके उत्तर मे चन्द्रकीर्ति कहते है निर्वाण नहीं है[63] क्योकि प्रश्न होगा कि निर्वाण नित्य सत्त्व के लिए है या कि अनित्य सत्त्व के लिए? ये दोनो पक्ष ठीक नहीं है क्योकि नित्य अविकारी होता है और अनित्य अविद्यमान होता है अत निर्वाण नही होगा। जब निर्वाण नहीं है तो ससार भी कैसे विकल्पित होगा।

निर्वाण निर्वाण के होने के लिए कोई निर्वाण प्राप्त करने वाला सत्त्व भी होना चाहिए और वह हो नही सकता। इस युक्ति मे आत्मा की नित्यता और अनित्यता के अभ्युपगम के निषेध मे प्रयुक्त तर्क वैसे ही है जैसे इस प्रकार के दूसरे निषेधो के पक्ष मे दिये गए तर्क है।

निर्वाण के निषेध विषयक इन युक्तियो की अयुक्तता देखने के बाद अब हम इस सम्बन्धी मूल युक्ति की अयुक्तता देखेगे। मूल युक्ति है कि निर्वाण होने के लिए कोई सत्त्व होना चाहिए जिसका निर्वाण हो। किन्तु वह हो नहीं सकता। अब मान ले कि आत्मा या सत्त्व नहीं है किन्तु तब भी नागार्जुन के अपने अनुसार ही व्यवहार है जिसके निषेध का आश्रयण कर हम परमार्थ लाभ कर सकते है। तो हम कहेगे कि यही निर्वाण है।

यहॉ सर्वास्तिवादी प्रश्न करता है कि आपने ससार और निर्वाण तथा बन्धन और मोक्ष का प्रतिषेध कर दिया। मुमुक्षुओ की शान्ति के लिए तृष्णा–नदी से उत्तीर्ण होने के लिए और ससार महाटवी के कान्तार से

निस्तीर्ण होने के लिए तथागत का परम आश्वासन देने वाला महार्ध्यच्छन्द व्यर्थ होगा और निर्वाण प्राप्ति के लिए श्रुत–चिन्ता–भावनादि का उपासना क्रम भी व्यर्थ होगा।

नागार्जुन कहते है कि हमारे मत मे सर्वभाव नि स्वभाव है। प्रतिबिब मरीचिका जल अलातचक्र के समान आत्मा आत्मीय स्वभावो से रहित है। केवल विपर्यास से अहमात्र का परिग्रह है इसीलिए सत्व सोचता है कि मै सर्वोपादान रहित होकर निर्वाण प्राप्त करूँ और मै धर्म–प्रतिपन्न होकर निर्वाण अवश्य लाभ करूँगा। सत्व का यह अहकार मर्मकार ही सत्काय दृष्टि का उपादान है वस्तुत उसका यह महाग्राह है। इस महाग्राहभिनिवेशी के लिए शान्ति नही है। इसलिए मुमुक्षु के लिए ये सब परित्याज्य है।

अन्त मे आचार्य कहते है कि परमार्थ सत्य मे निर्वाण का अध्यारोप अनुपलब्ध होने के कारण निर्वाण असभव है। इसीलिए ससार परिक्षय भी असभव है। क्योकि जब निर्वाण नही है तथा उसकी प्राप्ति नही है तो ससार भी कहॉ विकल्पित होगा जिसके क्षय के लिए उद्योग हो।[६४]

१७ कर्मफल परीक्षा

इस अध्याय मे कुल ३३ कारिकाए है। नागार्जुन ने यहॉ कर्म फल और उसके सम्बन्ध का निषेध किया है। चन्द्रकीर्ति ने धम्मपद दिव्यावदान आर्य विमलकीर्ति निर्देश आर्यरत्नकूट सूत्र और समाधिराजसूत्र से उद्धरण दे नागार्जुन के सिद्धान्त को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। सर्वास्तिवादी कर्मफल सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित तर्क देता है।

(१) आत्मा की अमरता (सतान की अविच्छिन्नता) के कारण जन्म–मरण–परपरा तथा उसमे हेतु–फल–भाव की प्रवृत्ति होती है। उसी से सस्कार या आत्मा ससरण करते है इस प्रकार कर्म–फल–सबध सिद्ध होता है। नागार्जुन के अनुसार ससार नही है और चित्त भी उत्पत्ति के अनन्तर नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था मे कर्माक्षेप–काल मे विपाक (फल) का सद्भाव नही होगा। अत इस मत मे कर्म–फल का सबन्ध नहीं बनेगा।

(२) पुनश्च ससार मानेगे तभी सत्व जन्मान्तर मे अपने पूर्वकृत कर्म के विपाक–फल से सबद्ध होगा। अत कर्म–फल सबन्ध के लिए उसका आश्रय ससार मानना होगा।

क्षणिकवाद मे कर्म–फल की व्यवस्था– यह कहना कि क्षणिक वाद मे कर्मफल मे सम्बन्ध सभव नही ठीक नहीं है। वस्तुत निरुद्ध कर्म भी फलोत्पाद करते है। बीज क्षणिक है किन्तु उसमे अकुर–काड–नाल–पत्र स्वजातीय फल–विशेष की निष्पत्ति का सामर्थ्य है, अत बीज अकुरादि का कारण बन

स्वय निरुद्ध हो जाता है बीज यदि अकुरादि–सतान का प्रसव न करे और अग्नि आदि विरोधी प्रत्ययो से पहले ही नष्ट हो जाये तो उसका उच्छेद माना जाएगा। बीजनिरुद्ध न हो और अकुरादि सतान का प्रवर्तन करे तब उसका शाश्वतत्व माना जायेगा। किन्तु बीजाकुर–दृष्टान्त मे दोनो का अभाव है अत बीज मे शाश्वतोच्छेद दोष नही लगेगे। निकायान्तरीय[६५] पूर्वोक्त बीजाकुर दृष्टान्त के समान ही कुशल या अकुशल चेतना–विशेष को भी चित्त सन्तान का हेतु मानता है।

कुशल चित्त अर्हत् के चरम चित्त के समान भावि चित्त–सन्तान का हेतु न होकर निरुद्ध हो जाय तब कर्म को उच्छिन्न कह सकते है और भावि सन्तान को उत्पन्न करके भी स्वरूप से प्रच्युत न हो तो कर्म को शाश्वत कहेगे। किन्तु यहॉ दोनो नही है अत कर्म की क्षणिकता के सिद्धान्त मे पर उच्छेद या शाश्वतत्व का आरोप नही लगेगा।[६६]

अविप्रणाश से कर्मफल व्यवस्था वस्तुत जब कर्म उत्पन्न होता है तो उसके साथ सतान (जीव) मे एक अविप्रणाश[६७] अनश्वर नामक धर्म भी उत्पन्न होता है। यह विप्रयुक्त धर्म है। जैसे ऋण–पत्र लिख लेने से धनिक के धन का नाश नही होता बल्कि कालान्तर मे ब्याज के साथ मिलता है उसी प्रकार कर्त्ता–कर्म के विनष्ट होने पर भी इस अविप्रणाश धर्म के अस्तित्व से फल परिपक्व होता है। जैसे ऋणपत्र दाता का धन लौटाकर निर्मुक्त है अत वह विद्यमान हो या अविद्यमान पुन धनाभ्यागम नही कर सकेगा उसी प्रकार अविप्रणाश विपाक प्रदान कर निर्मुक्त ऋण–पत्र के समान कर्त्ता का विपाक से पुन सबन्ध नही करायेगा।

नागार्जुन के अनुसार कर्म–फल नि स्वभाव है कर्म उत्पन्न नही होता क्योकि यह नि स्वभाव है। कर्म स्वभावत होता तो वह शाश्वत भी होता क्योकि स्वभाव का अन्यथा भाव नही होता। कर्मस्वभावत होता तो अकृत होता क्योकि शाश्वत किसे किया नही जाता। शाश्वत विद्यमान होता है अत उसके लिए किसी की कारणता आवश्यक नहीं है। इतना ही नही प्रत्युत कर्म अकृत होगा तो अकृताभ्यागम (नही किये फल की प्राप्ति) दोष भी होगा। जिसने प्राणतिपातादि (हत्या) कर्म नही किया उसका भी अकृत कर्म है ही। उससे उसका सम्बन्ध मानना पडेगा। कृषि–वाणिज्यादि क्रियाओ का आरभ धन–धान्यार्थ किया जाता है किन्तु आपके मत मे उनके अकृत कर्म विद्यमान है अत उनका आरभ क्यो किया जाय? ऐसी अवस्था मे पुण्य कर्म और पाप कर्म का भी विभाग नहीं होगा क्योकि सबके अकृत पुण्य–पाप विद्यमान रहेगे। विपक्व विपाक कर्म भी पुन विपाक–दान करेगे क्योकि अविपक्व विपाकावस्था से विपक्व विपाकावस्था मे कोई अन्तर नहीं होगा। नागार्जुन के दर्शन मे कर्म नि स्वभाव है इसलिए शाश्वत–दर्शन या उच्छेद दर्शन के दोष नही लगते।

सर्वास्तिवादी एक अन्य प्रश्न उठाता है और कहता है कि आपका नि स्वभाववाद भगवान बुद्ध के बचन के विरुद्ध है। भगवान् बुद्ध स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि सबको कृत कर्म का विपाक स्वयमेव अनुभव करना पडता है। अपनी इस मान्यता से आप प्रधान नास्तिक सिद्ध होगे।

नागार्जुन कहते है कि हम लोग नास्तिक नही है प्रत्युत अस्तित्ववाद और नास्तित्ववाद का निरास करके निर्वाण के अद्वैत–पथ के प्रकाशक है। हम यह नहीं कहते कि कर्म कर्त्ता और फल नही है किन्तु वह नि स्वभाव है केवल इसकी व्यवस्था करते है।

यदि यह आपत्ति उठाई जाए कि नि स्वभाव पदार्थो का व्यापार नही बनेगा तो वह ठीक नही है क्योकि सस्वभाव पदार्थो मे ही व्यापार नहीं होता नि स्वभाव मे व्यापार होता है। क्या आप नि स्वभाववादी को अपने कार्य करते हुए नहीं देखते। भगवान् मे अपने ऋद्धि के प्रभाव से एक निमित्तक को उत्पन्न किया। उत्पन्न निमित्तक ने पुन एक दूसरा निर्मित्तिक का निर्माण किया। वह तथागत स्वभाव से रहित है अत शून्य एव नि स्वभाव है। दूसरा निर्मित्तिक जो पहले से निर्मित है वह भी नि स्वभाव है। इस दृष्टान्त मे नि स्वभाव पदार्थो का नि स्वभाव ही कार्यकर्तृत्व तथा कर्म कर्तृव्यपदेश सिद्ध होता है अत हम अद्वयवादी माध्यमिक मिथ्यादर्शी नही है।[६]

१८ आत्म परीक्षा

इस अध्याय मे कुल १२ कारिकाए हैं। नागार्जुन ने यहॉ आत्मा के अस्तित्व का खण्डन कर अनात्मवाद अथवा पुद्गल नैरात्म्यवाद की प्रतिष्ठा की है। चन्द्रकीर्ति ने मध्यमकान्तार चतु शतक आर्यरत्नावली अष्टसाहषिका प्रज्ञापारमिता धम्मपद। समाधिराजसूत्र तथा तथागतगुह्यकसूत्र और ललितविस्तर तथा आर्यसत्यद्वयावतार सूत्र आदि प्रामाणिक ग्रन्थो की सहायता से नागार्जुन के अनात्मवाद की व्याख्या की है। सर्वास्तिवादी माध्यमिक (नागार्जुन) से प्रश्न करता है कि आपके मत मे क्लेश कर्म कर्त्ता फलादि कोई तत्त्व नही है। मूढो को गन्धर्व–नगरादि के समान अतत्व ही तत्वाकारेण प्रतिभासित होते है तो फिर बताइये तत्त्व क्या है? और उसका अवतरण कैसे होता है?

नागार्जुन का कथन है कि आध्यात्मिक या बाह्य कोई भी वस्तु उपलब्ध नही होती अत अहकार–ममकार का सर्वथा परिक्षय करना ही तत्व है। सत्व की सत्कायदृष्टि से ही समस्त क्लेश उत्पन्न होते है अत उन क्लेश और दोषो को योगी आत्मा और विषयो को अपनी योगज बुद्धि से देखकर निषेध करता है। ससार का मूल सत्काय दृष्टि का प्रहाण होगा और उसके प्रहाण से सर्वक्लेश की व्यावृत्ति होगी।

आत्मा स्कन्ध से भिन्न या अभिन्न नहीं

यदि स्कन्ध ही आत्मा है तो उसका उदय व्यय उत्पाद और विनाश मानना होगा और फिर आत्मा की अनेकता भी माननी होगी। यदि आत्मा स्कन्ध व्यतिरिक्त हो तो उसका लक्षण स्कन्ध नहीं होगा। यदि आत्मा स्कन्ध–लक्षण नही है तो आपके मत मे उसका उत्पाद स्थिति भग लक्षण भी नही होगा। ऐसी अवस्था मे वह अविद्यमान या असस्कृत होगा और खपुष्प या निर्वाण के समान आत्म–व्यपदेश का लाभ नही करेगा।

योगी जैसे आत्म–नैरात्म्य मे प्रतिपन्न होता है वैसे ही आत्मीय स्कन्ध–वस्तुओ मे भी नैरात्म्य–प्रतिपन्न होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नैरात्म्य प्रतिपत्ता योगी की सत्ता है जिससे आत्मवाद सिद्ध हो क्योकि आत्मा और स्कन्ध के प्रतिषिद्ध होने पर कौन दूसरा परमार्थत शेष बचेगा जो निर्मम और निरहकार होगा। आत्मा–आत्मीय की अनुपलब्धि से सत्काय दृष्टि प्रहीण (नष्ट) होती है और सत्कायदृष्टि के प्रहाण (विनाश) से काम दृष्टि शीलव्रत आत्मवाद चतुष्टय का क्षय होता है। उसके क्षय से पुनर्भव का क्षय होता है। भव के निरुद्ध होने पर जाति–जरामरणादि समस्त निरुद्ध होते है। विकल्प अनादि ससार के अनादि काल से अभ्यस्त ज्ञान–अनादि ससार के अनादि काल से अभ्यस्त ज्ञान ज्ञेय वाच्य–वाचक कर्त्ता–कर्म करण–क्रिया आदि विचित्र प्रपच से उपजात है। ये समस्त लौकिक प्रपच सर्वभाव स्वभावोके शून्यता दर्शन से निरवशेष निरुद्ध होते है।

यहॉ चन्द्रकीर्ति शून्यता के निर्वाण–स्वरूप को स्पष्ट करते है। कहते है कि वस्तुओ की उपलब्धि होने पर ही समस्त प्रपच–जाल खडा होता है क्योकि रागी पुरुष बन्ध्या–दुहिता के प्रति उसके रूप–लावण्य–यौवन से आकृष्ट होकर कैसे राग–प्रपच का अवतारण नही करता। यदि राग न हो तो तद्विषयक विकल्प न हो और कल्पना–जाल न बिछे। फिर सत्काय–दृष्टिमूलक क्लेश उत्पन्न न हो और शुभ–अशुभ–आनिज्य कर्म न किये जॉय तो जाति जरा–मरण शोक परिदेव दु ख क्षैर्मनस्यादि का जाल रूप इस ससार कान्तार का अनुभव ही न हो।

योगी शून्यता की दर्शनावस्था मे स्कन्ध धातु और आयतनो को स्वरूपत उपलब्ध नही करता। वस्तु के स्वरूप की अनुपलब्धि से तद्विषक प्रपच का और विकल्प का अवतारण नही होता।

जब विकल्प उत्थित न होगे तो अह मय के अभिनिवेश से सत्कायदृष्टिमूलक क्लेशगण भी उत्पन्न नही होगे और उससे प्रेरित कर्म न होगे। कर्म के अभाव से जाति–जरा–मरणाख्य ससार का अभाव होगा। इस प्रकार अशेष प्रपचो के उपशम (शमन) स्वरूप एव शिवलक्षण शून्यता का बोध प्राप्त करने पर अशेष कल्पना–जाल का विग्रम होता है प्रपच के विगम से विकल्प की निवृत्ति होती है कर्मक्लेश ठीक निवृत्ति से

जन्म की निवृत्ति होती है। इस उपर्युक्त क्रम को दिखलाते हुए अन्त मे आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते है कि शून्यता का लक्षण सर्व प्रपच–निवृत्ति है। इसलिए वही निर्वाण है।[66]

अनात्मसिद्धि मे आगम बाधक नहीं नागार्जुन सर्वास्तिवादी की इस आशका का परिहार करते है कि यदि अध्यात्म और बाह्य सर्वथा कल्पित है तो भगवान् बुद्ध का यह बचन माध्यमिक मत के विरुद्ध होगा कि आत्मा का नाथ आत्मा ही है– कृत–अपकृत का साक्षी और आत्मा का साक्षी आत्मा ही है।[1]

चन्द्रकीर्ति कहते है कि क्या भगवान् ने यह नही कहा है कि सत्य या आत्मा नही है और धर्मसहेतुक है। वस्तुत आत्मा रूप या रूपवान् नहीं है रूप मे आत्मा या आत्मा मे रूप नही है। इस प्रकार विज्ञानादि के साथ आत्मा का व्यतिरेक करना चाहिये। इस प्रकार सर्व धर्म अनात्म है। किन्तु अब प्रश्न होता है कि भगवान के पूर्व वचन से परवचन का विरोध कैसे दूर हो? चन्द्रकीर्ति कहते है कि भगवान बुद्ध के शासन की नेयार्थता तथा नीतार्थता मे सामान्यत भेद करना चाहिये। आचार्य नागार्जुन कहते है कि– भगवान ने आत्मा का प्रज्ञापन किया और अनात्मा की भी देशना की। किन्तु वस्तुत बुद्ध ने आत्मा–अनात्मा की कुछ भी देशना नही की।[11]

आत्म–भाव के विपर्यास से घनतिमिर से आच्छादित नयन के समान जिन लोगो की बुद्धि सर्वथा आच्छादित है वे यद्यपि व्यवहार–सत्य मे स्थित है और लौकिक विषयो के ग्राही भी है तथापि वे पदार्थ की वास्तविकता का दर्शन नही करते। वे बुद्धि को ओदन–उदक–किण्वादि द्रव्य–विशेष के समान कलत्यादि महाभूतो के परिपाक मात्र से सभूत मानते है ये वादी पूर्वान्त और अपरान्त का अपवाद करते है और आत्मा तथा परलोक का निषेध करते है। इनके मत मे इहलोक परलोक नही है सत्व सुकृत–दुष्कृत कर्मो का विपाक नहीं है। इस सिद्धान्त से सत्व स्वर्गादि इष्ट फल–विशेष की प्राप्ति के उद्योग से पराङ मुख होगे। और अकुराल कर्मो के अभिसस्कार मे प्रवृत्त होकर नरकादि के महाप्रपात मे पतित होगे। इन वादियो को इस असत दृष्टि से निवृत्त करने के लिए भगवान ने सत्वो के चौरासी हजार चित्त–चरितो का भेद किया। हीन–मध्य और–उत्कृष्ट विनेय जनो पर अनुग्रह करके भिन्न–भिन्न वासनाओ का अनुवर्तन कर सबको भव से उद्धार करने की दृढ प्रतिज्ञा मे तत्पर होकर तथागत ने कहीं–कही अपने प्रवचनो द्वारा लोक मे आत्मा की भी व्यवस्था की है।

पूर्वोक्ति से अतिरिक्त दूसरे प्रकार के वे लोग है जो अकुशल कर्म–पथ से व्यावृत्त हैं किन्तु आत्म–दृष्टि के कारण आत्मा–आत्मीय भाव के स्नेह सूत्र से इतने आबद्ध है कि त्रैधातुक भविष्य को अतिक्रान्त करके

शिव अजर निर्वाण पुर का अभिगमन नहीं कर सकते। ये विनेय जन मध्य प्रकार के है। इनके सत्काय–दर्शन सबन्धी अभि निवेश को शिथिल करने के लिए और निर्वाण की अभिलाषा को उत्पन्न करने के लिए भगवान ने अनात्मा की देशना की है।

किन्तु जिनका पूर्व अभ्यासो से अधिमोक्षबीज परिपक्व है और निर्वाण प्रत्यासन्न है वे उत्कृष्ट कोटि के विनेय जन है ऐसे आत्मस्नेह रहित विनेय मौनीन्द्र तथागत के परम गभीर प्रवचनार्थ के तत्वावगाहन मे समर्थ है।[12]

उनकी विशेष अधिमुक्ति के लिए भगवान् बुद्ध ने न आत्मा का उपदेश किया न अनात्मा का ही। क्योकि जैसे आत्मदर्शन अतत्व है वैसे ही उसका प्रतिपक्ष अनात्मदर्शन भी अतत्व है। रत्नकूट सूत्र मे उक्त है कि हे हे काश्यप! आत्मा एक अन्त है नैरात्म्य दूसरा अन्त है जो इन दो अन्तो के मध्य मे है वह अरूप्य अनिदर्शन अप्रतिष्ठ अनाभास अविज्ञप्तिक अनिकेत कहा जाता है। यही मध्यमा–प्रतिपत् है और धर्मो के सबन्ध की यथार्थ दृष्टि है।[13]

तथागत के प्रवचन का प्रकार

आचार्य कहते हैं कि चित्त का कोई आलबन (विषय) नही है। चित्त का कोई विषय होता तो किसी निमित्त का आरोपण करके वाणी की प्रवृत्ति होती। जब चित्त का विषय ही अनुत्पन्न है तो निमित्त का अध्यारोप और वाणी की प्रवृत्ति का प्रश्न ही कहॉ उठता है– पदार्थ का स्वभाव निर्वाण के समान अनुत्पन्न और अनिरुद्ध है अत चित्त की प्रवृत्ति नही है। इसलिए भगवान् बुद्ध ने कोई देशना नही दी।

तथागत गुह्यसूत्र मे उक्त है कि हे शान्तमति! जिस रात्रि मे तथागत ने सर्वश्रेष्ठ सम्यक–सबोध प्राप्त की और जिस रात्रि मे उनका परिनिर्वाण हुआ इनके मध्य तथागत ने एक अक्षर भी उदाहार–व्याहार नही किया।[14]

किन्तु प्रश्न है कि भगवान् ने सकल सुरासुर नर किन्नर विद्या धरादि विनेय जन को विविध प्रकार धर्म–देशनाये कैसे दी? भगवान् ने एक क्षण के लिए वाणी का उदाहार–किया था जो विविध जन के मनस्तम्भ का हरण करने वाली और विविध प्रकार के बुद्धिवालो को विबुद्ध करने वाली थी। वस्तुत जैसे यन्त्रीकृत तूरी वायु के झोको से बजती है उसका कोई वादक नहीं होता किन्तु शब्द निकलते है इसी

प्रकार सत्वो की वासना से प्रेरित होकर बुद्ध की विकलहीन वाणी निस्रित होती है। जैसे प्रतिध्वनि के शब्द वाह्य और अन्त स्थित नही है उसी प्रकार बुद्ध की वाणी बाह्य और अन्त स्थित नही थी।

वह हेतु– प्रत्यय की अपेक्षा करके जगत का उत्पाद मानते है। इसलिए वह इहलोक–परलोक समस्त को नि स्वभाव कहते है केवल वस्तु के रूप की अविद्यमानता मानने के कारण माध्यमिक उसके नास्तित्व मे प्रतिपन्न है इतने से नास्तिको से इनकी समानता नहीं दी जा सकती क्योकि माध्यमिक जगत की सावृतिक सत्ता को स्वीकार करते है यद्यपि वस्तु की अस्वीकृति दोनो मे तुल्य है तथापि प्रतिपत्ता का भेद है। जैसे किसी चोर ने चोरी की। उस चोर के किसी शत्रु ने किसी को प्रेरित किया कि इसने चौर्य किया है। प्रेरित पुरुष सत्य नही जानता किन्तु चोर को कहता है कि इसने चोरी की है। एक अतिरिक्त व्यक्ति है जिसने चोर को चोरी करते देखा था वह भी कहता है कि इसने चोरी की है। इन दोनो मे चोर के चौर्य को लेकर कहने मे कोई भेद नहीं है किन्तु परिज्ञातृत्व (जानकारी) के भेद से भेद है। उनमे पहला मृषावादी है दूसरा सत्यवादी है। सम्यक परीक्षा करने पर पहला अयश और अपुण्य का भागी होगा दूसरा नही इसी प्रकार यहॉ भी माध्यमिक तो वस्तु के स्वरूप से यथावत विदित है और उसी के अनुसार वह कहता भी है दूसरे नही। ऐसी अवस्था मे वस्तु के वाह्य स्वरूप के अभेदमात्र से अविदित वस्तुवादी नास्तिको के साथ विदित वस्तुवादी माध्यमिक की ज्ञान तथा अभिधम मे समानता कैसे हो सकती है।[१५]

तत्वामृतावतार देशना भगवान ने सर्वतथ्यम का उपदेश दिया। यह उपदेश उन विनेय जनो की दृष्टि से है जिन्होने स्कन्ध–धातु–आयतन आदि की सत्य कल्पना की है और उसके अनुसार उपलब्धि करते है। इससे विनेय का यह निश्चय दृढ होता है कि भगवान सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी है क्योकि उन्होने भवाग्र (भव चक्र का अन्त) पर्यन्त के भाजनलोक और सत्वलोक की स्थिति उत्पाद प्रत्यादि का ठीक–ठीक उपदेश किया है।

न तथ्यम भगवत के प्रति विनेय जन की सर्वज्ञ बुद्धि जब निश्चित हो गई तब ऐसे विनेय की दृष्टि से भगवान् ने न तथ्य का उपदेश किया पूर्वोक्त सर्व तथ्य नही है क्योकि तथ्य वह है जिसका अन्यथाभाव नही होता। किन्तु सस्कारो का अन्यथा भाव है क्योकि वे प्रतिक्षण विनाशी है। इस प्रकार भावो का अन्यथा भाव है वे तथ्य नहीं है।

पुन भगवान ने तथ्यम अतथ्यम् दोनो का उपदेश दिया है। बाल जन की अपेक्षा से सर्वे तथ्यम और आर्यज्ञान की अपेक्षा से सर्वम अतथ्यम उपदेश है क्योकि आर्यजन की अपेक्षा से उनकी उपलब्धि नही होती।

जो तत्वदर्शन का चिरकाल से अभ्यास कर रहे है और जिनका आवरण थोडे मे ही छिन्न होने वाला है उन विनेयो की दृष्टि से भगवान् ने नैव अतथ्य नैव तथ्यम वचन बन्ध्यासुत न गौर है न कृपण है इस प्रतिषेध वचन के समान है।

बुद्ध का इस प्रकार का अनुशासन इसलिए यथार्थ अनुशासन है कि वह उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग मे प्रतिष्ठित करता है। उनका यह विनेय जन के अनुरूप शासन है। भगवान की यह देशना तत्वामृत के अवतारण का उपाय है। भगवान् ऐसा एक वाक्य भी नहीं कहते जो तत्वामृत के अवतार का उपाय न हो। आर्यदेव ने चतु शतक मे कहा है कि भगवान ने सत असत् सदसत न सत न असत् का जो उपदेश किया है वह समस्त विविध व्याधियो की अनुरूप औषधि है।

तत्व का लक्षण यद्यपि माध्यमिक सिद्धान्त मे तत्व का परमार्थ लक्षण नही हो सकता तथापि व्यवहार–सत्य के अनुरोध से जैसे वह अनेक लौकिक तथ्यो का अभ्युगम करता है वैसे ही तत्व का भी आरोपित लक्षण करता है। पहले कृतकार्य आर्य की दृष्टि से तत्व का लक्षण करेगे पश्चात लौकिक कार्य–कारण भाव की दृष्टि से ।

अपर प्रत्ययम् तत्व परोपदेश से गम्य नहीं थी प्रत्युत ढवय अधिगन्तव्य (स्वसवेद्य) है जैसे तिमिर रोग से आक्रान्त व्यक्ति असत्य केश– मशक मक्षिकादि रूपो को देखता है। उस रोग से अनाक्रान्त व्यक्ति उस रोगी को केश का यथावस्थित रूप दिखाना चाहे तो व्यर्थ होगा। हॉ उसके उपदेश से रोगी को केवल अपने ज्ञान का मिथ्यात्व मात्र ज्ञात होगा। तिमिर नाश के अनन्तर उसे वस्तु का स्वय साक्षात्कार होगा इसी प्रकार जब परमार्थभूत शून्यता–दर्शन के अजन से बुद्धिरूपी नयन अजित होगा तब तत्व ज्ञान उत्पन होगा और तत्व स्वय अधिगत होगा।

शान्तम –तत्व शान्त स्वभाव है क्योकि स्वभाव रहित है।

प्रपचैरप्रपचितम प्रपच वाणी है क्योकि वाणी द्वारा अर्थ प्रपचित होता है। तत्व प्रपच से अप्रपचित है अर्थात् वाणी का विषय नहीं है।

निर्विकल्पम विकल्प चित्त का प्रचार है। तत्व उससे रहित है।

अनानार्थम तत्व मे भिन्नार्थता नहीं है। वह अभिन्नार्थ–तत्व शून्यता से एकरस है इसलिए अनानार्थता उसका लक्षण है।

तत्व का लौकिक लक्षण शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का व्यावर्तन कर सिद्धान्त–सयत कार्यकारण भाव के द्वारा तत्व का अधिगम कराती थी।[16]

जिस कारण की अपेक्षा करके जो कार्य उत्पन्न होता है वह अपने कारण से अभिन्न नहीं थी बीज और अकुर एक नहीं है। अन्यथा अकुरावस्था मे अकुर के समान बीज भी गृहीत होना चाहिये। गृहीत होने पर बीज नित्य होगा क्योकि वह अविनष्ट होगा। ऐसी अवस्था मे शाश्वत वाद प्रसक्ति होगी जिससे कर्म–फल का अभाव सिद्ध होगा। कर्म–फल के अभाव से समस्त दोष–राशि उत्पन्न होगी। इसलिए जो बीज है वही अकुर है यह युक्त नहीं है। किन्तु इससे बीज से अकुर की भिन्नता भी सिद्ध नही होती अन्यथा बीज के बिना भी अकुर का उदय मानना पडेगा। ऐसी दशा मे अकुर के अवस्थान काल मे बीज अनुच्छिन्न ही रहेगा। इससे सत्कार्य वाद के समस्त दोष आपतित होगे।

इस प्रकार कार्य कारण रूप नहीं है और उससे भिन्न भी नही है। इसलिए कारण न उच्छिन्न है और न शाश्वत।[१७]

१६ काल परीक्षा

इस अध्याय मे कुल ६ कारिकाए है। नागार्जुन ने काल के अस्तित्व को उसके समग्र रूप मे तथा मास पक्ष दिवस घण्टा मिनट के द्वारा उसके खण्डित रूप का खण्डन किया है। चन्द्रकीर्ति ने समाधिराजसूत्र की सहायता से नागार्जुन के पक्ष की व्याख्या करने का प्रयास किया है।

आचार्य नागार्जुन काल का भी निषेध करते है। काल अतीत वर्तमान और भविष्यत इन तीन आयामो मे विभक्त है किन्तु वर्तमान और भविष्यत (अनागत) अतीत की अपेक्षा कर सिद्ध होते है। अब यदि ऐसा है तो नागार्जुन के अनुसार वे अतीत ही होगे। क्योकि यदि प्रत्युत्पन्न और अनागत की अतीत मे सत्ता नही हो तो वे उसी प्रकार स्वत नहीं होगे जिस प्रकार तिलो के बिना तेल अथवा अवध्या के बिना पुत्र नही हो सकता।

आकारत इसमे यह दोष है कि नागार्जुन यहॉ अतीत की अपेक्षा कर और अतीतगतत्व[१] को पर्यायवाची मान रहे है। काचपत्थर के आघात की अपेक्षा कर टूटता है किन्तु इसी कारण काच की टूटन पत्थर मे अथवा पत्थर की गति मे भी विद्यमान नही होती। इसी प्रकार पीडा व्रण मे और घटकुभकार की चाक–क्रिया मे नहीं होता। इसके अतिरिक्त वास्तव मे अपेक्षाकर का काल के सन्दर्भ मे कोई निश्चित अर्थ ही नहीं है जैसाकि हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।

ठीक बात यह है कि काल–निषेध विषयक नागार्जुन की यह युक्ति प्रतीत्यसमुत्पाद विषयक उनकी साधारण अवधारणा के अनुसार वस्तु–स्वभाव निषेध की समान्य युक्ति की आवृत्ति मात्र है। किन्तु हमने पीछे देखा कि यह युक्ति समान रूप से सर्वत्र लागू नही होती काल पर तो यह किसी तरह लागू नही होती।[११]

२० सामग्री परीक्षा (हेतु सामग्रीवाद का निषेध)

इस अध्याय मे कुल २४ कारिकाए है। नागार्जुन ने यहॉ बाह्य सामग्री वस्तुत्पादन का खण्डन किया है। चन्द्रकीर्ति ने चतु शतक ललित विस्तर और अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता का उदाहरण दे नागार्जुन के सामग्री के अस्तित्व के खण्डन सिद्धान्त की पुष्टि की है।

वीजादि हेतु–प्रत्यय–सामग्री (बीज पृथ्वी सलिल ज्वलन पवन गगन ऋतु आदि) से यदि फल (कार्य) उत्पन्न होता है तो यह बताना होगा कि उस सामग्री से व्यवस्थित फल का उत्पाद होता है या अव्यवस्थित ?

प्रथम पक्ष मानने पर फल का उत्पाद नहीं होगा क्योकि जब हेतु–प्रत्यय–सामग्री मे फल अवस्थित है ही तब उससे फल उत्पन्न कैसे होगा। इसलिए यदि कहे कि हेतु–सामग्री मे फल व्यवस्थित नही है तब यह बताना होगा कि ऐसी अवस्था मे सामग्री से फल कैसे उत्पन्न होता है।

हेतु–सामग्री मे यदि फल है तो वह गृहीत होना चाहिए किन्तु गृहीत नही होता अत सामग्री से फल उत्पन्न नहीं होता। हेतु–प्रत्यय–सामग्री मे यदि फल नहीं है तो वे हेतु –प्रत्यय नही है क्योकि ज्वाला–अगार मे अकुर नहीं है अत वह अकुर का हेतु–प्रत्यय नहीं होता।

१ सामग्री फलोत्पादन मे हेतु का अनुग्रह मात्र करती है। फल की उत्पत्ति मे हेतु अपना हेतुत्व विसर्ग करके निरुद्ध हो जाता है। (हेतु फलस्योत्पत्यर्थ हेतु दत्वा निरुध्यते)। फल की उत्पत्ति मे हेतु का यही अनुग्रह है।

२ आचार्य कहते हैं कि यदि फलोत्पत्ति के लिए हेतु अपना हेतुत्व देता है और निरुद्ध होता है तो उसके द्वारा जो दिया जाता है और जो निरुद्ध होता है वे दो होगे। इस प्रकार हेतु की दो आत्माए (स्वरूप) होगी। यह युक्त नहीं है। इससे अर्ध शाश्वतवाद (हेतु का एक रूप कार्यान्वयी होने के कारण शाश्वत होगा दूसरा निरुद्ध होने के कारण विनाशी होगा) सिद्ध होगा। एव च परस्पर विरुद्ध दो स्वरूपो का एक हेतु मे योग भी कैसे होगा।

इस विरुद्ध द्वय की आपत्ति से बचने के लिए यदि यह कल्पना करे कि हेतु फल को कुछ भी अपनी सार–सत्ता न देकर सर्वात्मनाविरुद्ध हो जाता है तब कार्य को अवश्य ही अहेतु मानना पडेगा। इस दोष से बचने के लिए कल्पना करे कि कार्य के साथ ही कारण–सामग्री उत्पन्न होती है और वह फल की उत्पादक होती है तो एक काल मे ही कार्य और कारण की सत्ता माननी पडेगी।

३ एक अन्य वाद है उसके अनुसार कार्य हेतु प्रत्यय–सामग्री के पहले अनागत स्वरूप मे और अनागतावस्था मे विद्यमान है। हेतु–सामग्री के द्वारा केवल उसकी वर्तमानावस्था उत्पन्न की जाती है वस्तुत द्रव्य यथावस्थित ही रहता है। यदि कार्य हेतु–सामग्री से पूर्व स्वरूपत विद्यमान है तो वह हेतु–प्रत्यय से निरपेक्ष होगा और अहेतुक होगा। किन्तु अहेतुक पदार्थो का अस्तित्व युक्त नही है केवल हेतु वादी है।

उनके मत मे हेतु ही निरुद्ध होकर कार्य रूप मे व्यवस्थित हो जाता है।

आचार्य कहते है कि फल यदि हेतु–रूप होगा तो हेतु का सक्रमण मानना पडेगा जैसे– नर एक वेष का त्याग कर वेषान्तर का ग्रहण करता है। इस प्रकार हेतु के सक्रमण मात्र से अपूर्व–फल का उत्पाद भी नहीं होगा। इसके अतिरिक्त हेतु–सक्रमण मानने से हेतु की नित्यता सिद्ध होगी फलत उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा क्योकि नित्य वस्तुओ का अस्तित्व नहीं होता।

जिस प्रकार निरुद्ध या अनिरुद्ध कोई हेतु फल को उत्पन्न नही कर सकता इसी प्रकार उत्पन्न या अनुत्पन्न फल का उत्पाद नहीं बताया जा सकता। हेतु मे किसी प्रकार का विकार न आये और वह फल से सबद्ध हो जाय यह असभव है क्योकि जो विकृत नही होता वह हेतु नहीं होता।

अथ च फल से वह सबद्ध भी कैसे होगा क्योकि सर्वास्तिवादियो के अनुसार हेतु मे फल विद्यमान है। हेतु फल से असबद्ध होकर भी फल को उत्पन्न नही करता क्योकि असबद्ध हेतु किस फल को उत्पन्न करेगा? यदि करे तो समस्त फलो को उत्पन्न करेगा या किसी को नही करेगा।[11]

हेतु–फल की परस्पर सगति (योग) भी नहीं होगी। अतीत फल की अतीत हेतु के साथ सगति नहीं होगी क्योकि दोनो अविद्यमान है। अनागत हेतु से अतीत फल की सगति नही होगी क्योकि एक नष्ट और दूसरा अजता है। इस प्रकार दोनो अविद्यमान हैं और भिन्न कालिक हैं। जैसे वर्तमान हेतु से अतीत–फल की तथा अतीत–फल की अतीत अनागत तथा वर्तमान हेतुओ के साथ सगति असभव है उसी प्रकार वर्तमान फल की त्रैकालिक हेतुओ से सगति भी असभव है।

पूर्वोक्त रीति से अनागत फल भी अतीत अनागत तथा प्रत्युत्पन्न हेतुओ से सगत नही होगा। आचार्य कहते है कि हेतु–फल की सगति नहीं है इसलिए हेतु फल को उत्पन्न नही कर सकता और सगति कालत्रय मे सभव नहीं है अत हेतु से फलोत्पाद का सिद्धान्त सर्वथा असगत है।[१११]

२१ सभव विभव परीक्षा (उत्पाद विनाश का निषेध)

इस अध्याय मे कुल २१ कारिकाए है। नागार्जुन ने यहॉ उत्पत्ति और विनाश का निषेध किया है दोनो ही की सभावनाओ से इन्कार किया है। चन्द्रकीर्ति ने ललित विस्तर और अन्य ग्रन्थो की सहायता से नागार्जुन के सिद्धान्त की पुष्टि की है।

सभव–विभव एक दूसरे के साथ–साथ होते हैं या एक –दूसरे से विरहित? सभव के बिना विभव नही हो सकता। यदि सभव के बिना विभव हो तो जन्म के बिना मरण भी हो। सभव के साथ भी विभव नही होगा अन्यथा जन्म मरण एक काल मे होगे। विभव के बिना भी सभव नहीं होगा अन्यथा कोई पदार्थ कभी अनित्य नहीं होगा। विभव के बिना भी सभव नहीं होगा क्योकि तब जन्म–मरण एक काल मे ही होगा। सहभाव और असहभाव से भिन्न कोई तीसरा प्रकार नहीं है जिससे सभव–विभव की सिद्धि हो।

पुन सभव–विभव क्षय–धर्मी भावो का होता है या अक्षय धर्मी भावो का दोनो ही प्रकार असिद्ध है। क्षयशील पदार्थो का सभव नहीं होगा। क्योकि क्षय का विरोधी सभव है। अक्षय पदार्थो का भी सभव नही होगा क्योकि अक्षय–धर्मभाव से विलक्षण है। इसी प्रकार क्षय या अक्षय पदार्थो का विभव भी नही हो सकता।[११२]

आलोचना

नागार्जुन प्रश्न करते है कि सभव–विभव एक–दूसरे से सयुक्त होते है या एक–दूसरे से विरहित। इसका उत्तर होगा कि वे न परस्पर सयुक्त होते है और न विरहित वे स्थिति व्यवहति तथा परस्पर अनुक्रमित होते है।

अब दूसरे अनुच्छेद को देखे। वे कहते है क्षय धर्मी पदार्थो का सभव नहीं होगा क्योकि क्षय धर्मिता और सभवता परस्पर विरुद्ध है।[११३] द्रष्टव्य है कि क्षय और अक्षय यहॉ विभव और सभव के पर्यायो के रूप मे ही प्रयुक्त किये गए है अन्यथा क्षय–धर्मिता और 'सभवता मे विरुद्ध कैसे है? नागार्जुन जो एक निरन्तर

व्यामिश्र करते है वह यह कि वे अनुभवात्मक अवधारणाओ को शुद्ध तार्किक अवधारणाओ मे रूपातरित कर अनुभव को आत्मबाधित कह देते है और जहॉ तार्किक अवधारणाओ से विरोध नही बनता वहॉ उनकी अप्रतिष्ठा अनुभव से उनकी सगति नहीं होने के आधार पर सिद्ध कर देते है।

२२ तथागत परीक्षा (तथागत के अस्तित्व का निषेध)

सर्वास्तिवादी कहता है कि तथागत है और इसलिए भव–सन्तति भी है। उन्होने महाकरुणा और प्रज्ञा धारण कर त्रैधातुक सकल सत्वो के दु ख–व्युपशम के निश्चय से असख्य कल्पो मे उद्‌भूत होकर अपने को क्षिति सलिल औषधि और वृक्ष के समान सत्वो का उपभोग्य बनाया और सर्वज्ञता का लाभ कर पदार्थो का अशेष तत्व परिज्ञात किया। जैसा धर्म है तथैव (तथा) अवगत (गत) करने के कारण वह तथागत है। ऐसे तथागतत्व की प्राप्ति किसी एक जन्म मे सभव नहीं है। उसके लिए भव–सन्तति आवश्यक है।

तथागत नाम से कोई अमल एव निष्प्रपच पदार्थ होगा तो वह पच–स्कन्ध–स्वभाव (रूप वेदना सज्ञा सस्कार विज्ञानरूप) होगा या उससे भिन्न होगा। तथागत स्कन्धरूप नहीं है अन्यथा कर्ता कर्म एक होगा। एक मानने पर तथागत का उत्पाद विनाश भी मानना होगा। तथागत स्कन्ध से अन्य भी नहीं है। अन्यथा वह स्कन्ध के बिना भी होगे।

इसलिए तथागत मे स्कन्ध नही है और स्कन्धो मे तथागत नही है। तथागत स्कन्धमान भी नही क्योकि वह स्कन्ध से भिन्न नहीं है।[११४]

एक अन्य मत है कि अनास्रव–स्कन्धो (शील समाधि प्रज्ञा विमुक्ति विमुक्तिज्ञान दर्शन) से तथागत उपात्त है। वह अवाच्य है अत उन्हे स्कन्ध रूप या स्कन्ध से व्यतिरिक्त नही कहा जा सकता।

आचार्य कहते हैं कि यदि बुद्ध अमल स्कन्धो का उत्पादन करके प्रज्ञप्त होते है और अवाच्य है तो स्पष्ट है कि स्वभावत नही है केवल प्रतिबिम्ब के समान प्रज्ञप्तम होते है। जो स्वभावत नहीं वह परभावत भी नही होता।

यदि वादी सर्वास्तिवादी कहे कि प्रतिबिम्ब स्वभावत नहीं होता किन्तु मुख्य और आदर्श की अपेक्षा करके होता है। इसी प्रकार तथागत भी स्वभावत अविद्यमान हैं किन्तु अनास्रव पचस्कन्धो का उत्पादन कर परभावत होगे।

ऐसी स्थिति मे प्रतिबिब के समान तथागत भी अनात्मा होगे। किन्तु जो प्रतिबिम्ब के तुल्य अनात्म और नि स्वभाव होगा वह अविपरीत मार्गगामी भावरूप तथागत कैसे होगा? स्वभाव–परभाव के अतिरिक्त तथागत की तृतीय कोटि क्या होगी? यदि तथागत स्कन्धो से अन्य या अनन्य नही थी और केवल स्कन्धो के उपादान से प्रज्ञापित होते है तो स्कन्धो को ग्रहण करने से पूर्व तथागत को होना चाहिये जिससे पश्चात स्कन्धो का उपादान करे। किन्तु स्कन्धो का उपादान न करके तथागत की सिद्धि नहीं होगी। तथागत स्कन्धो से अभिन्न–भिन्न तथा भिन्न–अभिन्न नही है। आधार या आधेय भी नही है अत वह अविद्यमान है।[११५]

सर्वास्तिवादी कहता है कि हम लोग कणाद जैमिनि गौतम दिगम्बर आदि के उपदेशो की स्पृहा को छोडकर सकल जगत के एकमात्र शरणय अज्ञानान्धकार के एकमात्र निवारक तथागत की शरण मे आये किन्तु आपने उनकी सत्ता का निषेध करके हमारी सारी आशा समाप्त कर दी।

नागार्जुन का कथन है कि तथागत के व्यक्तित्व का यह रहस्य है कि उसे शून्य नही कहा जा सकता और अशून्य भी नही कहा जा सकता। इसी प्रकार उभय (शून्य अशून्य) अनुभय (न शून्य न अशून्य) भी नही कहा जा सकता। किन्तु व्यवहार–सत्य की दृष्टि से शून्यता आदि का आरोपण कर प्रज्ञापित किया जाता है।[११६]

आचार्य कहते है कि जिस प्रकार तथागत मे उपर्युक्त शून्यता आदि का चतुष्टय अप्रसिद्ध है वैसे ही शाश्वत आदि का चतुष्टय (लोक शाश्वत है या अशाश्वत उभय है अनुभय) तथा लोक की अन्तता–अनन्तता आदि (लोक अन्तवान है या अनन्त उभय है या अनुभय तथागत मरण के बाद उत्पन्न होते है या नही उनका उभय है या अनुभय) आदि के प्रश्न सर्वथा अप्रसिद्ध है।

आचार्य कहते हैं कि तथागत प्रकृतित शान्त नि स्वभाव एव प्रपचातीत है किन्तु लोग अपने बुद्धिमन्दता के कारण उनके सबध मे शाश्वत–अशाश्वत नित्य–अनित्य अस्तिता नास्तिता शून्यता–अशून्यता सर्वज्ञता–असर्वज्ञता आदि की कल्पनाएँ करते हैं। किन्तु वे यह नही समझते कि ये सभी प्रपच वस्तु मूलक होते है किन्तु तथागत अवस्तु है। अत प्रपचातीत एव अव्यय है। ऐसे भगवान बुद्ध के सम्बन्ध मे जो लोग अपनी उत्प्रेक्षा से मिथ्या कल्पनाए रच लेते है वे अपने ही प्रपचो के कारण तथागत–ज्ञान से वचित होते है और अपना नाश कर लेते है।[११६]

तथागत व भाजन लोक की नि स्वभावता जैसे सत्व—लोक नि स्वभाव है वैसे भाजन—लोक (जगत) भी नि स्वभाव है क्योकि जिस स्वभाव का तथागत होता है उसी स्वभाव का यह जगत भी होता है यत तथागत नि स्वभाव है अत जगत भी नि स्वभाव है।"

आचार्य चन्द्रकीर्ति तथागत और लोक दोनो की नि स्वभावता को सूत्रो से भी प्रभावित करते है—

तथागतो हि प्रतिबिम्बभूत कुशलस्य धर्मस्य अनास्रवस्थ।
नैवात्र तथता न तथागतोऽस्ति बिम्ब च सदृश्यति सर्वलोके।।

२३ विपर्यास परीक्षा (विपर्यास (मोह) का निषेध)

इस अध्याय मे कुल २५ कारिकाए है। नागार्जुन ने विपर्यास (क्लेश) का खण्डन किया है। चन्द्रकीर्ति ने महावस्तु और समाधिराजसूत्र के उद्धरणो से नागार्जुन के इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। आत्मा के सम्बन्ध मे जब अस्ति—नास्ति कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता तब उसके बिना उसके आश्रित अन्य धर्मो का अस्तित्व—नास्तित्व कैसे सिद्ध किया जा सकता है क्योकि क्लेश किसी का आश्रय लेकर सिद्ध होते है वह आश्रय आत्मा ही हो सकता था जिसका पहले ही निषेध कर दिया गया है। ऐसी अवस्था मे बिना आश्रय के क्लेश कैसे होगे? क्लेशो के हेतु शुभ—अशुभ और विपर्यास भी निरपेक्ष नि स्वभाव नहीं है।

रूप शब्द गन्धादि का आलबन करके क्लेश त्रय होते है किन्तु रूप शब्दादि कल्पनामात्र स्वप्न तुल्य है। मायापुरुष मे या प्रतिबिब मे शुभ—अशुभादि क्या होगे। शुभ अशुभ आदि सभी क्लेश हेतु तथा क्लेश अन्योन्य की अपेक्षा से प्रज्ञापित होते है अत सभी नि स्वभाव है। अनित्य मे नित्य बुद्धि होना

यदि विपर्यास है तो शून्य मे अनित्य बुद्धि क्या विपर्यास नही है। वस्तुत ग्रहीता जिन नित्यादि विशेषणो से रूप शब्द घ्राण आदि वस्तुओ का ग्रहण करता है वे समस्त स्वभावत शान्त है अत उनका ग्रहण सिद्ध नही होता। जब ग्रहण ही सिद्ध नहीं है तो उसके मिथ्या या सम्यक होने का प्रश्न ही कहॉ उठता है?"[१]

२४ आर्यसत्य परीक्षा (चार आर्य सत्यो का निषेध)

इस अध्याय मे ४० कारिकाए है। नागार्जुन ने यहॉ चार आर्यसत्यो का खण्डन किया है सत्य द्वय (व्यवहार सत्य और परमार्थ सत्य) का विवेचन किया है और उसके मन्तव्य को प्रकट करने का प्रयत्न किया

है। चन्द्रकीर्ति ने आर्य रत्नावली समाधिराजसूत्र आर्य लकावतार सूत्र चतु शतक आर्य हस्तिक्षय सूत्र और अन्य ग्रन्थो की सहायता से नागार्जुन के मन्तव्य को प्रकट करने का प्रयास किया है।

सर्वास्तिवादी नागार्जुन से प्रश्न करता है कि शून्य है और किसी पदार्थ का उदय–व्यय नही है तो यहॉ चार आर्य सत्यो का भी अभाव होगा। दु ख की सत्यता आर्यो को ही ज्ञात होती है। यह दु ख आर्य–सत्य तब युक्त होगा जब सस्कारो का उदय–व्यय सभव होगा किन्तु जब शून्यवाद है तो किसी के उदय–व्यय का प्रश्न ही नही उठता। फलत यहॉ दु ख आर्य–सत्य न होगा। जब दु खी ही नही होगा तो उसके समुदय का प्रश्न ही नही है अत समुदय–सत्य भी न होगा। जो दु ख का हेतु है वह समुदय है। वह समुदय तृष्णा कर्म क्लेश है। दु ख का पुन उत्पन्न न होना निरोध–सत्य है किन्तु जब दु ख और समुदय नही है तो निरोध कहॉ है? यदि दु ख–निरोध नही है तो मार्ग–सत्य भी नही है।

यहॉ जब चतुरार्य–सत्यो का अभाव है तो उनकी परिज्ञा (अनित्यादि आकारो मे दु ख सत्य का ज्ञान) दु ख–समुदय का प्रहाण दु ख निरोधगामिनी प्रतिपत्तियो की भावना और दु ख–निरोध का साक्षात्कार भी नहीं होगा।

पुनश्च इन चार आर्य–सत्यो के अभाव मे तथा उनकी परिज्ञा आदि के अभाव मे चार आर्य फल (स्रोतापत्ति सकृदाग्रामी अनागामी अर्हत्) भी नहीं होगे और फलाभाव से फलस्य आठ महापुरुष–पुद्गलो का अभाव होगा। अष्ट पुरुष पुद्गल के अभाव मे सघ नहीं होगा। आर्य–सत्यो के अभाव मे सद्धर्म (निरोध–सत्य फल धर्म है मार्ग सत्य फलावतार धर्म है। यह अधिगम–धर्म भी है मार्ग की प्रकाशिका देशना आगम धर्म है।) नहीं है। धर्म और सघ के अभाव मे बुद्ध भी नही होगे। इस प्रकार इन दुर्लभ त्रिरत्नो से भी शून्यवादी वचित होगा।

नागार्जुन कहते है कि शून्यता का अर्थ अभाव नही। माध्यमिक ने शून्यता का सर्वास्तिवादी द्वारा कल्पित अर्थ नहीं किया है अत उसे शून्यता के अभिधान का प्रयोजन भी ज्ञात नही हुआ। शून्यता के उपदेश का प्रयोजन अशेष प्रपच का उपशम है। जो शून्यता का अभाव अर्थ करता है वह प्रपच जाल का विस्तार करता जा रहा है।

प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का जो अर्थ है वही शून्यता शब्द का अर्थ है।[12] अभाव शब्द का जो अर्थ है वह शून्यता शब्द का अर्थ नहीं है। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि जो सत्य–द्वय के विज्ञान से रहित है उसे कथमपि मोक्ष–सिद्धि नहीं होगी। नागार्जुन के ज्ञानमार्ग से जो बहिर्गत है उनके कल्याण के लिए कोई उपाय नही है।

बुद्ध की धर्मदेशना दो सत्यो का व्याख्यान करती है– लोक सवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य।[१२१] समस्त बाह्य आध्यात्मिक पदार्थो के दो स्वरूप है। वस्तुओ का पारमार्थिक रूप वह है जो सम्यक द्रष्टा आर्य के ज्ञान का विषय है किन्तु उसकी स्वरूप सत्ता नही है (नतु स्वात्मतया सिद्धम)। वस्तुओ का सावृतिक रूप वह है जो पृथगजन की मिथ्यादृष्टि का विषय है किन्तु इसका भी स्वरूप असिद्ध है। समस्त पदार्थ इन दो रूपो का धारण करते है। इन दो स्वरूपो मे सम्यक द्रष्टा का जो विषय है वह तत्व है। वही पारमार्थिक सत्य है। मिथ्या–दृष्टि का जो विषय है वह सवृत्ति–सत्य है वह परमार्थ नही है।[१२२]

मिथ्यादृष्टि भी सम्यक और मिथ्या भेद से दो है। इसलिए पूर्वोक्त मिथ्यादृष्टि (सवृति–सत्य) के दो ज्ञान और उनके दो विषय है। (१) शुद्ध तथा रोगरहित इन्द्रियो वाले व्यक्ति का वाह्य विषयक ज्ञान (२) दोषग्रस्त इन्द्रियो वाले व्यक्ति का ज्ञान। स्वस्थ इन्द्रियो वाले व्यक्ति के ज्ञान की अपेक्षा दुष्टेन्द्रिय व्यक्तियो का ज्ञान मिथ्याज्ञान है। सावृतिक सत्यता और मिथ्यात्व का निर्णय केवल लोक की अपेक्षा से ही होता है आर्यज्ञान की अपेक्षा से नहीं।[१२३]

लोक सवृत्ति सत्य

वस्तुत मोह सवृत्ति है क्योकि वह वस्तु के यथार्थ स्वभाव को आवृत करता है। सवृति एक ओर वस्तु के स्वभाव–दर्शन के लिए आवरण खडा करती है दूसरी ओर पदार्थो मे असत्–स्वरूप का आरोपण करती है। सवृति नि स्वभाव एव सत्याभासित पदार्थो को स्वभावेन तथा सत्यरूपेण प्रतिभासित करती है। किन्तु यह अत्यन्त मिथ्या है। लोकदृष्टि से ही इसकी सत्यता है अत इसे लोक–सवृति सत्य कहते है।

यह प्रतीत्य–समुत्पन्न है इसलिए कृत्रिम है।[१२४]

किन्तु जो सवृति से भी मृषा है सवृत्ति–सत्य नहीं है (सवृत्यापि यन्मृषा तत्सवृतिसत्य न भवति)

भवाग (अविद्या सस्कार नामरूप आदि) सवृत्ति–सत्य है

किन्तु सक्लिष्ट अविद्या से ग्रस्त व्यक्ति के ही लिए।

श्रावक प्रत्येक बुद्ध तथा बोधिसत्व के लिए वह सवृत्ति मात्र है सत्य नही है क्योकि वे सक्लिष्ट अविद्या को नष्ट कर चुके है और समस्त सस्कारो को प्रतिबिब के तुल्य देखते हैं।

जिस वस्तु से बाल पृथगजन–ठगा जाता है उसे आर्य सवृतिमात्र मानता है। आर्य को क्लेशावरण नही है केवल ज्ञेयावरण है अत उसे विषयाभास गोचर है अनार्य को निराभासगोचरता है। बुद्ध को सर्व धर्म का सर्वाकार ज्ञान है अत वह सवृति सत्य को सवृतिमात्र कहते है।

परमार्थ सत्य सत्य अवाच्य है एव ज्ञान का विषय नही है। वह स्व–सवेद्य है उसका स्वभाव लक्षणादि से व्यक्त नहीं किया जा सकता। परमार्थ–सत्य की विवक्षा से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जैसे तिमिर रोग से आक्रान्त व्यक्ति अपने हाथ से पकडे धान्यादि पुज को केशरूप मे देखता है किन्तु उसे शुद्ध दृष्टिवाला जिस रूप मे देखता है वही तत्व होता है वैसे ही अविद्यातिमिर से उपहृत अतत्व द्रष्टा स्कन्ध धातु आयतन का जो स्वरूप (सावृतिक) उपलब्ध करता है उसे ही अविद्या–वासना रहित बुद्ध जिस दृष्टि से देखते है वही परमार्थ–सत्य है।

प्रश्न उठता है कि परमार्थ–सत्य अवाच्य अदृश्य है तो उसे अविद्या–रहित कैसे देखेगे।

चन्द्रकीर्ति कहते है कि अदर्शन न्याय (न देखा जा सकना) से ही उसका देखना सभव है। परमार्थ सत्य की किसी प्रकार देशना नहीं हो सकती क्योकि जिसके द्वारा देशित होना है जिसके लिए देशना करनी है और जिसकी देशना करनी है ये सभी परमार्थत अनुत्पन्न हैं। इसलिए अनुत्पन्न धर्मो से ही अनुत्पन्न धर्मो को बताया जा सकता है। तत्व मे भाव–अभाव स्वभाव–परभाव सत्य–असत्य शाश्वत–उच्छेद नित्य–अनित्य सुख–दु ख शुचि–अशुचि आत्मा–अनात्मा शून्य–अशून्य लक्षण–लक्ष्य एकत्व–अनेकत्व उत्पाद–निरोधादि नही होते। तत्व के ज्ञान मे आर्य ही प्रमाण है अनार्य नही।

एक प्रश्न उठता है कि यदि माध्यमिक दार्शनिक लोक का भी प्रामाण्य स्वीकार करते है तो लोक अवश्य तत्व दर्शी होगा क्योकि जड प्रमाण नही होता। चक्षुरादि से ही तत्व निर्णय होता है अत आर्यमार्ग के अवतरण के लिए शील श्रुति चिन्ता भावना आदि का प्रयास अवश्य निष्फल होगा।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि लोक सर्वथा प्रमाण नहीं हो सकता लोक–प्रमाण से तत्वदशा मे बाधा भी नही होती। हॉ लोक–प्रसिद्धि से लौकिक अर्थ अवश्य बाधित होगा।[१२५]

सत्यद्वय का प्रयोजन सर्वास्तिवादी प्रश्न करता है कि यदि माध्यमिक–सिद्धान्त मे परमार्थ निष्प्रपच स्वभाव है तो भगवान् ने अपरमार्थभूत स्कन्ध धातु आयतन चार आर्य सत्य प्रतीप्य–समुत्पाद आदि की देशना क्योकी? अतत्व परित्याज्य होता है और परित्याज्य का उपदेश करना व्यर्थ है।

नागार्जुन का उत्तर है कि व्यवहार (अभिधान–अभिधेषु ज्ञान ज्ञेय आदि) के अभ्युपगम के बिना परमार्थ की देशना अत्यन्त अशक्य है। और परमार्थ के अधिगम के बिना निर्वाण का अधिगम अशक्य है।[१२६] जो लोग सत्य–द्वय की व्यवस्था को नही जानते किन्तु शून्यता का वर्णन करते है उन मन्दप्रज्ञ लोगो की दुदृष्ट शून्यता वैसे ही नष्ट कर देती है जैसे ठीक से न पकडा गया सर्प तथा अविधि से प्रसाधित कोई विद्या किसी साधक का[१२७]

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि जो योगी अज्ञानमात्र से उत्पन्न सवृति सत्य को नि स्वभाव जानकर शून्यता की परमार्थता को जानता है वह दो अन्तो (शाश्वत उच्छेद) मे पतित नही होता।

किसी भी पदार्थ का पहले अस्तित्व नही था। जिसके नास्तित्व को योगी ने बाद मे जाना हो क्योकि उसने पहले भी (सदा ही) भाव–स्वभाव की अनुपलब्धि की है अत बाद मे उसके नास्तित्व ज्ञान का प्रसग ही नही है योगी लोकसवृत्ति को प्रतिबिब के आकार मे ग्रहण करता है उसे नष्ट नही करता। इसलिए वह कर्म–फल धर्म–अधर्म आदि की व्यवस्था को बाधा नहीं पहुँचाता किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वह परमार्थ तत्व मे सस्वभावता का आरोपण करता है उसे इसकी आवश्यकता भी नही है क्योकि कर्म–फल आदि की व्यवस्था पदार्थो की नि स्वभावता के सिद्धान्त मे ही सभव है सस्वभाववाद मे नही।

शून्यता भाव या अभाव दृष्टि नही है।

चन्द्रकीर्ति कहते है कि शून्यता एक महती विद्या है भाव–अभाव दृष्टिओ का तिरस्कार कर यदि उसे मध्यमा–प्रतिपत्त से ग्रहण किया जाय तो वह अवश्य ही साधक को निरूपधिशेष निर्वाण के सुख से युक्त करती है। अन्यथा ग्रहण से ग्रहीता का नाश कर देती है।

नागार्जुन कहते है कि शून्यता की इस दु ख गाहता को देखकर ही भगवान बुद्ध ने अपने को धर्मोपदेश से निवृत्त करना चाहा था जो ब्रह्मा सहपति के अनुरोध से सभव नही हुआ।[१२]

आचार्य कहते है कि शून्यता के सिद्धान्त पर सर्वास्तिवादियो के जितने आक्षेप है वह सत्य द्वय की अनभिज्ञता के कारण है। शून्यता को अभावार्थक समझकर समस्त दोष दिये जाते है किन्तु माध्यमिक शून्यता की अभावात्मक व्याख्या नही करता प्रत्युत शून्यता का अर्थ प्रतीप्य–समुत्पाद करता है अत उसकी शून्यता दृष्टि नहीं है।[१२९]

इस शून्यता को ही उपादान–प्रज्ञप्ति कहते है। जैसे चक्रादि (रथ के अग) का उपादान कर (उपादाय) रथ की प्रज्ञप्ति होती है। जो अपने अगो का उपादान करने पर प्रज्ञप्त होता वह अवश्य ही स्वभावेन अनुत्पन्न होता है। जो स्वभावेन अनुत्पन्न है वही शून्यता है।

शून्यता ही मध्यमा– प्रतिपत है। जिसकी स्वभावेन अनुत्पत्ति है उसका अस्तित्व नही है। जो स्वभावेन अनुत्पन्न है उसका नाश क्या होगा? अत उसका नास्तित्व भी नही है। इस प्रकार जो भाव और अभाव इन दो अन्तो से रहित है और अनुत्पत्ति–लक्षण है यह मध्यमा–प्रतिपत (मध्यम मार्ग) है वह शून्यता है। फलत प्रतीत्य समुत्पाद की ही ये विशेष सज्ञाएँ है– शून्यता उपादाय–प्रज्ञप्ति मध्यमा प्रतिपत।[93]

निर्वाण परीक्षा निर्वाण द्विविध है– सोपधिशेष निरूपधिशेष।

सोपधिशेष इस निर्वाण मे अविद्या राग आदि क्लेशो का पूर्ण रूप से अन्त हो जाता है। आत्म–स्नेह जिसमे आहित होता है वह उपधि है। उपधि शब्द से पच उपादान–स्कन्ध अभिप्रेत है क्योकि वह आत्म–प्रज्ञप्ति का निमित्त है। उपधिशेष एक है। इस उपधिशेष के साथ जो निर्वाण है वह सोपधिशेष निर्वाण है। यह स्कन्धमात्र है जो सत्काय दृष्टि आदि क्लेशो से रहित है।

निरूपधिशेष जिस निर्वाण मे पचस्कन्धादि भी न हो उसे निरूपधिशेष निर्वाण कहते है।

सर्वास्तिवादी का कथन है कि शून्यवाद मे निर्वाण का उपर्युक्त द्विविध विभाजन सभव नहीं है क्योकि यहाँ जब किसी का उत्पाद या निरोध नहीं होता तथा क्लेश और स्कन्ध नही होते तो किस का निरोध करने से निर्वाण होगा।

नागार्जुन कहते है कि स्कन्धो को सस्वभाव मानने पर उनका उदय–व्यय नहीं होगा क्योकि स्वभाव अविनाशी होता है अत स्कन्धो के निवृत्ति होने का प्रश्न ही नही उठेगा फिर निर्वाण कैसा? वस्तुत स्कन्धो का निवृत्ति–लक्षण निर्वाण अयुक्त है। निर्वाण के पहले भी क्लेश नही है जिनके परिक्षय से निर्वाण सिद्ध होगा क्योकि स्वभावत विद्यमान का परक्षय नहीं हो सकेगा। अत सम्पूर्ण कल्पनाओ का क्षय ही निर्वाण है। यही सिद्धान्त–समस्त निर्वाण का लक्षण है। भगवान बुद्ध कहते है कि जो रागादि के समान प्रहीण (नष्ट) नही हो तो (अप्रहीणम्) जो श्रामण्यफल के समान प्राप्त नहीं होता जो स्कन्धादि के समान उच्छिन्न (अनुच्छिन्नाम) नहीं होता जो अशून्य (सस्वभाव) पदार्थो के समान नित्य नही होता (अशाश्वतम्) स्वभावत अनिरुद्ध (अनिरुद्धम) और अनुत्पन्न (अनुत्पन्नम्) हो वह वास्तविक अर्थ मे निर्वाण है–

अप्रहीणम सप्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम।

अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते।।

म० शा० २५.३

चन्द्रकीर्ति निर्वाण की पूर्वकल्पना क्षयता के विषय मे भगवान बुद्ध का एक वचन उद्धृत करते है–

निवृत्तिधर्माण न अस्ति धर्मा ये नेह अस्ती न ते जातुअस्ति।

अस्तीति नास्तीति च कल्पनावताम एव चस्तान न दु ख शाम्यति।।[131]

निरूपधिशेष निर्वाण धातु मे क्लेश– कर्मादि का या स्कन्धो का सर्वथा अभाव है यह सभी बौद्ध सम्प्रदायो को मान्य है। जैसे अन्धकार मे रज्जु मे सर्प उपलब्ध है किन्तु प्रकाश के उदय के साथ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार निर्वाण मे समस्त धर्म नष्ट हो जाते है। जैसे अन्धकारावस्था मे भी रज्जु रज्जु ही था सर्प नही था उसी प्रकार क्लेश–कर्मादि समस्त पदार्थ ससारावस्था मे भी तत्वत नहीं है। जैसे तिमिर रोगाक्रान्ता को सर्वथा असत्केश का प्रतिभास होता है वैसे ही असत् आत्मा और असत आत्मीयो के गृह से ग्रस्त पृथग्जन को असत भावो का भी सत्यत प्रतिभास होता है यही ससार है।

निर्वाण भाव नहीं है अन्यथा उसका जरा–मरण होगा। भाव का लक्षण जरा–मरण है। जरा–मरण रहित खपुष्प होता है।[132]

पुनश्च यदि निर्वाण भाव है तो वह सस्कृत होगा असस्कृत नही क्योकि असस्कृत किसी देश काल या सिद्धान्त मे भाव नहीं होता।

पुनश्च यदि निर्वाण भाव होगा तो अपने कारण–सामग्रियो से उत्पन्न होगा किन्तु निर्वाण किसी से उत्पन्न नहीं होता कोई भाव हेतु–प्रत्यय सामग्रियो का बिना उपादान किये नही होता।

यद्यभावश्च निर्वाण मनुपादाय तत्कथम् निर्वाण अभाव भी नही होगा अन्यथा निर्वाण अनित्य होगा क्योकि क्लेश–जन्मादि का अभाव निर्वाण है तो वह क्लेश–जन्म की अनित्यता है। किन्तु निर्वाण की अनित्यता इष्ट नही है। अन्यथा सबका बिना प्रयत्न मोक्ष होगा।[133]

निर्वाण भाव और अभाव दोनो नहीं है। भगवान् ने भव–तृष्णा और विभव–तृष्णा दोनो के प्रहाण के लिए कहा है। निर्वाण यदि भाव या अभाव है तो वह भी प्रहातव्य होता।

इसमे कोई सन्देह नहीं है कि जन्म–मरण–परपरा हेतु–प्रत्यय–सामग्री का आश्रयण करके चलती है। जैसे– प्रदीप–प्रभा या बीजाकुर। अत निर्वाण एक ऐसी अप्रवृत्ति है जो जन्म–मरणपरम्परा के प्रबन्ध का उपादान नही करती। वह अप्रवृत्तिमात्र है उसे आप भाव या अभाव नही कह सकते।[134]

उत्पत्ति निरोध का सापेक्ष क्रम ससार कहा जाता है उसी की निरपेक्षतया अप्रवृत्ति को निर्वाण कहते है। अत ससार और निर्वाण मे किसी प्रकार का भेद नही है।[135]

सर्वास्तिवादी प्रश्न करता है कि यदि निर्वाण भावअभाव या उभयरूप नही है तो इसका किसने प्रत्यक्ष किया है? क्या निर्वाण मे कोई प्रतिपत्ता नहीं है तो उपर्युक्त सिद्धान्त का निश्चय किसने किया? यदि ससारावस्थित किया तो उसने विज्ञान से निश्चय किया या ज्ञान से? विज्ञान से सभव नही है क्योकि विज्ञान निमित्त का आलबन करता है किन्तु निर्वाण मे कोई निमित्त नही है। ज्ञान से भी ज्ञात नही होगा क्योकि ज्ञान शून्यता का आलबी है और शून्यता अनुत्पाद रूप है। ऐसी अवस्था मे ज्ञान अविद्यमान एव सर्वप्रपचातीत हुआ उससे निर्वाण के भावाभाव का निश्चय कैसे होगा? इसलिए माध्यमिक मे निर्वाण किसी से प्रकाश्यमान और गृह्यमाण नही है।

ऐसी स्थिति मे निर्वाण के अधिगम के लिए सत्वो के अनन्त चरितो का अनुरोध कर भगवान ने जो धर्म की देशना की है वह सब व्यर्थ होगी। नागार्जुन कहते है कि निर्वाण प्रपचोपशम तथा शिव है क्योकि उसमे–

सर्वप्रपचोवशम समस्त निमित्त– प्रपचो की अप्रवृत्ति है। वह शिव है क्योकि निर्वाण का यह उपशम प्रकृति से ही शान्त है अथवा वाणी की अप्रवृत्ति से प्रपचोपशम है और चित्त की अप्रवृत्ति से शिव अथवा क्लेशो की अप्रवृत्ति से प्रपचोपशम है तथा जन्म की अप्रवृत्ति से शिव है अथवा क्लेश के प्रहाण से प्रपचोपशम है और ज्ञान की अनुपलब्धि से शिव है।[136]

चन्द्रकीर्ति कहते है कि बुद्ध अपने पुण्य और ज्ञान के सभार से निरालब मे स्थित है। उन्होने जिस रात्रि मे बोधि प्राप्त की और जिस रात्रि मे निर्वाण लाभ किया इस बीच एक अक्षर का भी व्यावहार नहीं किया।[137]

प्रश्न है कि बुद्ध ने जब कुछ देशना नही की तो ये विचित्र विविध प्रवचन क्या है?

चन्द्रकीर्ति कहते है कि ये प्रवचन अविद्या निद्रा मे लीन तथा स्वप्न देखते हुए मनुष्यो के अपने ही विभिन्न विकल्पो के उदय हैं तथागत परीक्षा मे तथागत को प्रतिबिम्बभूत[13] दिखाया गया है।

अत तथागत ने कोई धर्म देशना नही की। धर्मदेशना के अभाव मे निर्वाण भी नही सिद्ध होता। भगवान बुद्ध ने गाथा मे कहा है कि लोकनाथ ने निर्वाण के रूप मे अनिर्वाण की ही देशना दी है। वस्तुत भगवान का यह कार्य आकाश के द्वारा डाली गयी गॉठ का आकाश के द्वारा मोचन के समान है।[१३६]

२६ द्वादशाग परीक्षा

इस अध्याय मे कुल १२ कारिकाए है। नागार्जुन ने यहॉ प्रतीत्य समुत्पाद के १२ अगो का विवेचन किया है और यह प्रदर्शित किया है कि उनका किस प्रकार शमन होता है। चन्द्रकीर्ति ने मध्यमकावतार समाधिराजसूत्र ललित विस्तर और चतु शतक आदि ग्रन्थो से प्रमाण उद्धृत कर नागार्जुन के विवेचन को सुबोध करने का प्रयत्न किया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का मूल है। इसमे अविद्या से जरामरण तक बारह कडियॉ है इसलिए इसे द्वादशाग भी कहा जाता है। इसका प्रारम्भ अविद्या से होता है। अविद्या से सस्कार उत्पन्न होते है। सस्कारो से जन्मान्तर मे विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। विज्ञान से नामरूप का नामरूप से षडायतन का षडायतन से सस्पर्श का स्पर्श से वेदना का वेदना से तृष्णा का तृष्णा से उपादान का उपादान से भव का भव से जाति का जाति से जरामरण का। इस प्रकार बारह कारणो की परम्परा से दु ख की उत्पत्ति होती है। हेतु प्रत्यय की अपेक्षा ससार की प्रवृत्ति ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। ससार का मूलकारण अविद्या है अविद्या का अर्थ है शून्यता का अज्ञान। शून्यता का ज्ञान हो जाने पर ससार प्रकार का निरोध हो जाता है। तत्वदर्शी के लिए अविद्या नित्यप्रहीण है। नागार्जुन का कथन है कि प्रतीत्समुत्पाद वास्तविक उत्पत्ति और निरोध को नही सूचित करता अपितु सब धर्मो की अन्योन्य सापेक्षता को। ससार की उत्पत्ति अविद्या पुरुष से है। नाना पदार्थ एव उनकी उत्पत्ति निरोध अज्ञान होने पर ही प्रतिभासित होते है।[१४]

२७ दृष्टि परीक्षा

इस अध्याय मे कुल ३० कारिकाए है। यहॉ नागार्जुन ने उस युग मे हीनयान मे प्रचलित सिद्धान्तो का विवेचन किया है। जैसा कि इस अध्याय के शीर्षक मे ही विदित है यहॉ तीर्थको और बौद्धेत्तर अन्य दार्शनिको के सिद्धान्तो का हीनयान की दृष्टि से खण्डन है किन्तु हमे यह न भूलना चाहिए कि नागार्जुन हीनयान की दृष्टि से खण्डन करते हुए भी शून्यता को ही मापदण्ड के रूप मे पृष्ठभूमि मे रखते है जैसा कि उन्नीसवीं

कारिका मे स्पष्ट रूप से घोषित करते है कि सभी वस्तुओ का स्वभाव शून्यता है अत प्रचलित दृष्टियॉ किसी भी रूप मे कही भी और किसी के द्वारा भी नहीं स्थापित की जा सकती–

अथवा सर्वभावाना शून्यत्वाच्छाश्वतादय ।
क्व कस्य कतमा कस्मात्सभविष्यन्ति दृष्टिय ।।[१४१]

नागार्जुन इस अध्याय का आरभ इन दृष्टियो की समीक्षा से करते है कि अतीत मे अस्तित्व था या नही और जगत शाश्वत है या अशाश्वत। ये तथा भावी घटनाओ से सबधित अन्य विचार मिथ्या दृष्टियो पर आधारित है अत वे शून्यता की तार्किक कसौटी पर नहीं टिक सकते। वे स्पष्ट रूप मे घोषित करते है कि तर्क की कसौटी पर कोई भी सिद्धान्त खरा नही उतरता। उदाहरण के लिए वे कहते है कि इस सिद्धान्त को कैसे स्वीकार किया जाए कि कुछ लोक आशिक रूप से सीमित है और कुछ लोग जगत आशिक रूप से असीमित है। इसी प्रकार वे पूछते है कि यह कैसे सभव है कि द्रष्टा ग्राहक का एक अश नष्ट हो जाता है और दूसरा अश ज्यो का त्यो बना रहता है। और अन्त मे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि बुद्ध द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सद्धर्म ही अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट देशना है जो अनिरोधम अनुत्पादम अनुच्छेदम अशाश्वतम अनेकार्थम अनानार्थम् अनागमम् और अनिर्गमम के रूप मे प्रतिपादित की गयी है।[१४२] और इसलिए वे भगवान् गौतम बुद्ध को सादर नमस्कार करके ग्रन्थ का समापन करते है जिन्हे कृपा करके सभी दृष्टियो के प्रहाण के विनाश–खण्डन के लिए प्रतीत्समुत्पाद रूपी सद्धर्म की देशना दी।[१४३]

चन्द्रकीर्ति भी प्रसन्न मन से इसी सिद्धान्त का अनुमोदन करते हुए कहते है कि यह प्रतीत्यसमुत्पाद ही शुभधर्म सद्धर्म है यही कर्त्तव्यनिष्ठ सत्पुरुष आर्यो का श्रेष्ठ धर्म है जो सकल ससार–दु खक्षय कारी है और जिस का परम ऋषि गौतम गोत्र मे समुदभूत भगवान बुद्ध ने महाकरुणा वश प्राणिमात्र पर अनुकम्पा की भावना से उपदेश दिया। और इसलिए मै भी उन अद्वितीय अनुपम शास्ता उपदेष्टा को प्रणाम करता हूँ।[१४४]

सन्दर्भ

१ मध्यमक शास्त्र ११–२

२ बौद्ध धर्मदर्शन पृ० ४८२

३ नागार्जुन कृत मध्यमक शास्त्र और विग्रह व्यावर्तनी–यशदेव शल्य पृ० २१

४ वही पृ० २१

५ प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय– बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३८०

६ वही पृ० ३८०

७ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ४८६

८ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ४८६

६ वही पृ० ४८६।

१० न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्या नाप्य हेतुत ।

उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा क्वचन केचन।। मू० मा० का ११

११ डॉ० सी० डी० शर्मा बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ० २६

१२ मूलमाध्यमिक कारिका १–७–१४

१३ आचार्य नरेन्द्रदेव बौद्ध धर्म–दर्शन पृ० ५०५

१४ मूलमाध्यमिक कारिका २१–२५

१५ मध्यमकशास्त्र विग्रह व्यावर्तनी पृ० ४२

१६ वही पृ० ४४

१७ वही पृ० ४५

१८ गमन सदसद्भूतस्त्रिप्रकार न गच्छति।

तस्माद्गतिश्च गन्ता च गन्तव्य न च विद्यते।। म० शा० २२५

१६ अगतिरिति भदन्त

शारद्वतीपुत्र निष्कर्षण पदमेतत् म० शा० पृ० ४१

२० वही पृ० ४५

२१ अभिधर्म मे उक्त है– दर्शन श्रवण घ्राण रसन स्पर्शन मन ।

इन्द्रियाणि षडेतेषा द्रष्टव्यादीनि गोचर ।। बौद्धधर्म दर्शन पृ० ५०८

२२ मध्यमकशास्त्र विग्रह व्यावर्तनी

२३ वही पृ० ४७

२४ वही पृ० ४७

२५ वही पृ० ४८

२६ रूप कारण निर्मुक्त न रूपमुपलभ्यते

रूपेणापि न निर्मुक्त दृश्यते रूपकारणम।।

म० शा० ४/१

२६अ नागार्जुनकत मध्यमकशास्त्र और विग्रह व्यावर्तनी पृ० ५०

२७ नाकाश विद्यते किचित्पूर्वमाकाश लक्षणात्।

अलक्षण प्रसज्येत स्यात्पूर्व यदि लक्षणात्।।

म० शा० ५/१

२८ रागाद्यदि भवेत्पूर्व रक्तो रागतिरस्कृत ।

त प्रतीत्य भवेद्रागो रक्ते रागो भवेत्सति।।

म० शा० ६/१

२६ यदि सस्कत उत्पादस्तत्र युक्ता त्रिलक्षणी।

अथा सस्कत उत्पाद कथ सस्कत लक्षणम।।

म० शा० ७/१

३० मध्यमकशास्त्र और विग्रह व्यावर्तनी पृ० ५२

३१ वही पृ० ५२

३२ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५१४

३३ वही पृ० ५१५

३४ वही पृ० ५१६

३५ वही पृ० ५१७

३६ सद्भूत कारक कर्म सद्भूत न करोत्ययम्।

कारको नाप्य सद्भूत कर्मासद्भूत भीहते।।

सद्भूतस्य क्रिया नास्ति कर्म च स्याद्कतृकम।

सद्भूतस्य क्रिया नास्ति कर्ता चस्यादकर्मक ।।

म० शा० ८/२

३७ वही पृ० ५१७

३८ वही पृ० ५१८

३६ वही पृ० ५१८

४० वही पृ० ५४

४१ दर्शन श्रवणादीनि वेदनादीनि चाप्यथ

भवन्ति यस्य प्रागेम्य सोऽस्तीत्येके वदन्त्युत्।।

म० शा० ६/१

४२ वही पृ० ५८

४३ वही पृ० ५८

४४ यदिन्धन स चेदग्निरेकत्व कर्तृकर्मणो ।

अन्यश्चेदिन्ध नादग्निरिन्धनादप्यृते भवेत।।

म० शा० १०/१।।

४५ यशदेव शल्य पृ० ६०

४६ वही पृ० ६०

४७ वही पृ० ६१

४८ वही पृ० ६२

४६ वही पृ० ६२

५० मध्यमकशास्त्र और विग्रह व्यावर्तनी पृ० ६२

५१ वही पृ० ६३

५२ वही पृ० ६४

५३ कारिका १०१५ पर प्रसन्नपदा वही पृ० ६५

५४ अनवराग्रोहि भिक्षवो जाति जरामरणससार इति।
बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५२२

५५ पूर्वा प्रज्ञायते कोटिर्नेत्युवाच महामुनि ।
ससारोऽतवराग्रोहि नास्यादि र्नापि पश्चिमम्। म० शा० ११/१

५६ यथा बीजस्य दृष्टान्तो न चादिस्तस्य विद्यते।
तथा कारण वैकल्याज्जन्मनोऽपि न सभव ।।
चतु शतकम् ८२५

५७ नैवाग्र नावर यस्य तस्य मध्य कुतो भवेत्
म० शा० ११२

५८ पूर्वा न विद्यते कोटि ससारस्य न केवलम।
सर्वेषामपि भावाना पूर्वा कोटिर्न विद्यते।।
म० शा० ११८

५९ स्वय कृत परकत द्वाभ्या कतमहेतुकम।
दु खमित्येक इच्छन्ति तच्च कार्यं न युज्यते।।
म० शा० १२१

६० बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५२४

६१ (१) तन्मृषा मोषधर्म यद्भगवानित्य भाषत्।
सर्वे च मोष धर्माण सस्कारास्तेन ते मृषा।।
म० शा० १३१

६२ (२) य प्रत्ययैर्जायति सहयजातो।
न तस्य उत्पाद सभावतोऽस्ति।।
य प्रत्ययाधीन स शून्य उक्तो।
य शून्यता जानति सोऽप्रमत्त ।।
अनवतप्त हृदाप सक्रमणसूत्र म० शा० व पृ० १०४

६३ एतद्धि खलु खलु भिक्षव परम सत्य यदिदममोष धर्म
निर्वाणम् सर्वसस्काराश्चमृषा मोष धर्माण इति (मा० का० वृ० पृ० १०४)

६४ **बौद्ध धर्मदर्शन पृ० ५२६**

६५ शून्यता सर्वदृष्टीना प्रोक्ता नि सरण जिनै ।

येषा तु शून्यता दृष्टि स्तानसाध्यान् बमाषिरे।।

म० शा० १३ ८

६६ भणवानाह 'एवमेव काश्यप सर्वदृष्टि कताना शून्यता निस्सरणम। यस्य खलु पुन शून्यतैव दृष्टि तमहमन्पिकिरस्यमिति वदामि ।।

मध्यमक शास्त्र–चन्द्रकीर्ति प्रसन्नपदा पृ० १०६

६७ सर्वसयोगि तु पश्यति चक्षुस्तत्र नपश्यति प्रत्ययहीनम

नैव च चक्षुप पश्यति रूप तेन सयोग वियोग विकल्प ।।

आलोक समाश्रित पश्यति चक्षु रूप मनोरम चित्र विचित्रम्।

येन च योग समाश्रितचक्षुस्तेन न पश्यति चक्षु कदाचि।।

म० शा० मे पृ० ११३ मे उद्धृत उपालि परिपृच्छा।

६८ न सभव स्वभावस्य युक्त प्रत्यय हेतुभि ।

हेतु प्रत्ययसभूत स्वभाव कतको भर्वत्।।

म० शा० १५/१

६९ बौद्ध धर्मदर्शन पृ० ५२८

स्वभाव कतको नाम भविष्यति पुन कथम

अकृतम स्वभावो हि निरपेक्ष परत्र च।।

म० शा० १५/२

७० इह स्वो भाव स्वभाव इति यस्य पदार्थस्य

यदात्मीय रूप तत्तस्य स्वभाव इति व्यपदिश्यते।

म० शा० –प्रसन्नपदा पृ० ११५।

७१ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५२९

७२ अकृतम स्वभावो हि निरपेक्ष परत्र च। म० शा० १५/२

७३ बौद्ध धर्मदर्शन पृ० ५२९

७४ अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुति का देशना च का।

श्रूयते देश्यते चापि समारोपादनक्षर ।। म० शा० पृ० ११५

७५ येनामल्पापश्यति शुद्धदृष्टि–

स्तत्तत्वमित्येव मिहाप्यवैहि।। (मध्यमकावतार) ६/२९

७६ या सा धर्माणा धर्मता नाम सैव तत्स्वरूपम्। अथ केऽय धर्माणा धर्मता? धर्माणा स्वभाव । कोऽय स्वभाव? प्रकति। का चेय प्रकृति? येय शून्यता। केय शून्यता? नैस्वाभाव्यम्। किमिद नैस्वाभाव्यम्? तथता। केय तथता? तथा भावोऽविकारित्व सदैव स्थायिता। सर्वथा उत्पादेव ह्यग्न्यादीना पर निरपेक्ष त्वाद्रकृतिम त्वात्स्वभाव इत्युच्यते।। म० शा० प्रसन्नपदा पृ० ११६।

७७ स्वभाव परभाव च भाव चाभावमेव च।

ये पश्यन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्व बुद्धशासने

म० शा० १५/६

७८ यद् भूयसा कात्यायाअय लोकोऽस्तिता वाभिनिविष्टो नास्तिता च न तेन परिमुच्यते। जाति जरा व्याधि मरण शोक परिदेव दु ख दौर्मनस्योपायासेम्यो न परिमुच्यते। पाच्चगति कात्ससार चार कागारबन्धनान्न परिमुच्यते। इत्यादि।

म० शा० पृ० ११८

७६ अस्तीति काश्यप! अयमेकोऽन्तो नास्तीति काश्यप। अयमेकोऽन्त । यदेनयोरन्तयोर्मध्य तदरूप्यमनिदर्शनम प्रतिष्ठमनाभासम निकेतम् विज्ञप्ति कमियमुच्यते काश्यप। मध्यमा प्रतिपद्धर्माणा भूत प्रत्यवेक्षेति।

तथा

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता।

तस्मादुभे अन्तविवर्जयित्वा मध्येऽपि स्थान करोति पण्डित ।।

अस्तीति नास्तीति विवाद एस । शुद्धी अशुद्धीति अय विवाद

विवाद प्राध्यान दु ख प्रशाम्पति। अविवाद प्राप्त्या च दु ख निरुध्यते।।

म० शा० पृ० ११६ समाधिराज ६२७–२८

८० अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।

तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षण ।। म० शा० १५/१०

समाधिराजसूत्र मे उक्त है–

८१ नीतार्थ सूत्रान्त विशेष जानति यथोपदिष्टा सुगतेनशून्यता।

यस्मिन् पुन पुद्गल सत्व पुरुषो नेयार्थतो जानति सर्व धर्मान्।।

म० शा० पृ० १२० पर उद्धृत। समाधिराजसूत्र ७५

८२ बौद्ध धर्मदर्शन पृ० ५३२

८३ म० शा० वि० व्यावर्तनी पृ० ७२

८४ सस्कारा ससरन्ति चेन्न नित्या ससरन्तिते।

ससरन्ति च नानित्या सत्त्वेत्ये सम क्रम ।।

– म० शा० १६/१

८५ मध्यमकशास्त्र विग्रह व्यावर्तनी ७३

८६ मध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी ७३

८७ वही पृष्ठ–७४

८८ वही पृष्ठ–७५

८६ वही पृष्ठ–७४

६० वही पृष्ठ – ७६

६१ वही पृष्ठ – ७७

६२ वही पृष्ठ – ७७–७८

९३ निर्वाणमथ्यास्मन् सुभूते! मायोपम स्वप्नोपम बुद्ध धर्म आयुष्मन सुभूते मायोपमा स्वप्नोपमा इत्यादि बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५३४

९४ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५३५

९५ बौद्ध सम्प्रदाय

९६ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५३६

९७ शून्यता च न चौच्छेद ससारश्च न शाश्वतम्।
कर्मणोऽविप्रणाशश्च धर्मो बुद्धेन देशित ।।
म० शा० १७२०

९८ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५३८

९९ आत्मा स्कन्धा यदि भवेदुदय व्ययभाग्भवेत्।
स्कन्धेभ्योऽन्यो यदि भवेद्भवेद स्कन्ध लक्षण ।।
म० शा० १८/१

१०० बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५४०

१०१ कर्म क्लेशा क्षयान्मोक्ष कर्मक्लेशा विकल्पत ।
ते प्रपञ्चात्प्रपचस्तु शून्यताया निरुद्धयते।
म० शा० १८/५
तस्मात् शून्यतै व सर्व प्रपञ्च निवृत्ति लक्षणत्वान्निर्वाणम इत्युच्यते ।।
म० शा० पृ० १५०

१०२ आत्मा हि आत्मनो नाथ को नु नाथ परोभवेत्।
आत्मना हि सुदान्तेन स्वर्ग प्राप्नोति पण्डित ।।
आत्मा हि आत्मनो नाथ को नु नाथ परोभवेत्।
आत्मा हि आत्मन साक्षी कृतस्यापकृतस्य च।।
धम्मपद १६०–१६१– म० शा० पृ० १५१

१०३ आत्मे त्यपि प्रज्ञपित मनात्मेत्यपि देशितम्।
बुद्धै र्नात्मा च चानात्माकश्चिदित्यपि देशितम।।
म० शा० १८ ६

१०४ म० शा० पृ० १५२

१०५ रत्नकूटसूत्र म० शा० पृ० १५३

१०६ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५४२

१०७ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५४३

१०८ अपरप्रत्यय शान्त प्रपश्चैरप्रपश्चितम्।।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत्तत्वस्य लक्षणम्।

म० शा० १८/६

१०६ प्रतीत्य यद्यद् भवति नहिं तावत्तदेव तत्।

न चान्यदपि तत्तस्माान्नोच्छिन्न नापि शाश्वतम्।।

म० शा० (१८/१०)

११० यशदेव शज्य पृ० ८३—८४

१११ वही पृष्ठ—८४

११२ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५४६

११३ मध्यमक शास्त्र और विग्रह व्यावर्तनी पृ० ८५।

११४ वही पृष्ठ – ८६

११५ स्कन्धा न नान्य स्कन्धेभ्यो नास्मिन् स्कन्धा न तेसुस

तथागत स्कन्धवानन कतमोऽथ तथागत ।।

म० शा० २२१

११६ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५५०

११७ शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति या भवेत्।

उभय नोभय चेति प्रज्ञाप्त्यर्थ तु कथ्यते।।

म० शा० २२/११

११८ प्रपचयन्ति ये बुद्ध प्रपचातीतम व्ययम्।

ते प्रपचहता सर्वे न पश्यन्ति तथागतम।।

म० शा० २२/१५

११६ तथागतो यत् स्वभावस्ततत्स्वभावमिद जगत।

तथागतोनि स्वभावो नि स्वभाव मिद जगत्।। म० शा० २२/१६

१२० येन गृहणाति यो ग्राहो ग्रहीतायच्च ग्रहयते।

उपशान्तानि सर्वाणि तस्माद्ग्राहोन विद्यते।।

म० शा० २३ १५

१२१ य प्रतीत्य समुत्पाद शून्यता ता प्रचक्षते।

सा प्रज्ञप्तिरूपादाय प्रति परसैव मध्यमा।।

(विग्रहव्यावर्तनी)

१२२ बौद्ध दर्शन पृ० ५५३

१२३ आचार्य नागार्जुन पाद मार्गा अयबहिर्गताना न शिवेऽस्त्युपाय भष्टा हि ते सवृतितत्व सत्यात् तद्रभ्रशतश्चास्ति न मोक्षसिद्धि ।

उपायभूत व्यवहारसत्यमुपेयभूत परमार्थ सत्यम्।

तयोर्विभावव न परैतियो वै मिथ्या विकल्पै स कुमार्गयात

मध्यमकावतार ६/७६–८० बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५५४

१२४ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानो धर्मदेशना।

लोक सवृत्ति सत्य च सत्य च परमार्थत ।।

म० का० २४८

१२५ सम्यऽमृषादर्शनलब्ध भाव रूप द्वय विभ्रति सर्वभावा ।

सम्यकदृशा यो विषय स तत्त्व मृषादृशा सवृति सत्यमुक्तम।।

मध्यमकवतार ६ २३

१२६ मृषाद्देशोऽपि द्विविधास्त इष्टा दीप्तेन्द्रिया इन्द्रिय दोषक्त ।

दुष्टेन्द्रियाणा किल बोधइष्ट सुस्थेन्द्रियज्ञानमपेक्षा मिथ्या।।

मध्यमकावतार ६ २३

१२७ मोह स्वभावावरणाद्धि सवृत्ति सत्य तथा ज्यात्रि य देव कृत्रिमम।

जगाद तत्सवृतिसत्यभिव्यसौ मुनि पदार्थ कृतक च सवृतिम्।।

मध्यमकावतार ६/२४ २८

१२८ लोक प्रमाण नहि सर्वथाऽतो लोकस्य नो तत्व दशासु बाधा।

लोक प्रसिद्धया यदि लौकिकोऽर्थो बाध्येत लोकेन भवेद्धि बाधा।। (६ ३१)

बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५५६

१२६ व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।

परमार्थ मनागम्य निर्वाण नाधिगम्यते।।

म० शा० २४/१०

१३० विनाशयति दृदृष्टा शून्यता मन्दमेघसम्।

सर्पो वा दुर्गृहीतो विद्याा व दुष्प्रसाधिता।

म० शा० २४/११

१३१ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५५७

१३२ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ५५७

१३३ य प्रतीत्य समुत्पाद शून्यता ता प्रचक्ष्महे।

सा प्रज्ञप्तिरूपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा।

म० शा० २४/१८

१३४ समाधिराजसूत्र १६ २६ म० शा० पृ० २२८

१३५ भावस्तावन्न निर्वाण जरामरण लक्षणम्।

प्रसज्येनास्ति भावो हि न जरामरण विना।।

म० शा० २५/४

१३६ यद्यभावश्च निर्वाणमउपादाय तत्कथम।

निर्वाण न हयभावोऽस्ति योऽनुपादाय विद्यते।।

म० शा० २५/८

१३७ न चाभावोऽपिनिर्वाण कुत एवास्य भावना।

भावाभाव परामर्श क्षयो निर्वाणमुच्यते।।

म० शा० पृ० २२६ आर्यरत्नावली

१३८ न ससारस्य निर्वाणात्किचिदस्ति विशेषणम

न निर्वाणस्य ससातत् किचिदस्ति विशेषणम

म० शा० २५ १६

१३६ निर्वाणस्य च या कोटि ससरणस्य च।

न तयोरन्तर किचित्सुसूक्ष्ममपि विद्यते।।

म० शा० २५ २०

१४० सर्वोपलभ्योपशम प्रपञ्चोपशम शिव।

न क्वचित्कस्यचित् कश्चित्द्धर्मो बुद्धेन देशित।।

म० शा० २५ २४

१४१ या न च रात्रि शान्तिमते तथागतोऽनुत्तरा सम्यकसम्बोधिमभि सबुद्ध या च रात्रिमनुपादाय परिनिर्वारयति अभ्रन्तरे तथागते नैकमप्यक्षर नोदाहृत न व्याहृत नापि प्रव्याहरति नापि प्रव्याहरिष्यति आर्य तथागत गुह्यकसूत्र म० शा० पृ० २३६

१४२ तथागतोऽहि प्रतिबिम्बभूत

कुशलस्य धर्मस्य अनासुवस्य।

नैवात्र तथता न तथागतोऽस्ति

बिम्बच सदृश्यति सर्वलोके।

म० शा० पृ० २३ पर उद्धृत।

१४३ अनिर्वाण हि निर्वाण लोकनाथेन देशितम्।

आकाशेन कृतो ग्रन्थिराकाशेनैव मोचित।।

म० शा० पृ० २३७

१४४ प्रो० जी० सी० पाण्डे बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३६२

अध्याय–६

नागार्जुन का शून्यवाद

माध्यमिक दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त महायान सूत्रो मे बिखरे हुए है। उन्हे एकत्रित कर एक सुव्यवस्थित दर्शन के रूप मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय नागार्जुन को है।[1] नागार्जुन के अतिरिक्त आर्यदेव चन्द्रकीर्ति बुद्धपालित भव्य या भावविवेक और शान्तिदेव इस निकाय के प्रमुख दार्शनिक है। इस निकाय का विकास–प्रवाह नागार्जुन के जीवन काल से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक अविछिन्न रूप से चलता रहा । मूल माध्यमिक कारिका चतु शतक प्रसन्नपदा 'मध्यमवृत्ति तर्कज्वाला बोधि–चर्यावतार और शिक्षा समुच्चय इस निकाय के प्रमुख ग्रथ है। भगवान बुद्ध ने अपनी शिक्षा को मध्यमा प्रतिपत कहा था। नागार्जुन ने अपने एक विशिष्ट ग्रन्थ मे इस सिद्धान्त का बहुत ही तार्किक ढग से प्रतिपादन किया है इसलिए उसे मध्यमशास्त्र कहा जाता है और इस ग्रन्थ के सिद्धान्तो के अनुयायियो को माध्यमिक।[2] इस निकाय को शून्यवाद भी कहते है क्योकि नागार्जुन के अनुसार शून्यता प्रतीत्य समुत्पाद और मध्यमा प्रतिपत वस्तुत एक ही है।[3] इस निकाय के निम्नलिखित सिद्धान्त हैं (१) तत्त्व (शून्य) (२) तत्त्व के दो स्वरूप–सवृत्ति और परमार्थ (ससार और निर्वाण) तथा (३) तत्त्व प्राप्ति की विधि प्रज्ञा और करुणा।

शून्य (तत्त्व)

सामान्य भाषा मे शून्य से अभाव का बोध होता है किन्तु माध्यमिक दर्शन मे इस शब्द से सामान्य अर्थ के अतिरिक्त एक विशिष्ट अर्थ का भी बोध होता है। यह विशिष्ट अर्थ है तत्त्व। तत्त्व और वस्तु दोनो ही के लिए शून्य शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर यह सापेक्षता प्रतीत्य समुत्पाद या ससार है जिसमे तत्त्व का अभाव हैं और पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर यह तत्त्व या निर्वाण है जहॉ नानात्व का अभाव है। ससार अनिवर्चनीय है क्योकि हम इसे सद् असद् सदसद् और सदसद्विलक्षण कुछ भी नहीं कह सकते इसी प्रकार तत्त्व भी अनिवर्चनीय है। कहने का अर्थ यह है कि सब कुछ शून्य है। ससार शून्य

है क्योकि उसमे तत्त्व का अभाव है। वह स्वभाव शून्य है। इसी प्रकार तत्त्व भी शून्य है कयोकि उसमे प्रपच या नानात्व का अभाव है। यह प्रपचशून्य है। इस प्रकार शून्य शब्द का प्रयोग सापेक्ष और निरपेक्ष दोनो अर्थों मे किया गया है। यह ससार और निर्वाण दोनो ही है। जो प्रपचात्मक है जिसकी उत्पत्ति हेतु प्रत्यय सामग्री से है। उसे तत्त्व कैसे कहा जा सकता है? सभी व्यावहारिक वस्तुऍ प्रतीत्य समुत्पन्न है? सभी धर्म सकारण है अत उसका वास्तविक अस्तित्व कैसे माना जा सकता है? इसलिए परमार्थिक दृष्टि से विचारने पर वे अनुत्पन्न (परमार्थतोऽनुत्पन्न) है। इसलिए वे स्वभाव शून्य नि स्वभाव या अनात्मन है। अत शून्य का अर्थ पूर्ण अभाव नहीं बल्कि रहित है। सासारिक वस्तुऍ तत्त्व से रहित है और तत्त्व प्रपच से रहित है। शून्यवादी अस्ति सत् और भाव का अर्थ शाश्वत सत्य के रूप मे लेते है। उनके अनुसार ससार की वस्तुए सत नही है क्योकि वे शाश्वत नही है। वे नश्वर हैं। कुछ काल मे उनका विनाश हो जायेगा। अत जो लोक शाश्वत अर्थ मे ससार के अस्तित्त्व का प्रतिपादन करते है वे भ्रम मे है। इसी प्रकार जो लोग ससार के अस्तित्व को नही मानते वे भी भ्रम मे है क्योकि वे लोग ससार के अल्पकालीन अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते। ससार शाश्वत भले ही न हो किन्तु उसके व्यावहारिक अस्तित्व को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? वृश्चिक दश की पीडा को कैसे भुलाया जा सकता है? अत शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनो ही मिथ्या है तत्त्व के विषय मे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वह दोनो के परे है।[४] इसका वर्णन बुद्धि के द्वारा ही किया जा सकता है। किन्तु बुद्धि विप्रतिषेधो से युक्त है। इसकी चार ही कोटियॉ है किन्तु चारो परस्पर विरोधी है और ६२ विप्रतिषेधो को जन्म देती है।[५] अत तत्त्व बुद्धि की सभी कोटियो से परे है। वस्तुत उसकी अनुभूति प्रज्ञा द्वारा ही हो सकती है।

यद्यपि माध्यमिक दार्शनिको ने जगत् का वर्णन अलात चक्र स्वप्न माया प्रतिबिम्ब प्रतिध्वनि और मृग तृष्णा के रूप मे किया है[६] तथापि उन वर्णनो का तात्पर्य पूर्ण अभाव नहीं है। उनका मन्तव्य केवल यह है कि ससार की वस्तुऍ पूर्ण रूप से सत नहीं है क्योकि यदि हम उनके वर्णन का यह अर्थ ले कि ससार भ्रम मात्र है तब भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि उस भ्रम का आधार क्या है? आखिर भ्रम जन्य सर्प की प्रतीति का आधार भी तो भावमूलक रज्जु ही है। अत पूर्ण अभाव असम्भव है। इसलिए अनुभवमूलक जगत् के लिए व्यवहृत होने पर भ्रम या शून्य का अर्थ है वाह्य जगत् की सतत् परिवर्तनशील अवस्था। इस अर्थ मे यह भ्रान्ति है जिसे सम्बन्धो द्वारा पुष्टि मिलती है। यह ससार कार्य कारण अश और अशी आदि वर्गणाओ द्वारा निर्मित है जिसका स्वत कोई अस्तित्व नहीं ये हमे केवल कुछ समय के लिए प्रतीयमान यथार्थता का

ज्ञान देते हैं जो सवृत्ति का विषय है। घटनाओ मे अन्योन्याश्रय–सम्बन्धो का निर्णय करने के लिए वे अनुकूल सिद्ध होते है किन्तु जब वे तत्त्व को यथार्थ रूप मे व्यक्त करने का प्रयास करते है तो उनमे परस्पर विरोध उत्पन्न होता है। वे केवल काम चलाऊ विचार मात्र है जिनका परमार्थिक दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नही है। नागार्जुन का सिद्धान्त कुछ–कुछ ब्रैडले के मत जैसा प्रतीत होता है जो प्रतीयमान जगत को सम्बन्धो की क्रीडामात्र मानते हैं। किन्तु दोनो मे मौलिक भेद भी है। ब्रैडले के अनुसार विचार पदो के बीच ऐसे सम्बन्धो की स्थापना करता है जो स्वय उन सम्बन्धो से परे है किन्तु नागार्जुन ग्रीन की भॉति यह मानते है कि अनुभवमूलक जगत केवल सापेक्ष है। ब्रैडले के अनुसार साधारण ज्ञान एव विज्ञान से युक्त ससार मे कुछ न कुछ ऐसी सत्ता अवश्य है जो सम्बन्धो के रूप मे परिणत नहीं हो सकती। किन्तु नागार्जुन ग्रीन की भॉति यह मानते हैं कि अनुभवमूलक जगत् केवल सापेक्ष है। ब्रैडले के अनुसार साधारण ज्ञान एव विज्ञान से युक्त ससार मे कुछ न कुछ ऐसी सत्ता अवश्य है जो सम्बन्धो के रूप मे परिणत नहीं हो सकती। किन्तु नागार्जुन के अनुसार यहॉ ऐसी कोई सत्ता नही है।[8]

किन्तु नागार्जुन अनुभवमूलक जगत के अधिष्ठान के रूप मे एक ऐसे तत्त्व के अस्तित्व मे विश्वास करते है जो शून्य नहीं प्रत्युत अपरप्रत्यय शान्त प्रपञ्चातीत निर्विकल्प और अनानार्थ है। इस तत्त्व को नागार्जुन ने परमार्थ शब्द से अभिहित किया है। यह वह तत्त्व है जिसकी देशना शब्दो मे सभव नही है जिसे सत असत सदसत् और सदसद्विलक्षण कुछ भी नहीं कहा जा सकता।[9] वस्तुत शून्यवादियो के दृष्टिकोण से परमार्थ शून्य है[10] इसलिए नहीं कि यह शून्य है बल्कि इसलिए कि व्यवहार के लिए प्रयुक्त कोई भी कोटि इसके लिए पर्याप्त नही है। इसे सत कहना गलत होगा क्योकि सत् मानने पर यह उत्पत्ति विनाश और मृत्यु का विषय हो जायेगा। ससार मे ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो इनसे परे हो। यदि इसे हम एक भावमूलक वस्तु माने तो इसका अर्थ यह होगा कि यह विशेष कारणो और अवस्थाओ से उत्पन्न है अत इसका अपना स्वत अस्तित्व कुछ नहीं। यदि इसे हम एक भावमूलक वस्तु नही मान सकते तो अभावमूलक वस्तु भी नहीं मान सकते क्योकि अभाव तो उस वस्तु का होता है जिसका पहले अस्तित्त्व रहा हो किन्तु जो अब नष्ट हो गई हो।[11] यदि हम यह कहे कि तत्त्व शश श्रृग या वर्गवृत्ति की भॉति अभाव मूलक है तो यह नाममात्र है इसका कोई अस्तित्त्व नहीं। वस्तुत यह अनभिलाप्य है क्योकि चिन्तन की सामग्री का अनभिलाप्य हो जाने पर अभिधान या नामकरण समाप्त हो जाता है। किन्तु सभी वस्तुओ का सार तत्त्व निरपेक्ष न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है।[12] बुद्ध स्वय कहते है कि उस वस्तु का क्या वर्णन किया

जाये और उसका कैसे ज्ञान प्राप्त किया जाय जिसे वर्णमाला के अक्षरो मे व्यक्त तक नही किया जा सकता। वस्तुत धर्म का वास्तविक स्वरूप निर्वाण की भॉति अनिवर्चनीय अगम्य तथा जन्म मृत्यु विचार और भाषा की कोटियो से परे है। नागार्जुन के इस शून्य की पूर्वप्रतिध्वनि हमे उपनिषदो मे भी मिलती है जहॉ ब्रह्म का निरूपणशून्य तुच्छ अभाव अव्यक्त अदृश्य अचिन्त्य तथा निर्गुण के रूप मे किया गया है।[13] योग–स्वरोदय मे भी सच्चिदानन्द ब्रह्म का शून्य रूप मे ही वर्णन किया गया है। सन्त कबीर भी यही कहते है कि सत्यो का सत्य और सभी सत्यो का अधिष्ठान शून्य के रूप मे व्यक्त किया जाता है।[14] अत शून्य अभाव नहीं बल्कि समस्त जगत् का अधार है। कुमार जीव के शब्दो मे इसी के कारण जगत की सभी वस्तुऍ सभव है बिना इसके कुछ भी सभव नहीं है। बुद्ध स्वय कहते है कि हे सुभूति! शून्यता ही सभी धर्मो का आश्रय है। वे इसका परिवर्तन नहीं कर सकते। किन्तु निरपेक्ष तत्त्व की व्याख्या करने की अपनी अक्षमता के कारण तथा सान्त एव अनन्त के सम्बन्ध के रहस्य को न समझने के कारण हमे यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि वह शून्य है। ऐसा तो केवल वे ही लोग सोच सकते है जो तत्त्व को मात्र बौद्धिक मानते है[15] और जो बुद्धि की कोटियो से परे है उसे असत मानते है। इसकी सत्यता और पूर्णता का बोध तो योगी को निर्वाण के परमानन्द मे ही प्राप्त हो सकता है।[16]

प्रश्न उठता है कि यदि तत्त्व अनिवर्चनीय या अनक्षर[17] है तो उसका ज्ञान और उसके विषय मे देशना (उपदेश) कैसे सभव है? नागार्जुन के अनुसार तत्त्व का बोध अध्यारोपवाद विधि द्वारा होता है। व्यवहार का जो रूप हमने तत्त्व पर आरोपित कर रखा है सम्यक ज्ञान द्वारा उसे दूर कर हम उसके स्वरूप का बोध करते है। हम इसे जानने के लिए ससार की विशिष्ट घटनाओ का उपयोग साधन या उपाय के रूप मे करते है। ये वस्तुऍ उपाय हैं और तत्त्व उपेय है। इस अनिवर्चनीय तत्त्व का निर्वचन किसी अन्य साधन द्वारा सभव नहीं।[1] यद्यपि आरोपित विशेषताऍ तत्त्व भले ही नहीं तथापि वे तत्त्व की ओर अपने आधार रूप मे सकेत कर सकती है। एक अर्थ मे हम तत्त्व के विषय मे यह कह सकते है कि प्रत्येक वस्तु का ज्ञान वस्तुत तत्त्व का ही ज्ञान है क्योकि इन्ही रूपो मे व्यक्त होता है। दूसरे दृष्टिकोण से विचारने पर यह किसी भी रूप द्वारा ज्ञेय नहीं है क्योकि यह मेज कुर्सी की भॉति कोई विशिष्ट वस्तु नही। इसका ज्ञान तो तब होता है जब हमारे सामने कुछ भी नहीं है। वस्तुत इसकी भाषा मौन है।[19]

तत्त्व जगत् से परे है और जगत् के रूप मे व्यक्त होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि तत्त्व और जगत् दो भिन्न सत्ताए है और न यह कि तत्त्व जगत के रूप मे परिवर्तित होता है जैसा साख्य मानता है। वस्तुत

यह प्रतीयमान जगत् का तत्त्व है (धर्माणाधर्मता) और सभी वस्तुओ का वास्तविकरूप है। सासारिक वस्तुएँ तत्त्व की मिथ्या प्रतीतिसवृतरूपम् है। इसका रूप सदैव एक सा रहता है।[20] इसलिए दोनो मे केवल विषयगत भेद है वस्तुगत नही। इसलिए नागार्जुन कहते है कि तत्त्व और जगत ससार और निर्वाण मे कुछ भी अन्तर नहीं है।[21] कार्य—कारण से परे रूप मे देखने पर दोनो एक हैं।[22]

नागार्जुन के तत्त्व सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्होने जिस दर्शन का प्रतिपादन किया है वह उस अर्थ मे शून्य नहीं है जिस अर्थ मे हम दैनिक जीवन मे शून्य शब्द का प्रयोग करते है। किन्तु लोगो ने अज्ञान और पक्षपात वश उनके दर्शन को ठीक नहीं समझा और उसे पूर्ण रूप से अभाववादी या शून्यवादी ही माना। शून्य का सामान्य अर्थ कर दार्शनिको ने उनके शून्य सिद्धान्त की कटु आलोचना की और कहा कि यदि सब कुछ शून्य है यदि उत्पत्ति और निरोध नाम की कोई चीज नही तो चार आर्य सत्य भी असत्य होगे और असत होने पर अर्हत की चार अवस्थाएँ भी असम्भव होगी तथा इनके अभाव मे कोई भी व्यक्ति इनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करेगा। इसी प्रकार यदि व्यक्तिपुद्गल नहीं है तो सघ किसका होगा? पुनश्च चार आर्य सत्यो के अभाव मे सद्धर्म का भी अभाव होगा और धर्म तथा सघ के अभाव मे बुद्ध का अस्तित्त्व भी असम्भव होगा। अत जो लोग शून्यवाद का प्रतिपादन करते है वे बौद्ध धर्म के त्रिरत्न का ही विरोध करते है। अत शून्यता मानने से धर्म अधर्म कर्म फल बन्धन और मोक्ष आदि सब असत्य सिद्ध होते है। इस प्रकार सम्पूर्ण लोक व्यवहार का उच्छेद हो जाता है।[23]

माध्यमिको के अनुसार ये सभी आपत्तियॉ शून्यता के अभाव मे उठती है। यदि हम यह माने कि पदार्थ नित्य हैं तो फिर कार्य कारण कर्त्ता करण (साधक) क्रिया उत्पाद निरोध फल इत्यादि की कोई आवश्यकता नहीं। फिर तो लोक—व्यवहार ही असम्भव हो जायेगा।[24] यदि सब पदार्थ अशून्य या नित्य है तो दु ख दु ख समुदय दु ख निरोध और दु ख निरोध मार्ग कुछ भी सभव नही।[25] फिर कर्म और फल के अभाव मे पुद्गल का भी अभाव होगा। और पुद्गल के अभाव मे सघ का भी अभाव होगा।[26] चार आर्य सत्यो के अभाव मे धर्म का भी अभाव होगा और धर्म तथा सघ के अभाव मे बुद्ध का भी अभाव होगा।[27] तब पाप और पुण्य की व्यवस्था की असिद्धि होगी क्योकि नित्य पदार्थ को क्या लेना देना। उसके लिए कर्म या विकर्म का प्रश्न ही नहीं उठता। नित्य अशून्य मे किसी प्रकार का परिवर्तन ही नहीं हो सकता। अत ससार को प्रतीत्य समुत्पन्न के स्थान पर नित्य मानने पर सम्पूर्ण लोक व्यवहार का समूल उच्छेद हो जायेगा।[2]

अत प्रतीत्य समुत्पाद या शून्यता का सम्यक बोध होने पर ही चार आर्य सत्य इत्यादि सम्भव है।[२९]

नागार्जुन के अनुसार शून्यता के विषय मे वे ही लोग आपत्ति उठाते है जिन्होने इसे ठीक से नही समझा।[३] वस्तुत बुद्ध की शिक्षा दो सत्यो पर आधारित है सवृत्ति और परमार्थ। जो इस भेद को नही जानते वे बुद्ध की गभीर शिक्षा को कभी भी नही समझ सकते।[३१] उनकी दशा उस मूर्ख जादूगर की भॉति है जो स्वत अपने जादू के वश मे हो जाता है। अथवा उस सॅपेरे की भॉति जिसे स्वय उसके ही सॉप काट खाते है।[३२]

बुद्ध की शिक्षा को ठीक से समझने के लिए इन दोनो सत्यो की पृथक रूप से व्याख्या आवश्यक है।

शून्यता का स्वरूप

शून्यता विषयक उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि शून्यता के स्वरूप को लेकर दार्शनिको मे तीव्र मतभेद है कोई इसे भाव मानता है कोई इसे अभाव मानता है कोई इसे भावाभाव विमुक्त पाता है और कोई इसे मात्र दृष्टि मानता है न कि वस्तुनिष्ठ परमतत्व। मोटे तौर पर शून्यता सम्बन्धी दार्शनिको को हम तीन वर्गो मे विभक्त कर सकते हैं

(१) अभाववादी दार्शनिक

(२) भाववादी दार्शनिक

(३) प्रतीत्यसमुत्पादवादी

(१) अभाववादी दार्शनिक इन दर्शनिको के अनुसार शूज्य शशविषाण और वन्ध्यापुत्र की भाति पूर्णरूप से असत् है। यह किसी तत्व का बोध नहीं कराता। इस वर्ग के दार्शनिको का प्रारम्भ न्यायसूत्र के कर्ता महर्षि अक्षपाद गौतम से प्रारम्भ होता है और आधुनिक काल मे डॉ० मुक्तावली तक जाता है। न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम महर्षि कपिल विज्ञानभिक्षु अनिरुद्ध मीमॉसक प्रवर कुमारिल भटट अद्वैतवेदान्तिशिरोमणि आचार्य शकर विष्टिाद्वैतवादी रामानुज जैन दार्शनिक जिनभद्रगणी प्रभाचन्द्र हेमचन्द्र योगचार दार्शनिक असग स्थिरमति सिद्धान्तकार शकर बौद्ध सत्यसिद्धि सम्प्रदाय के सस्थापक आचार्य हरिवर्मा आचार्य नागार्जुन लकावतार सूत्र तथा यूरोप के आधुनिक प्राच्य विद्या विशारद बर्नूफ एम० वेलेसर ए०बी० कीथ आई वाख हमर्न याकोबी बेडेल मैगवर्न तथा एम०एच कर्न तथा आधुनिक भारतीय विद्वान

सुरेन्द्र नाथ गुप्त निकुज बिहारी बनर्जी सातकौडी मुखर्जी प्रो० हर्ष नारायण और उनकी सुपुत्री डॉ० मुक्तावली ने शून्य को मात्र असत् और अभाव माना है।

भाववादी दार्शनिक शून्य की अभाववादी व्याख्या के विरोध मे प्रो० डी०टी० सुजुकी शरवात्स्की ताकाकुसु ई० कोञ्जा डॉ० राधाकृष्णन प्रो० टी०आर०वी० मूर्ति प्रो० स्टैग डॉ० चन्द्रधर शर्मा डॉ० हृदयनारायण मिश्र डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय प्रो० ए०के० चटर्जी और डॉ० सी०एल० त्रिपाठी इसे पूर्णरूप से भाववादी दर्शन मानते है जो शकर के ब्रह्मवाद का पूर्वगामी है और जिसका विकास आगे चलकर शकर के अद्वैतवेदान्त मे हुआ।[३३]

(३) प्रतीत्यसमुत्पादवादी दार्शनिक

इस कोटि मे स्वय नागार्जुन स्थिरमति और अन्य दार्शनिक आते है जो शून्यता को प्रतीत्यसमुत्पाद का पर्याय मानते है।

उपर्युक्त तीनो वर्गो के दार्शनिको का दृष्टिकोण जानने के लिए उनके विचारो का विवेचन आवश्यक है–

अभाववादी दार्शनिक (शून्य को अभाव मानने वाले)

(१) **अक्षपाद गौतम** न्यायसूत्र मे सर्वशून्यता निराकरण–प्रकरण का प्रथम सूत्र है सर्वामभावोभावेष्वितरेतराभावसिद्धे।[३४] सर्वाभाववाद की स्थापना की गयी है। इसका अर्थ यह है कि सब कुछ अभाव ही है क्योकि भावो मे इतरेतरापेक्षया अभाव ही सिद्ध होता है। इसके उत्तर मे न्याससूत्रकार कहते है कि न स्वभावसिद्धेरभवानाम् अर्थात् अपने अपने स्वभाव मे सभी भावरूप है अत सब कुछ अभावरूप नही माना जा सकता।[३५]

न्यायसूत्र मे एक अन्य अध्याय प्रमाणसामान्य परीक्षा प्रकरण है।[३६] जिसमे सभी प्रमाणो को अप्रमाण मानने वाले निषेधवादियो के मत का खण्डन किया गया है। निषेधवादी कहता है कि प्रमेय तीनो कालो मे सिद्ध नही हो सकता अत प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो की प्रमाणता भी सिद्ध नही हो सकती है। सूत्रकार इसका उत्तर देते हैं कि यदि सभी प्रमाण असिद्ध हैं तो उनका प्रतिषेध (खण्डन) भी असिद्ध है और यदि प्रतिषेध सिद्ध है तो सभी प्रमाणो की असिद्धि भी असिद्ध है क्योकि प्रमाणो के होने पर ही प्रमेय की सिद्धि अथवा असिद्ध का प्रश्न उठता है। सूत्रकार का सिद्धान्त है कि प्रमाण प्रदीप के समान प्रमेय का भी प्रकाशक है और स्वय अपना भी।[३७]

२ साख्यप्रवचनसूत्र मे माध्यमिक शून्यता के सम्बन्ध मे कुछ सूत्र मिलते है जो इस प्रकार है–

शून्य तत्व भावो विनश्यति वस्तु धर्मात्वाद् विनाशस्य[३८] शून्य ही तत्व है क्योकि सभी भावो का विनाश देखा जाता है विनाश ही सभी वस्तुओ का धर्म है। इसका खण्डन निम्नलिखित सूत्र मे किया गया है–

अपवाद मात्र मूर्खाणाम्[३९] अर्थात् यह मूर्खो का मिथ्यावाद है। इसकी टीका करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते है कि शून्य मे प्रमाण है अथवा नही यदि है तो शून्यता खण्डित होती है क्योकि प्रमाण अशून्य रहता है और यदि शून्यता को प्रमाण न माना जाए तो प्रमाण के अभाव मे शून्यता नहीं सिद्ध होती। शून्यवाद के खण्डन के सम्बन्ध मे एक अन्यसूत्र इस प्रकार है अपुरुषार्थत्वमुभयथा।[४०]

विज्ञानभिक्षु इसकी व्याख्या करते हुए कहते है कि शून्यता की स्वत और परत पुरुषार्थता सभव नही है। कोई व्यक्ति शून्यता की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील नहीं होता।[४१] अनिरुद्ध इसकी वृत्ति मे लिखते है कि यदि शून्य अभाव है तो भला कौन बुद्धिमान व्यक्ति अभाव के लिए प्रयत्नशील होगा? और यदि शून्य भाव और अभाव दोनो से भिन्न है तो ऐसे पदार्थ का दर्शन ही सभव नही है वह पुरुषार्थ कैसा होगा।[४२]

३ कुमारिल भटट का कथन है कि विज्ञानवाद (योगाचार) के अनुसार विज्ञान अर्थशून्य होता है अर्थात् उसके मत मे ज्ञान (विज्ञान) की ही सत्ता है ज्ञेय (विज्ञेय) की नही इसके विपरीत माध्यमिक के अनुसार ज्ञान और ज्ञेय दोनो शून्य है। वह सर्वशून्यवादी है

तत्रार्थशून्य विज्ञान योगाचारा समाश्रिता।
तस्याप्य भावमिच्छन्ति ये माध्यमिक वादिन।।[४३]

४ शकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य मे शून्यवाद को सर्वाभाववाद के रूप मे लेते हैं और उसे स्र्वप्रमाण विप्रतिषिद्ध कहकर टाल देते है– शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाण विप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादर क्रियते।[४४] शकर ने उसी ग्रन्थ मे एक अन्य जगह शून्यवाद को प्रसज्यप्रतिषेदवाद (पूर्णाभाववाद) मानकर उसकी आलोचा की है– रज्जु का आलम्बन करके उसमे सर्प का प्रतिषेध तो सभव है किन्तु उन दोनो का प्रतिषेध करने से तो प्रतिषेध भी नहीं बनेगा।[४५] इसी प्रकार बृहदारण्यकोनिषद्–भाष्य मे भी उन्होने शून्यवाद को सर्वाभाववाद ही कहा है।[४६]

५ रामानुज ने भी अपने श्रीभाष्य मे शून्यवाद को सर्वाभाववाद के रूप मे लेते हुए उसे सर्वथा असिद्ध घोषित किया है।[४७]

६ जिनभद्र और हेमचन्द्र और प्रभाचन्द्र आदि जैन दार्शनिक भी शून्यवाद को सर्वथाभावाद मानते है और इसरूप मे ही उसकी आलोचना करते है– कि –यदि सब कुछ अभावरूप ही है तो ह्रस्व और दीर्घ का ज्ञान अपेक्षा द्वारा क्यो होता है? अपेक्षा सिद्धान्त सर्वाभाव सिद्धान्त से मेल नहीं खाता।[४] पुन यदि वस्तुए अपनी सत्ता के लिए अन्य वस्तुओ पर आश्रित है तो यदि लघु पदार्थ नष्ट कर दिया जाय तो बृहद् पदार्थ का भी नाश हो जाना चाहिए।[४९] पुनश्च सर्वशून्यता (सर्वम असत्) की घोषणा करने वाले सत है या असत। यदि सत तो सर्वम अस्ति का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है और यदि असत् तो सर्वाभावाद यॅ ही कट जाता है।[५]

६ असग बाधिसत्तवभूमि मे शून्यवाद को सर्वाभाववाद ही मानते है उनके अनुसार न च पुन सर्वेण सर्व न विद्यते।[५१]

८ इसी प्रकार वसुबन्धु के महान् भाष्यकार स्थिरमति कहते हैं विज्ञेय के समान विज्ञान की भी साम्प्रतिक सत्ता है। पारमार्थिक नहीं। विज्ञयवद् विज्ञानमपि सवृतित एव न परमार्थत[५२] इसी प्रकार वे मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य टीका मे कहते है माध्यमिक दार्शनिको के अनुसार सभी धर्म शशविषाण (शशश्रृग) के समान सर्वथा अविद्यमान हैं 'केचिन् मन्यन्ते सर्वधर्मा सर्वथा अविद्यमाना शशविषाणवदिति।[५३]

६ शकर (सर्वसिद्धान्त सग्रहकार) भी शून्यवाद को सर्वथाभाववाद ही मानते है ओर यह भी मानते है क विज्ञानवादी भी शून्यवाद को पूर्णरूपेण अभाववाद मानता है। जिसके अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय किसी की भी सत्ता नहीं है। विज्ञानवादी शून्यवादी पर प्रसज्यप्रतिषेध (सर्वाभाववाद) का आरोप लगाते हुए व्यग करता है कि–

> इति माध्यमिकेनोक्त शून्यत्व शून्यवादिना।
> निरालम्बनवादी तु योगाचारी निरस्यते।।
> त्वयोक्तसर्वभून्यत्वे प्रमाण शून्यमेव तत्।
> अतो वादेऽधिकारस्ते न परेणोपपद्यते।।
> स्वपक्षस्थापन तद्वत परपक्षस्य दूषण
> कथ करोत्यत्र भवान् विपरीत वदेन् न किम्।[५४]

१० हरिवर्मा– हीनयान का सत्यसिद्धि सम्प्रदाय जिसे जापान मे जोजित्सु सम्प्रदाय कहा जाता है वह भी शून्यता को सर्वाभाव शून्यता ही मानता है जहॉ पुद्गल नैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य दोनो का प्रतिपादन

किया गया जाता है। वह भी सभी धर्मो को भावात्मक घोषित करता है और उसके अनुसार भी शून्य का अर्थ–सर्वाभाव है।[५५]

११ बर्नूफ एम वैलेसर ए०बी०कीथ आदि भी शून्य का अर्थ परम अभाव लेते है। एम० वेलेसर के अनुसार माध्यमिक दर्शन एक प्रसज्य प्रतिसेधवादी दर्शन है जो अस्तित्व को निषेध की चरमसीमा तक रिक्त कर देता है।[५६]

१२ जापानी दार्शनिक नाकामुरा भी शून्यता को सर्वथा अभाव ही मानता है। उसके अनुसार नागार्जुन की शून्यता रिक्त वर्ग है। यह वह वर्ग है जिसमे निर्धारित लक्षणो से युक्त कोई सदस्य न हो जैसे तीन–तीन किलोमीटर लम्बे कानवाले सिपाहियो की सेना। इसी प्रकार नागार्जुन का ससार नि स्वभावो का ससार है। ह्रदयनारायण मिश्र का कथन है कि नाकामुरा का यह कथन नागार्जुन के शून्य की केवल आधुनिक तर्कीय पदावली प्रस्तुत करता है उसके तात्पर्य को स्पष्ट नहीं करता। एक अर्थ मे शून्य को रिक्त वर्ग मानना अभाव या उच्छेद मानने से अधिक भिन्न नहीं है।[५६]

आधुनिक भारतीय दर्शनिको मे से भी कुछ ने शून्यता को सर्वथा अभाव ही माना है। प्रोफेसर सुरेनद्रनाथ दास गुप्त के अनुसार माध्यमिक दर्शन न तो प्रत्ययवाद है और न वस्तुवाद और न निरपेक्ष सद्वाद ही। बल्कि वह एक रिक्तदृग्विषयवाद है जो दृग् विषय तो स्वीकार कर लेता है किन्तु उसके पीछे किसी अधिष्ठान अथवा सत को किसी प्रकार सहन नही कर सकता।[५]

१३ प्रो० सातकौडी मुखर्जी भी नागार्जुन को विशुद्ध शून्यवादी दार्शनिक मानते है और उनके शून्य को सर्वथा अभाव। प्रोफेसर निकुज विहारी बनर्जी ने भी उसका समर्थन किया है।

१४ डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय के अनुसार माध्यमिक दर्शन एक विश्लेषणात्मक दर्शन है जिसमे सश्लेषण नहीं है और उसके विश्लेषण का यह अर्थ नहीं कि वह अशो के अशी को प्रकट करता है बल्कि यह कि उसके विश्लेषण से यह बात प्रकट होती है कि तथाकथित अशी अन्तर्विरोधग्रस्त है और वस्तुत अशी जैसी कोई वस्तु नहीं है। अत माध्यमिक दर्शन निषेधपरक विश्लेषणवाद है। इस दर्शन के लिए कोई उपयुक्त शब्द नही है अत या तो इसे कोई नाम न दिया जाय या इसे विश्लेषणात्मक शून्यवाद कहा जाए।[५६]

१५ प्रो० हर्षनारायण के अनुसार माध्यमिक दर्शन अत्यन्तिक प्रसज्यप्रतिषेधवादी दर्शन है।[६] किन्तु अन्यत्र उन्होने शून्यवाद के विषय मे अपने विचार बदले हैं। उनके अनुसार शून्यवाद के तीन पक्ष है– दर्शन धर्म

और प्रज्ञापारमिता दर्शन के स्तर पर यह पूर्णरूपेण प्रसज्यप्रतिषेधवादी (निषेधवादी) दर्शन हैं धर्म की दृष्टि से अन्य धर्मो की भाति उपासक उपास्य भाव की प्रतिष्ठा करते हुए वस्तुवाद का रूप लेता प्रतीत होता है और प्रज्ञापारमिता के स्तर पर सर्वथा मौन की स्थिति मे पहुच जाता है और उस स्तर के विषय मे कुछ भी कहना सभव नहीं है। यह पूर्ण तृष्णी भाव की अवस्था है।[६१]

नागार्जुन के शून्यवाद को पूर्णरूप से अभाव मानने वाले दार्शनिको के दृष्टिकोणोका विवेचन करने के बाद अब हम उन दार्शनिको के दृष्टिकोणो का विवेचन करेगे जो शून्यवाद को पूर्णरूप से भाववादी और निरपेक्षवादी दर्शन मानते है।

१ शरवात्स्की के अनुसार महायान मे सभी धर्म शून्य है किन्तु धर्मकाय (धर्मता) सत है।[६२]

२ डीटी० सुजुकी– के अनुसार माध्यमिक दर्शन प्रसज्यप्रतिषेधवादी दर्शन न होकर एकभाववादी दर्शन है जिसका पर्यवसान निरपेक्षवाद के रूप मे होता है। शून्यता न तो अभाव है और न विचार का कोई विषय क्योकि ऐसा होना शून्यता के स्वभाव के विपरीत है।[६३] वे पुन कहते है कि शून्यता तीन प्रकार की होती है–

(१) शशश्रृगाभाव एक प्रकार की शून्यता है

(२) जलती अग्नि का अभाव–अग्नि जो अभी जल रही थी अब नही रही दूसरे प्रकार की शून्यता है

(३) तीसरे प्रकार की शून्यता का उदाहरण है– दीवार के इस ओर मेज है और उस ओर कुछ भी नही उधर का स्थान रिक्त है। इन तीनो प्रकार की शून्यताओ को अभाव उच्छेद और रिक्तता कह सकते है। सुजुकी के अनुसार इन तीनो मे से कोई भी बौद्धो को मान्य नही। बौद्ध शून्यता मे न तो काल है न आकाश न उत्पत्ति और न और कुछ। यह एक शून्य है जिसमे अनन्त सभावनाए सन्निहित है।[६४]

(३) टी०आर०वी० मूर्ति– माध्यमिक दर्शन भारत अथवा अन्यत्र स्थापित होने वाला प्रथम निरपेक्ष सद्वादी अद्वयवादी दर्शन है। उनका निष्कर्ष है कि शून्यता दर्शन न तो प्रसज्य प्रतिषेधवाद है और न तथ्यवाद अपितु निरपेक्षसद्वाद है।[६५]

प्रो० मूर्ति का तर्क है कि माध्यमिक जब कभी वस्तुओ का निषेध करता है तो उसका निषेध ब्रह्म के गुणो के निषेध के तुल्य होता है बल्कि माध्यमिक ब्रह्मवाद का एक अत्यन्त ससुसगत रूप है। वस्तुत माध्यमिक केवल विधिपरक धर्मो का ही नहीं अपितु निषेधपरक धर्मो का भी निषेध करता है और वह निषेधपक्ष के प्रति पक्षपात भी नहीं दिखाता। अत उसे अभाववादी समझना भूल है। माध्यमिक द्वारा वस्तुओ के निषेध

की प्रक्रिया साधनमात्र है साध्य नहीं। माध्यमिक तत्व का लक्षण इस प्रकार करता है कि उसे ब्रह्म का पर्याय मानना ही पडता है।[६६]

(४) तकाकुसु के अनुसार माध्यमिक दर्शन मे शून्यता शब्द भ्रामक है। माध्यमिक का निषेधवाद वस्तुत प्रज्ञापारमिता की उपलब्धि का साधन है। सचपूछा जाए तो शून्यता दर्शन तत्त्वत अशून्यता दर्शन है क्योकि तथोक्त शून्यता सबको अभिपन्न ग्रसित और परामृष्ट करती है।[६७]

(५) ई० कौजे के अनुसार शून्यता समाधि का विषय है। उसके सम्बन्ध मे सत् और असत का प्रश्न उठाना अनर्गल प्रलाप मात्र है।[६८]

(६) फ्रेडरिक जे० स्ट्रेग के अनुसार नागार्जुन का द्वन्द्वन्याय केवल मात्र निषेधात्मक नही है बल्कि वह एक भावात्मक बोध भी प्रदान करता है।[६९]

(७) अशोक कुमार चटर्जी के अनुसार माध्यमिक दर्शन एक अति दर्शन है और उसकी भाषा अतिभाषा है।[७०]

(८) प्रो० हर्षनारायण भी कुछ ऐसी ही भाषा का प्रयोग करते हैं उनके अनुसार नागार्जुन दर्शन तर्क के स्तर पर भले ही शून्यवाद या सर्वाभाववाद हो किन्तु प्रज्ञा के स्तर पर वह परम तत्ववाद है जिसका वर्णन मात्र तूष्णीभाव है।[७१]

(९) प्रो० चन्द्रधर शर्मा के अनुसार नागार्जुन स्वय तत्व को बोधि अथवा ज्ञान रूप मानता है। शान्तिदेव बोधिचित्त का गुणगान करता है। इससे सिद्ध होता है कि माध्यमिक शून्यता निरपेक्ष का पर्याय है। उनके अनुसार अद्वैत और माध्यमिक मे केवल प्रक्रिया का भेद है। अद्वैत जगत की व्यावहारिक सत्ता की बात करता है जबकि माध्यमिक जगत् की पारमार्थिक सत्ता पर बल देता है। दूसरे वेदान्त परम तत्व की पूर्ण से पूर्ण व्याख्या करना चाहता है जबकि माध्यमिक इस विषय मे उदासीन रहता है। प्रो० चन्द्रधर शर्मा का विचार है कि शून्यवाद निरपेक्षवादी दर्शन का प्रथम सोपान है जबकि वेदान्त अन्तिम।[७२] शून्यवाद दशर्न विकास की पूर्व भूमि है और वेदान्त उत्तर भूमि।[७३] और शून्य वा शून्यता दो अर्थो मे प्रयुक्त है उसका अर्थ माया और अविद्या भी है और ब्रह्म भी।[७४]

(१०) डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

अब हम भारतीय दर्शन के अमर भाष्यकार भारत रत्न भारत के राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन के नागार्जुन के दर्शन से सम्बन्धित विचार से शून्यवाद के वास्तविक अर्थ की जिज्ञासा की चर्चा का समापन करेगे।

डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दो मे शून्य से विविध अर्थो का बोध होता है। कुछ के लिए यह मात्र अभाव का बोधक है और कुछ कि लिए कूटस्थ नित्य परात्पर अपरिभाष्य और सभी वस्तुओ का अन्तयार्मी पर तत्व। प्रथम अर्थ अनुभवमूलक जगत–सवृति के लिए प्रयुक्त है और द्वितीय तत्वशास्त्रीय परमार्थ के लिए। शून्य एक प्रातिभासिक अथवा भ्रमजन्य वस्तु का आधार नही हो सकता। समस्त अभाव एक अन्तर्निहित भावमूलक सत्ता पर टिका हुआ है। निरपेक्ष अभाव असभव है। पूर्ण सशयवाद कल्पनाप्रभूत है क्योकि कम से कम सशयवादी का परामर्श तो प्रामाणिक है।[७५] नागार्जुन एक लोकोत्तर सत्ता मे आस्था रखते है किन्तु उपनिषदो की भाति वे यह मानते है कि वह अनुभव का विषय नहीं। चक्षु प्रत्यक्षीकरण नही करती और मन मनन नही करता यह परमार्थ है जहॉ मानव बुद्धि का प्रवेश नहीं है। वह लोक जहॉ समस्त पदार्थो का सद्य साक्षात्कार होता है बुद्ध द्वारा उसे ही परमार्थ या निरपेक्ष सत्य घोषित किया गया है।[७६] इसे न तो शून्य कहा जा सका और न अशून्य न शून्याशून्य और न[७७] अशून्यायाशून्य। किन्तु मात्र इसका सकेत करने के लिए शून्य सज्ञा दी जाती है। नागार्जुन के जीवनी लेखक और भाष्यकार कुमारजीव कहते है कि शून्यता के कारण ही सबकुछ सभव है बिना इसके जगत् मे कुछ भी सभव नही है। वे कहते है कि हे सुभूति! शून्यता सभी धर्मो का आश्रय है। वे इस आश्रय को बदल नहीं सकते।[७] शून्यता कारणातीत विचारातीत और सप्रत्ययातीत है। इसकी न तो उत्पत्ति होती है और न यह नापी जा सकती है।[७९]

वस्तुत निरपेक्ष न तो सत् है न असत् न सदसत और न असदासत्। नागार्जुन के अनुसार तर्क और भाषा मात्र सवृति का विवेचन कर सकते है। अनन्त परमार्थ को तर्क और भाषा की कोटियो द्वारा नापने का प्रयत्न वैसे ही हास्यास्पद है जैसे सूर्य के ताप को साधारण थर्मामीटर द्वारा नापने का प्रयत्न। वस्तुत यह चतुष्कोटिविनिर्मुकत है। भगवान् बुद्ध ने कहा है उस वस्तु का क्या वर्णन किया जाए और उसका ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाए जो वर्णमाला के अक्षरो से अग्राह्य है। यह भी कहना कि यह वर्णमाला के अक्षरो से अग्राह्य है उस परम तत्व इन्द्रियातीत परात्पर अद्वय शून्य को शब्दो मे ही बाधना है। वस्तुत यह निर्वाण की भाति लक्षणातीत अगम्य उत्पादभग विरहित विचार और भाषा के परे है। अक्षरस्य धर्मस्य श्रुति का देशना

च का। महोपनिषद् मे भी ब्रह्म का इन्ही शब्दो मे शून्य तुच्छ अभाव अव्यक्त अदृश्य अचिन्त्य ओर निर्गुण के रूप मे वर्णन है।[१] योगस्वरोदय मे भी सच्चिदानन्द ब्रह्म को शून्य कहा गया है–

शून्य तु सच्चिदानन्द नि शब्द ब्रह्म शब्दितम।

कबीर भी ब्रह्म के लिए कुछ ऐसी ही भाषा का प्रयोग करते है– जो परम सत्य–सत्यस्यसत्यम और सभी सत्यो का अधिष्ठान है उसे लोग शून्य कहते है।[२] डन्स स्कॉटस भी ईश्वर के लिए शून्य पदावली का ही प्रयोग करते है ईश्वर को ठीक ही शून्य कहा गया है– क्योकि जो सापेक्ष तत्व नहीं है अर्थात् जो निरपेक्ष परम तत्व है वह विचार के लिए शून्य ही है।[३] इसकी तुलना हेमिल्टन के निरुपाधिक और स्पेन्सर के असमीक्ष्य सत्ता से की जा सकती है। सम्बन्धातीत स्वरूप के कारण इसकी तुलना नव्यप्लेटोवादी दार्शनिक प्लॉटिनस के एक स्पिनोजा के द्रव्य और शेलिग के तटस्थ से की जा सकती है। ससार के झझावात से ग्रस्त मानव के लिए यह बहुत बडा सहारा है। जिसकी बहुत ही सुन्दर अभिव्यक्ति फेवर की इस वन्दना मे है–

हे प्रभो! मेरा हृदय व्यथित है
व्यथित है इस शाश्वत परिवर्तन से
जीवन अति द्रुति गति से भाग रहा है

अपनी अशान्तिकारी दौड और विविध राजि के कारण आपमे परिवर्तन सदृश किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं न आपकी मूक नित्यता मे उसकी कोई प्रतिध्वनि है।[४]

(११) विश्व कवि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दो मे– भगवान बुद्ध का धर्म और औपनिषद ब्रह्म तत्वत अभिन्न है बौद्ध दर्शन मे धर्म शान्ति शुभ और प्रेम की नित्य सत्ता है जिसके लिए वह अपनी भक्ति की सर्वोच्च निष्ठा यहॉ तक कि अपना जीवन भी अर्पण कर सकता है। यह धर्म मानव को त्याग की सर्वोत्कृष्ट दैवी शक्ति से प्रेरित कर सकता है। और आत्मत्याग से अपने जीवन के आराध्यदेव तक पहुँच सकता है– वह अवस्था जिसकी किसी भी सासारिक वस्तु से उपमा नहीं दी जा सकती फिर भी जिसकी अस्पष्ट अनुभूति की जा सकती है। उस क्षण जब हमे यह बोध होता है कि हम इसकी अपरोक्षानुभूति कर सकते हैं। विनाश मार्ग द्वारा नहीं अपितु अविवेच्य (अमाण) प्रेम द्वारा। इस असीम प्रेम की अविच्छिन्न और चिर चेतना मे आरुढ होने की अवस्था का ही नाम भगवान् बुद्ध की भाषा मे ब्रह्म विहार है।[५] यह प्लेटो का

शुभ (परम तत्व) है जो सत्यस्यसत्यम है जहॉ सत्ता और तत्त्व सत् और चित का भेद मिट जाता है। यह स्वभावत अनिर्वचनीय है। भाषा द्वारा इसका निर्वचन हो ही नही सकता। वस्तुत जो समस्त वस्तुओ का आधार है वह आधेय वस्तुओ द्वारा कैसे निर्दिष्ट किया जा सकता है? क्या अग द्वारा अगी का या अश द्वारा अशी का निर्वचन सभव है? क्या चक्षु द्वारा उसके अगी–शरीर का ठीक से वर्णन हो सकता है? क्या किसी कोट को उसी कोट की जेब मे रखा जा सकता है? या किसी जेब की सुन्दरता को देखकर उस कोट की सुन्दरता का अनुमान किया जा सकता है? वस्तुत नहीं। यही कारण है प्लेटो जब भी शुभ के स्वभाव का विवेचन करने चलते है तो उनकी भाषा लडखडाने लगती है और परस्पर विरोधी गुणो का प्रयोग करने लगती है। इस वर्णन का एक अच्छा उदाहरण निम्नलिखित उद्धरण मे मिलेगा

शुभ सत्य के परे है फिर भी सर्वोच्च सत्य है। यह एक अव्याख्येय विचार है फिर भी सत्यता सुन्दरता द्वारा किचित् व्याख्येय है। यह सत् है और सत् से भिन्न भी है। यह सभी वस्तुओ मे व्याप्त (अन्तर्यामी) है तथा सभी वस्तुओ का प्राप्य आदर्श (परात्पर) भी है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम डॉ० राधाकृष्णन के शब्दो मे यह कह सकते है कि अद्वैत वेदान्त नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन से अत्यधिक प्रभावित है। शकर का प्रातिभासिक और पारमार्थिक का भेद नागार्जुन के सवृति और परमार्थ के अनुरूप है।

शकर के निर्गुण ब्रह्म और नागार्जुन के शून्य मे पर्याप्त एकरूपता है। सवृति की आधारभूता अविधा दोनो मे ही पाई जाती है। तीक्ष्ण तर्कणा जो ससार को अमूर्तताओ वर्गणाओ और सबधो मे विभक्त करती है दोनो मे ही द्रष्टव्य है। दोनो ही परिवर्तनशील स्वभाव के कारण जगत् को मिथ्या मानते है।[७]

जरामरण धर्मेषु सर्वभावेषु सर्वदा।
तिष्ठन्ति क तमे भावा जरामरण बिना।।

इसी प्रकार यह सिद्धान्त शुभ स्वरूप परमार्थ (परम तत्व) ज्ञान की समस्या कोटियो से परे है दोनो ही दार्शनिक मानते है।

सर्वकल्पनाजाल रहित ज्ञान ज्ञेय निवृत्ति स्वभावम् शिवम् परमार्थस्वभावम।[८]

इसी प्रकार नागार्जुन और शकर (अद्वैतवेदान्त) दोनो ही मानते है कि पाप और पुण्य ससार की निम्न और उच्च अवस्थाओ के साधन है और निर्वाण दोनो के ही परे है–

धर्मे च सत्य धर्मे च फल तस्य न विद्यते।[१]

यदि हम श्रीहर्ष के अद्वैतवाद पर दृष्टिपात करे तो यह पाएगे कि उन्होने नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन को ही विकसित किया है। उन्होने कारण–कार्य तथा द्रव्य–गुण आदि वर्गणाओ का विश्लेषण किया है और उनमे निहित स्व–विरोध को उजागर किया है और वस्तुओ के अस्तित्व की सन्तोषप्रद व्याख्या की असभावना के कारण उनके अस्तित्व को अस्वीकार किया है। श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य मे हम वस्तुओ को अनिर्वचनीय पाते है और नागार्जुन मे नि स्वभाव। अनिर्वचनीयता और नि स्वभावत पर्यायवाची है। अदृष्ट और अज्ञात तत्व के प्रति बुद्ध के दृष्टिकोण के कारण नागार्जुन ने उसके विधिस्वरूप पर अधिक बल नही दिया यद्यपि उसकी सत्ता स्वीकार की है। अपने निषेधपरक तर्कशास्त्र (जो अनुभव को मात्र सवृति तक सीमित रखता है) द्वारा नागार्जुन ने अद्वैतवाद के दर्शन के लिए पृष्ठभूमि तैयार की है। यह आश्चर्यमयी विडम्बना है कि इन दो समान विचारदर्शन के प्रतिष्ठाता अपने को परस्पर विरोधी विचार का मानते है।[१]

शून्य के स्वरूप के उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि शून्य का विधिमूलक और निषेधमूलक दोनो ही अर्थ किया गया है किन्तु दोनो की ध्वनि एक है। जो सबका आश्रय है उसे तर्कशास्त्र की सत और असत् अस्ति और नास्ति की कोटियो मे कैसे बाधा जा सकता है? शून्य के विराट स्वरूप को जो जगत का भी आधार है उसे हम मेज या कुर्सी की भाति यह है कैसे कह सकते है? वस्तुत वह इतना बडा है कि उसकी लम्बाई चौडाई सामान्य मापयन्त्रो द्वारा नहीं नापी जा सकती और साधारण अको द्वारा उसकी अनन्तता का कथन नहीं हो सकता है। आकाश के कुछ नक्षत्र पृथ्वी से इतनी दूर है कि उनकी दूरी बताने के लिए प्रकाश वर्ष की स्थापना की गयी है और वह उसकी दूरी व्यक्त करने मे असमर्थ है। आकाश मे कितने नक्षत्र है कि इनकी ही गणना हमारी गणित नहीं कर सकती फिर जो शून्य अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक ब्रह्म का पर्याय है उसका वर्णन कैसे किया जा सकता है? वह तो मात्र समाधियो और भूमियो द्वारा अनुभूत होता है किन्तु जिसका अनुभव होता है वह कोई विधिमूलक सत्ता है भले ही उसका वर्णन करने मे वाणी मौन धारण कर ले। किन्तु वह मौन या चन्द्रकीर्ति का तूष्णी भाव से बन्ध्यापुत्र या शशश्रृग की भाति अभाव नहीं सिद्ध होता। अत शून्य अभाव नहीं अपितु परमपूर्ण विधिमूलक शिव तत्व है।

शून्य और ब्रह्म

जैसा ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है अनेक दार्शनिको ने चिन्तन के ऊषाकाल वैदिक युग से लेकर बीसवी शताब्दी के अन्त तक शून्य और ब्रह्म को पर्याय के रूप मे चित्रित किया है। अन्तत शून्य ही ब्रह्म और ब्रह्म ही शून्य है– शून्य एव ब्रह्म ब्रह्मएव शून्य तयोर्मध्ये न किञ्चिदपि भेद विद्यते। छान्दोग्य उपनिषद मे ब्रह्म के लिए सत शब्द का प्रयोग किया गया है।[६१] श्रीमद्भगवद्गीता[६२] मे सदसत और न सन्नासत और अधिकाश स्थानो पर नेति नेति कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्म चतुष्कोटि और उसके भी आगे बढ जाता है। श्रीमद्भागवत[६३] मे उसे निषेध–शेष[६४] का विशेषण दिया गया है और श्रीहर्ष ने तो उसे पचकोटि मात्र[६५] घोषित किया है।

इस प्रकार अद्वैत का ब्रह्म और नागार्जुन का शून्य चतुष्कोटि विनिर्मुक्त और अभिन्न है। इसके निर्वचन की भाषा मौन है किन्तु यह लौकिक अर्थ मे अभाव या रिक्त नही है।

शकराचार्य ने इसके स्वरूप की एक आख्यान द्वारा बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है–

बाध्व से वास्कली ने प्रश्न किया कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है? बाध्व चुप रहे। वास्कली ने पुन प्रश्न किया कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है? बाध्व पुन चुप रहे। वास्कली ने तीसरी बार पुन वही प्रश्न किया तब बाध्व बोले मौन रहकर बता तो दिया– उपशान्तोऽयमात्मा[६६] आत्मा अपशान्त है उसके विषय मे मौन ही धारण करना है। उसका विवेचन शब्दो द्वारा नहीं हो सकता। वह अनक्षर है। केन उपनिषद् मे ब्रह्म को यथोवाचो निवर्तनते अप्राप्य मनसा सह[६७] और अनन्यदेव तद् विदितादथो अविदिताद् अधि[६८] कहा गया है। यह वर्णन निषेधात्मक भले हो किन्तु इससे साधारण भाषा के अभाव या शून्य पदार्थ की गन्ध नही आती। यह चन्द्रकीर्ति के तूष्णी भाव[६९] और लकावतार सूत्र के अवाङमनसगोचर का स्मरण कराता है–

वस्तुत इसका मन द्वारा मनन सभव ही नहीं है। अपितु मन की मननात्मक क्रिया इसी के द्वारा सभव होती है।

येन मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव बह्म त्व विद्धि नैदमिदमुपासते।।

क्या शून्य 'विभाज्य' है?

प्रश्न उठता है कि शून्यता के विभाजन का अर्थ क्या है? क्या वह कुर्सी मेज लोहा पीतल सोना चादी और लकडी की भाति कोई भौतिक तत्व है जिसका विभाजन टुकडो मे किया जा सके अथवा यहॉ विभाजन का कोई विशेष अर्थ है? किन्तु जैसा ऊपर विवेचन किया गया है शून्यता ब्रह्माण्ड का मूल और समग्र बोधक है जो सबका मूल और आकाश की भाति विस्तृत और अनन्त है उसका सान्तमानव द्वारा सान्त सयत्रो द्वारा कैसे विभाजन किया जा सकता है? पुनश्च शून्य सप्रत्यय है जो प्लेटो के शुभ की भाति वस्तुमूलक प्रत्यय है उसका विभजन कैसे हो सकता है? वस्तुत शून्य का विभाजन वदतोव्याघात है। असीम की ससीम के द्वारा और अनन्त का सान्त के द्वारा विभाजन अकल्पनीय है।

शून्य का विभाजन शब्द का लाक्षणिक अर्थ मे प्रयोग किया गया है यहॉ शून्यता का विभाजन भौतिक अर्थ मे नही किया गया जैसे लकडी या लोहे का होता है। यह विभाजन सप्रत्ययात्मक है जो विचारको ने विविध दृष्टियो से किया है जैसे रूप शून्यता अर्थात् तात्त्विकर रूप नहीं है अनुपलम्भशून्यता अर्थात् भूत वर्तमान और भविष्य का तात्विक अस्तित्व नहीं है। भावशून्यता वस्तुओ का कोई शाश्वत स्वभाव नही होता। सभी वस्तुऍ परस्पराश्रित–प्रतीत्यसमुत्पन्न है?

इस समय पचविशति प्रज्ञापारमिता मे बीस शून्यताओ का विवेचन मिलता है। किन्तु आधुनिक युग मे सस्कृत मे उपलब्ध पचविशति प्रज्ञापारमिता अभिसमयालकार के आधार पर लिखी गयी है। मूल नष्ट हो गया था। अत बीस शून्यताओ का सिद्धान्त प्रज्ञापारमिताओ का मौलिक सिद्धान्त है अथवा परवर्ती दार्शनिको ने इसे प्रज्ञापारमिता मे जोडा यह विवादस्पद प्रश्न है। हरिभद्र के अभिसमयालकारालोक मे बीस शून्यताओ का विवेचन है। मध्यान्तविभाग टीका मे मात्र १६ शून्यताओ[1] का वर्णन है अन्तिम चार का उल्लेख नही है। यहॉ शून्यताओ का विवेचन योगाचार विज्ञानवाद के दृष्टिकोण से किया गया है। शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता मे मात्र १८ शून्यताओ[11] का उल्लेख है सख्या १६ तथा २० का उल्लेख नहीं है। ये शून्यताए निम्नलिखित है–

१ **अध्यात्म शून्यता** आन्तरिक धर्मो (मानसिक धर्म) का अस्तित्व नही है।

२ **बहिर्धाशून्यता** बाह्य धर्मो (वस्तुओ) का अस्तित्व नहीं है।

३ **अध्यात्म बहिर्धाशून्यता** बाह्य धर्म और आन्तरिक धर्म दोनो का युगपद् अस्तित्व नही है। द्वादशायतन शून्य हैं।

४ **शून्यता शून्यता** यह ज्ञान कि शून्यता का अस्तित्व नही है।

५ **महाशून्यता** अनन्त आकाश शून्य (नि स्वभाव) है।

६ **परमार्थताशून्यता** परमार्थ अथवा निर्वाण शून्य है।

७ **सस्कृतशून्यता** सस्कृत धर्मो का अस्तित्व नहीं है। (नि स्वभाव)

८ **असस्कृत शून्यता**· असस्कृत धर्मो (सख्या निरोध प्रतिसख्या निरोध और आकाश) शून्य है।

६ **अत्यन्त शून्यता** अनन्त भी शून्य है।

१० **अनवराग्रशून्यता** अनादि और अनन्त दोनो शून्य हैं।

११ **अनवकार शून्यता** जिस तत्व का निराकरण नहीं किया जा सकता वह भी वस्तुत शून्य है।

१२ **प्रकृतिशून्यता** मूलतत्व वस्तुत शून्य है।

१३ **सर्वधर्म शून्यता** जो भी सस्कृत और असस्कृत धर्म हीनयान मे गिनाए गए है वे सभी शून्य है।

१४ **लक्षण शून्यता** वस्तुओ (धर्मो) का अन्तर स्पष्ट करने के लिए जो भी लक्षण धर्म (व्यवच्छेदक धर्म) गिनाए गए हैं वे सभी वस्तुत नही है।

१५ **अनुपलम्भशून्यता** भूत वर्तमान और भविष्य (त्रिकाल) का अस्तित्व नही है।

१६ **अभाव स्वभाव शून्यता** वे सभी स्कन्ध ओर सयोग जिनको अनस्तित्व माना जाता है वे सभी शून्य हैं।

१७ **भावशून्यता** सभी इन्द्रिय जन्य पदार्थ शून्य है।

१८ **अभावशून्यता** इन्द्रियातीत वस्तुओ का अस्तित्व नहीं है।

१६ **स्वभावशून्यता** वस्तुओ का कोई स्वभाव नहीं होता वे शून्य है।

२० **स्वभाव शून्यता** वे सभी वस्तुएँ जो अपने अस्तित्व के लिए अन्य वस्तुओ पर निर्भर है शून्य है। दूसरे शब्दो मे सापेक्ष और पराश्रित वस्तुओ का अस्तित्व नहीं है।

हीनयान मे इनकी सख्या ४० तक पहुँच गयी है।

यद्यपि शून्यता के विविध प्रकारो का काण्ट की भाषा मे प्रागनुभविक निगमन या तार्किक वर्गीकरण तो सभव नहीं किन्तु यदि हम इन प्रकारो का युगपद् विवेचन करे तो हेगल के द्वन्द्वन्यायात्मक प्रक्रिया का अवश्य दर्शन होगा। प्रथम तीन अध्यात्म शून्यता बहिर्धाशून्यता और अध्यात्मबहिर्धाशून्यता एक साथ द्रष्टव्य है। इनमे से अध्याम शून्यता मानसिक अवस्थाए वेदना तृष्णा आदि है। इन्हे हम न तो अकूटस्थ (परिणामी) कह सके और न अविनाशी कह सके अर्थात् न तो वे सत है और न असत है यही इनकी शून्यता या सापेक्षता है। यही बात अन्य प्रकारो पर भी लागू होती है–

तत्र कतमा अध्यात्म शून्यता? आध्यात्मिका धर्मा उच्यन्ते चक्षु श्रोत्र जिहवा कायो मन । तत्र चक्षु चक्षुषा शून्यम अकूटस्थाविनाशि नाम् उपादाय। तत्र कस्य हेतो ? प्रकृतिरस्य एषा।।[12]

अन्य शून्यताए हीनयान के सिद्धान्त के सदृश प्रतीत होते हैं। चौथी शून्यता शून्यता शून्यता विशेष रूप से विचारणीय है। यह आलोचना कि यदि सब कुछ शून्य है तो यह कथन कि सब कुछ शून्य है तो शून्य (सापेक्ष) नही है। जब सभी वस्तुओ का खण्डन हो जाता है तो खण्डन का खण्डन कैसे हो सकता है? किन्तु यह मिथ्या तर्क है। खण्डन उतना ही शून्य या सापेक्ष है जितना खण्डनीय पदार्थ। खण्डनीय पदार्थ के सापेक्ष्य मे ही तो खण्डन का अस्तित्व सभव है। अत खण्डन ओर खण्डनीय पदार्थ दोनो ही शून्य है। समीक्षा रूपी अग्नि जो समस्त तीर्थक दृष्टियो को समाप्त कर देती है वह उनके साथ स्वय समाप्त हो जाती है क्योकि उन दृष्टियो के सापेक्ष मे ही तो उस (समीक्षा) का अस्त्वि है। रोग को समाप्त करने के बाद रोगनाशक औषधि का भी अन्त हो जाता है नही तो वह अन्य प्रकार का रोग पैदा करने के लिए बनी ही रहेगी। यदि यह निषेधमूलक दृष्टि शून्यता बनी ही रहे तो यह उतनी ही हास्यास्पद होगी जितनी कि अन्य दृष्टिया। किन्तु इस शून्यता के खण्डन का यह अर्थ नही कि सावृतिक जगत की सत्ता है। इसका मात्र उपयोग यह है कि इसने एक सावृतिक शस्त्र से सावृतिक जगत का खण्डन कर दिया जैसे काटा के द्वारा काटा निकाला जाता है उसी प्रकार सवृति के आयुध (अस्त्र) द्वारा सवृति का अन्त हो गया। पाचवी शून्यता–महाशून्यता–आकाश की सापेक्षता प्रदर्शित करती है हम आकाश से पूर्व पश्चिम उत्तर–दक्षिण ऊपर नीचे और ईषान् आदि कोण तथा उनमे स्थित वस्तुओ को लेते है किन्तु जब इनकी ही स्थित नहीं तो इनके सापेक्ष आकाश का अस्तित्व कहा रहा? वह भी शून्य हुआ।

छठी शून्यता निर्वाण शून्यता का यह अर्थ नहीं निर्वाण वन्ध्यापुत्र की भाति असत् है। अभिधर्म दर्शन (हीनयान) मे यह धारणा है कि निर्वाण एक स्वतत्र धर्म है जो समस्त क्लेशो के प्रहाण के बाद अनुभूत होता है। किन्तु नागार्जुन यह मानते है कि निर्वाण सवृति का लोकोत्तर अधिष्ठान है। उनमे भेद तो मात्र विचार के स्तर पर है। इस शून्यता से यह बोध होता है कि निर्वाण कुसी मेज आदि अनुभव की वस्तुओ की भाति कोई भौतिक वस्तु नही है।[13]

सातवीं और आठवी शून्यता सस्कृत शून्यता और असस्कृत शून्यता सापेक्ष है। यदि सस्कृत धर्म असत् है न तो नित्य है और न अनित्य है तो असस्कृत धर्म भी सस्कृत धर्मो के परिप्रेक्ष्य मे ही चिन्त्य है। उनके असत (शून्य) होने पर यह भी शून्य है।

नवीं शून्यता अत्यन्त शून्यता हमारे उस विचार की ओर सकेत करती है जो सान्त और अनन्त के बीच मे घूमता है। यहा हम यह सोच सकते है कि शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के बीच एक मध्यमवाद स्थापित कर रहे है किन्तु ऐसी बात नहीं। द्वन्द्वन्याय (शून्यता) का सिद्धान्त यहॉ भी लागू होता है अत्यन्त शून्यता स्वत कोई वस्तु नही है। यह स्वत कोई दृष्टि नहीं अपितु समस्त दृष्टियो की समीक्षा है।

दसवीं शून्यता अनवराग्रशून्यता भी अत्यन्त शून्यता के ही स्वरूप की है। यह काल शून्यता है जो अतीत वर्तमान और अनागत को समाहित करती है। वस्तुत ये भेद विषयिनिष्ठ हैं काल मे भूत वर्तमान ओर भविष्य नामक कोई वास्तविक विभाजन नहीं है। सब एक दूसरे मे समाहित है। अत एक का खण्डन हो जाने पर दूसरे का स्वत खण्डित हो जाता है अत काल भी सापेक्ष है अत शून्य है। ग्यारहवी शून्यता अर्थात अनवकारशून्यता उस धारणा के प्रति सावधान करती है जो इस बात से उत्पन्न होती है कि सब दृष्टियो का खण्डन करने वाली शून्यता स्वय एक दृष्टि है जिसकी वास्तविक सत्ता है। किन्तु नागार्जुन का समीक्षवाद या शून्यता दृष्टि सबके खण्डन के साथ स्वय भी खण्डित हो जाती हे। यह चौथी शून्यता–शून्यता–शून्यता से अभिन्न है ओर वहॉ इसका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

बारहवीं शून्यता अर्थात् प्रकृतिशून्यता इस बात का प्रतिपादन करती है कि बौद्ध समीक्षावाद न तो किसी वस्तु का सृजन करता है न किसी वस्तु को नष्ट करता है। वस्तुए स्वरूपत जैसी है उनका वैसा ही निरूपण करता है। वस्तुए वस्तुत शून्य और प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं उनकी कोई स्वत सत्ता नहीं है। किन्तु हम

उन्ह ıारस्तविक मान बैठ है। शून्यता दृष्टि इसी सत्य को उजागार करती है कि वस्तुए स्वरूपत सापेक्ष और प्रतीत्य समुत्पन्न है अत शून्य है वास्तविक नही है।

तरहवीं **शून्यता** सवधम शून्यता कोई नया प्रकार नही। यह मात्र यह दोहराती है कि समस्त भौतिक ओर मानसिक पदार्थ सापक्ष है अत शून्य है।[१४]

चादहवीं **शून्यता** अर्थात लक्षणशून्यता या स्व–लक्षण शून्यता इस बात का बोध कराती है कि प्राचीन अभिधामिक बाद्ध दर्शन म पचस्कन्ध द्वादश आयतन अष्टादश धातुओ अथवा अन्य सस्कृत असस्कृत धर्मो अथवा मामान्य ओर विशप मे विभाजन वस्तुत मानसिक हैं इनका स्वत कोई स्वरूप नही है। इसीलिए ये लक्षण शून्यता या स्वलक्षण शून्यता कहे जाते है।

पन्द्रहवीं **शून्यता** अर्थात अनुपलम्भ शून्यता अनवराग्र शून्यता स अभिन्न प्रतीत होती है जो काल मे त्रिविभाजनभूत वतमान आर भविष्य को वास्तविक करती है किन्तु नागार्जुन के अनुसार ये विभाजन मात्र मानसिक हे इनका स्वतत्र अस्तित्व नही और इसलिये शून्य है।

सालहवीं शून्यता अर्थात अभाव स्वभाव शून्यता नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन का मूल सिद्धान्त है जो यह प्रातेपादित करता ह कि अनुभवमूलक जगत (सवृति) क सभी पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न है और प्रतीत्यसमुत्पन्न हाने के कारण वे परतत्र सापेक्ष और शून्य है उनका वास्तविक अस्तित्व नही है।

सत्रहवी शून्यता अथात भाव शून्यता मे यह प्रतिपादित किया गया है कि रूप वेदना सज्ञा सस्कार और विज्ञान क लिए प्रयुक्त पचस्कन्ध अथवा उपादान स्कन्ध मात्र एक सज्ञा या प्रज्ञप्ति है इसका वास्तविक अस्तित्व नही है। दूसरे शब्दा मे शब्द विकल्पात्मक है इनके अनुरूप कोई बाह्य सत्ता नही हे जो भी भाव पदार्थ असितत्ववान पदाथ दिखाई पडते है वे परस्पराश्रित होन के कारण भावशून्य है।

अठारहवी शून्यता अथात अभाव शून्यता इस बात का सकेत करती है कि सस्कृत धर्मो के विरुद्ध जो असस्कृत धर्मो– आकाश और निर्वाणद्वय–सख्या निरोध प्रतिसख्या निरोध की नित्य तत्व के रूप मे कल्पना की गयी है वे भी सज्ञामात्र हे उनकी वास्तविक सत्ता नही। वे सस्कृत धर्मो के सापेक्ष रूप मे स्थापित किए जाते । सस्कृत धर्म असत है अत उनके सापेक्ष रूप मे कल्पित आकाश निर्वाण आदि धर्म भी शून्य है।

उन्नीसवीं और बीसवी शून्यताए स्वभाव शून्यता और परभाव शून्यता इस सत्य की ओर सकेत करती है कि ससार म कोई भी ऐसी पदार्थ नही जो स्वतत्र अस्तित्व रखता हो अत कोई भी पदार्थ सस्वभाव नही है।

ओर चॅकि पदार्थ नि स्वभाव हे अत उनके निर्माता कुम्भकार चित्रकार और उनके यत्र चक्र मुद्रा आदि भी परतत्र हे अत शून्य है।[15]

इससे हम इस सत्य की आर इगित किया जाता है कि बुद्धो का अवतार होता हो या न हाता हो परम तत्व के स्वरूप पर कोई आच नही आती है।

ऊपर विवेचित शून्यताओ मे स कुछ विशेष कर अन्तिम पाच अन्य शून्यताओ का पुनर्कथन मात्र है। इन शून्यताओ मे से अधिकाश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बौद्ध दर्शन के चिन्तन की वर्गणाए मात्र है जो इस बात की आर सकेत करती है कि नागार्जुन का समीक्षावाद (शून्यता) सर्वग्राही है जो समस्त भौतिक और आत्यात्मिक पदार्थो मूल्यो दृष्टियो और सप्रत्ययात्मक चिन्तन मात्र और स्वय अपने को भी अपनी समालाचना परिधि मे समाहित करता है। यह उद्घोष कि सभी वस्तुए शून्य है यह भी कोई वास्तविक दृष्टि नही अपितु शून्य है क्योकि ऐसा न मानने पर इस दृष्टि के खण्डन के लिए एक अन्य दृष्टि का महाल लेना पडगा इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा जो नागार्जुन के शून्यता–सिद्धान्त के विरूद्ध है।[16]

नागार्जुन के शून्यता के विविध प्रकारो के विवेचन का उद्देश्य मात्र मानसिक और भौतिक जगत की वस्तुओ का नि सारताप्रदर्शन नही है और न तु मात्र दार्शनिको की परमतत्व और लौकिक जगत की वस्तुओ के प्रति दृष्टियो का खण्डन मात्र है। इन शून्याताओ का एक व्यवावहारिक पक्ष भी है जिसका ज्ञान सम्यगसम्बोधिबुद्ध के धर्मकाय स्वरूप की अपरोक्षानुभूति हेतु कृतसकल्प योगी को दशभूमियो के क्रमश विकासोन्मुख स्तर के लिए सत्य (शून्य) का शनै शनै बोध कराना है जिसके फलस्वरूप योगी आत्मता से महात्मा को प्राप्त हो जाएगा और अर्हतत्व स बोधिसत्वता को। इस ज्ञान को पाकर योगी हीनयान के आष्टागिक मार्ग के स्थान पर महायान के प्रज्ञा मार्ग पर आरूढ हा जाता है। और इन दशभूमियो के अन्त मे उसे उस अद्वय तत्व का साक्षात्कार होता है जो महायान बौद्ध दर्शन मे धर्मकाय है और अद्वैतवेदान्त मे ब्रह्म। इस साक्षात्कार के फलस्वरूप वह निरन्तर ब्रह्मविहार मे लीन रहता है।

इस साधना की प्रत्येक भूमि मे किसी न किसी शून्यता का अभ्यास आवश्यक है।[17] उदाहरणके लिए प्रथम तीन शून्यताओ– अध्यात्म शून्यता– बहिर्धा शून्यता और अध्यात्म बहिर्धाशून्यता का अभ्यास अधिमुक्तिचर्याभूमि मे आवश्यक है चौथी शून्यता– शून्यता शून्यता का ज्ञान प्रयोगमार्ग मे आवश्यक है। पाचवी शून्यता– महाशून्यता की साधना प्रथमभूमि–प्रमुदिता मे की जाती है और छटवी शून्यता

परमार्थता–शून्यता का ज्ञान दूसरी भूमि–विमलाभूमि मे आवश्यक है। इसी प्रकार क्रम चलता रहता है और अन्तिम तीन शून्यताओ अभावशून्यता स्वभाव–शून्यता और परभाव शून्यता का ज्ञान बुद्धभूमि मे होता है जो धर्ममेधा भूमि के नाम से विख्यात है। इसे बोधिसत्वभू भी कहते है।[१]

सदर्भ

१ नागार्जुन और और आर्यदेव का जीवन–काल विवाद का विषय है। सभवत ये दूसरी शती मे थे। नागार्जुन विदर्भ के निवासी थे और आर्यदेव सिहल के। आर्यदेव नागार्जुन के शिष्य थे।

२ मध्यमकम अधीते विदन्ति वा। – द कन्सेप्शन आव बुद्धिस्ट निर्वाण भूमिका पृ० ४ पर उद्धृत।

३ य प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता ता प्रचक्ष्महे
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत सैव मध्यमा।– माध्यमिककारिका २४/१८
न सन्नासन् न सदसन् न चाप्यनुभयात्मकम
चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व माध्यमिका विदु ।।

४ अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेद दर्शनम्
तस्मादस्तित्विनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षण – वही १५/१०

५ दीर्घनिकाय १ सद्धर्मपुण्डरीक ४८

६ अलातचक्रनिर्माणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकै।
धूमिकान्त प्रतिश्रुत्कामरीच्यभ्रै समो भव।। चतु शतककारिका ३२५

७ इण्डियन फिलॉसफी भाग १ हिन्दी अनुवाद पृ० ६०३

८ अपरप्रत्यय शान्त प्रपचैरप्रपचितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम।। – माध्यमिककारिका १८/६
अपर प्रत्यय वह अनुभव है जिसे किसी को बताया नहीं जा सकता। इसे प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए अनुभव करता है।

६ अस्ति नास्ति उभय अनुभय इति चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्यत्वम्। – माधवाचार्यकत सर्वदर्शनसग्रह।

१० शून्य तत्त्वम।

११ मूलमाध्यमिककारिका २५/१८

१२ निवृत्तमभिधातव्य निवृत्ते चित्तगोचरे।
अनुत्पन्नाऽनिरुद्धा हि निर्वाणमिवधर्मता।। – वही १८/७

१३ शून्य तु सच्चिदानन्द नि शब्द ब्रह्म शब्दितम्।

१४ रवीन्द्रनाथ टैगोर कृत अनुवाद इण्डियन फिलॉसफी भाग १ पृ० ६६४

१५ हेगल की यह धारणा है कि रियल मात्र रैशनल है।

१६ इण्डियन फिलॉसफी भाग १ पृ० ६६५

१७ अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुति का देशना च का।

श्रूयते देश्यते चार्थ समारोपादनक्षर ।। मूलमाध्यमिककारिका १५/५

१८ उपायभूत व्यवहारसत्यमुपेयभूत परमार्थ सत्यम। – मध्यमकावतार ६/८०

१६ यदा न भावो नाभावो मते सतिष्ठते पुर ।

तदान्यगत भावेन निरालम्बना प्रशाम्यति।। – बोधिचर्यावतार पृ० १७७

परमार्थो हि आर्याणा तूष्णीम्भाव इति। – माध्यमिककारिकावृत्ति पृ० ५७

२० तथता सर्वकाल तथाभावात। दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव बुद्धिज्म पृ० २३२ पर उद्घृत।

२१ न ससारस्य निर्वाणात् किचिदस्ति विशेषणम्।

न निर्वाणस्य ससारात् किचिदस्ति विशेषणम्।। – मूलमाध्यमिककारिका २५/१६

तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिद जगत।

तथागतो नि स्वभावो नि स्वभावमिद जगत्।। – वही २२/१६

२२ य आजव जवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा।

सो प्रतीत्याऽनुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते।। – वही २५/६

२३ वही २४/१–६

२४ वही २४/१७

२५ वही २४/२०

२६ वही २४/२६

२७ वही २४/३०

२८ वही २४/३६

२६ वही २४/४०

३० वही २४/७

३१ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बौद्धाना धर्मदेशना।

लोक सवृति सत्य च सत्य च परमार्थत ।।

योऽनयोर्नविजानन्ति विभाग सत्ययोर्द्वयो ।

ते सत्त्व न विजानन्ति गम्भीर बुद्धशासने।। २४/८–६

३२ विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्।

सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता।। – वही २४/११

३३ डॉ० मुक्तावली माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप अध्याय २ माध्यमिक दर्शन के स्वरूप के विषय मे मतभेद।

३४ न्याय ४ १ ३६

३५ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप पृ० ६
इस विषय पर न्यायभाष्य न्यायवार्त्तिक और न्याय वार्त्तिक तात्पर्य टीका मे विशद विवेचन है।

३६ न्यायसूत्र २ १ ८ २०

३७ वही पृ० १० सूत्रकार गौतम अवश्य ही नागार्जुन के पूर्ववर्ती थे अत हो सकता है नागार्जुन के पूर्व का कोई सर्वाभाववादी दर्शन रहा हो।

३८ साख्य प्रवचन सूत्र १ ४४

३९ वही १ ४५

४० वही १ ४७

४१ साख्य प्रवचन भाष्य १ ४७

४२ साख्यसूत्र वृत्ति १ ४७

४३ मीमासा–श्लोक वार्तिक– निरालम्बनवाद १४

४४ ब्रह्मसूत्रभाष्य २ २ ३१

४५ वही ३ २ २२

४६ बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य ४ ३ २७

४७ श्रीभाष्य २ २ ३१

४८ गणधरवाद ४ ६४

४९ वही ४ १६७

५० वही ४ १८६

५१ असग बोधिसत्वभूमि पृ० ४४

५२ विंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि भाष्य पृ० ६३

५३ स्थिरमति– मध्यान्तविभाग सूत्रभाष्य टीका पृ० ६

५४ सर्वसिद्धान्त सग्रह पृ० १२ – माध्यमिक दर्शन का तात्विकस्वरूप पृ० १३

५५ सप्तसिद्धिशास्त्र पृ० ३८८

५६ Negativison which radically empties existence up to the cast consequencess of negation Stcherbat The conception of Buddhist Niwana p 60

५७ हृदयनारायण मिश्र पृ० १६३–१६४

५८ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप पृ० २६

५९ Rama Chandra Pande The Madhyamika Philosophy A New Approach p 20 किन्तु यहाँ जीरो का अर्थ सर्वथा शून्य नहीं।

६० हर्ष नारायण शून्यवाद ए रिइण्टरप्रेटेशन पृ० ३११

६१ हर्ष नारायण द नेचर ऑव माध्यमिक थॉट पृ० १७८

६२ शरवात्स्की द कन्सेप्शन ऑव बुद्धिष्ट निर्वाण पृ० ६७

६३ सुजुकी आउट लाइन्स आव महायान बुद्धिज्म पृ० ४६

६४ वही पृ० २६

६५ टी०आर०वी० मूर्ति दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव बुद्धिज्म पृ० ३३६

६६ वही पृ० ३२६

६७ ताकाकुसु– द एशेंन्शल्स ऑव बुद्धिष्ट फिलासफी पृ० ६६–१००

६८ ई० कौञ्जे थर्टी इयर्स ऑव बुद्धिष्ट स्टडीज पृ० २२

६६ फेडरिक जे० स्टेग एम्पटीनेस ए स्टडी इन रेलिजस मीनिग पृ० १४८

७० ए०के० चटर्जी फेसेटस ऑव बुद्धिष्ट थॉट

७१ हर्ष नारायण द नेचर ऑव माध्यमिक थॉट पृ० १७८

७२ डॉ० सी०डी० शर्मा ए क्रिटिकल सर्वे ऑव इण्डियन फिलासफी पृ० १४८

७३ चन्द्रधर शर्मा बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ० २८३

७४ वही पृ० २८०

७५ डॉ० राधाकष्णन् इण्डियन फिलासफी भाग १ पृ० ६६३

७६ माध्यमक शास्त्र अध्याय ३

७७ शून्यमिति न वक्तव्यम् अशून्यमिति वा भवेत।
उभय नोभय चेति प्रज्ञाप्त्यर्थ तु कथ्यते।। म०शा०।

७८ प्रज्ञापारमिता। इण्डियन फिलासफी भाग १ पृ० ६६३

७६ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता अध्याय १८

८० अस्ति नास्ति उभय अनुभव इति चतुष्कोटि विनिर्मुक्त शून्यत्वम्। माधवाचार्य– सर्वदर्शनसग्रह।

८१ इण्डियन फिलॉसफी भाग १ ६६४ टिप्पणी २

८२ वही पृ० ६६४ टिप्पणी २

८३ वही

८४ Cord my heart is sick
Sick of this everlasting charge
And life news teliously quick

८५ विश्व भारती क्वार्टरली १६२४ पृ० ३८५–३८६ इण्डियन फिलासफी भाग १ टिप्पणी १
पृ० ६८६

८६ डॉ० सी०एल० त्रिपाठी ग्रीक दर्शन पृ० १२५

८७ माध्यमिक कारिका अध्याय ७

८८ चन्द्रकीर्ति प्रसन्नपदा

८९ माध्यमिक कारिका अध्याय ७

९० इण्डियन फिलासफी भाग १ पृ० ६६८–६६९

९१ छान्दोग्य ६ २ १

९२ श्री मद्भागवत गीता ६ १९ १३ १२ ११ ३६

९३ बृहदारण्यक ४ ४ २२

९४ श्रीमद्भागवत ८ ३ २४

९५ श्री हर्ष नैषधीय चरितम १३ ३५

९६ ब्रह्मसूत्र भाष्य ३ २ १७

९७ कोपनिषद् २ ४ १

९८ वही १ ३

९९ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप पृ० ५७–५८

१०० मध्यान्त विभाग टीका पृ० ४३ ५१ जापानी सस्करण दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव बुद्धिज्म पृ० ३५१

१०१ धर्म सग्रह पृ० ८–९ महाव्युत्पत्ति वर्ग ३७१ वही पृ० ३५१

१०२ पचविशति साहस्रिका पृ० १९५,दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म पृ० ३५३

१०३ निर्वाण का सम्यग विवेचन निर्वाण के अध्याय मे किया जाएगा

१०४ दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म पृ० ३५३–३५४

१०५ वही पृ० ३५५

१०६ दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म

१०७ दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव बुद्धिज्म पृ० ३५१

१०८ नवभूमिरतिक्रम्य बुद्धभूमौ प्रतिष्ठते।
येन ज्ञानेन सा ज्ञेया दशमी बोधि सत्वभू ।।
अभिसमयालकार १ ७१

अध्याय—७

सवृति और परमार्थ

सवृति

चन्द्रकीर्ति ने सवृति शब्द के तीन अर्थ किये हैं १— वह जो वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप को चारो ओर से आवृत किये है। चन्द्रकीर्ति ने इसे अज्ञान (मूलाज्ञान या मूलाविद्या) की सज्ञा प्रदान की है। यह अज्ञान या अविद्या द्वारा प्रसूत है और अज्ञान या अविद्या का पर्याय है।[1] २— यह वस्तुओ का अन्योन्याश्रितत्व या सापेक्षता है। इस अर्थ मे यह ऐन्द्रिय जगत् या प्रपच का पर्यायवाची है।[2] ३ परम्परा से सामान्य जन जिसे मानते आये है।[3] सवृति के ये सभी अर्थ परस्पर सम्बद्ध है। प्रथम मुख्य अर्थ है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इन सभी अर्थो का महत्त्व है।

वस्तुत सवृति मानव बुद्धि की कृति है। यही जगत् और उसकी घटनाओ का कारण है। शाब्दिक रूप मे सवृत्ति का अर्थ आवरण है जो हमसे सत्य को आवृत किये है। इसके अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं क्योकि वह स्वतसिद्ध है। स्वप्न देखने वाला व्यक्ति अपने स्वप्न को किसी प्रकार किसी भी तर्क द्वारा असत्य नहीं सिद्ध कर सकता क्योकि ये तर्क उतने ही असत्य हैं जितनी कि वह वस्तु जिसकी सत्यता या असत्यता वे सिद्ध कर रहे है। स्वप्नगत वस्तु की असत्यता तो हम जागने पर ही सिद्ध कर सकते है। यही बात सवृति पर भी लागू होती है। इसकी असत्यता का ज्ञान परमार्थ के साक्षात्कार अर्थात निर्वाण की अवस्था मे ही होगा। सवृति का अर्थ तर्को द्वारा नही खण्डित हो सकता क्योकि ये सवृति के ही कार्य है। इस अवस्था मे ज्ञाता ज्ञेय सत्य असत्य तथा बन्धन और मोक्ष के भेद वैध है। किन्तु निर्वाण की अवस्था मे ये सभी अवैध है। किन्तु सवृति और परमार्थ असम्बद्ध नही है क्योकि इसे मानने का अर्थ पूर्ण अज्ञेयवाद का प्रतिपादन करना होगा। इसलिए नागार्जुन कहते हैं कि बिना व्यावहारिक सत्य के परमार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता।[4]

प्रश्न उठता है कि क्या नागार्जुन समस्त सावृतिक वस्तुओ को समान रूप से असत मानते है। क्या उनके लिए विभ्रम (निर्मूल भ्रम) भ्रम स्वप्न और प्रत्यक्ष की वस्तुए एक ही प्रकार की सत्यता रखती है? यद्यपि कुछ ऐसे कथन मिलते है जिनसे यह प्रतीत होता है कि उनके अनुसार धर्मो का सवृति या परमार्थ किसी भी रूप मे अस्तित्व नही है वे वन्ध्या–पुत्र की भॉति है जिसके सौन्दर्य की प्रशसा की जा सकती है किन्तु जो अपने समस्त सौन्दर्य के साथ असत है।[4] किन्तु यह नागार्जुन का अभिप्रेत मत नही है। व व्यवहार मे विविध प्रकार के अस्तित्व मानते है। वे वन्ध्या–पुत्र और सामान्य पुत्र तथा स्वप्नगत मेज–कुर्सी और जागरित अवस्था की मेज–कुर्सी के अन्तर मे विश्वास करते है। यद्यपि सभी व्यक्ति और सभी वस्तुएँ धर्मो का सघात है फिर भी उनमे इस बात मे भेद है कि वे किस प्रकार के धर्मो के सघात है। विभ्रम के विषयो का मन के अतिरिक्त अस्तित्व नही है। किन्तु अनुभव के विषय देश और काल मे अपना अस्तित्व रखते है भले ही वे पूर्ण सत्य न हो। दैशिक और कालिक स्थिति के कारण इनका स्वरूप कुछ निश्चित है और इनके अनुभव की पुनरावृत्ति हो सकती है। ये मात्र आत्मनिष्ठ नही है क्योकि एक ही प्रकार की अवस्थाओ मे सामान्य मानवो को इनका साक्षात्कार हो सकता है। किन्तु शुद्ध मानसिक अवस्था दैशिक सम्बन्धो द्वारा नियमित नही होती और न देश मे विस्तृत होती है। यह क्षणिक स्वभाव की है और केवल विषयी द्वारा ही ज्ञेय है। अत शुद्ध मानसिक वस्तुओ की अपेक्षा भौतिक वस्तुए अधिक निश्चित है। मानसिक प्रतिमाए परिवर्तनशील है वे चेतना के प्रवाह के साथ बदलती रहती है। इसके विपरीत प्रत्यक्ष के विषय अपेक्षाकृत अधिक स्थायी है और कुछ निश्चित अवस्थाओ मे उन्हे पुन स्थापित किया जा सकता है। इसलिए ललितविस्तर मे कहा गया है कि ससार की किसी भी वस्तु का अस्तित्व न तो है और न नही है। अत शून्यवादियो का सावृतिक जगत पूर्ण रूप से शून्य नही। यह शकर का व्यावहारिक जगत है। अभिधर्मनिकाय की नागार्जुनकृत आलोचना पढने से यह बात स्पष्ट रूप से पुष्ट होती है कि वे व्यवहार मे आत्मा कर्त्ता वस्तु जाति प्रत्यक्ष आदि का अस्तित्व स्वीकार करते है। वे कहते है कि अभिधर्मवादी केवल विज्ञान–प्रवाह और कर्म मानते हैं। किन्तु कर्त्ता और कर्म सापेक्ष शब्द है। बिना कर्त्ता के कर्म और बिना कर्म के कर्त्ता असम्भव है।[5] इसी प्रकार वे कहते है कि जो केवल आत्मा को ही सत्य मानते है उसकी अवस्थाओ को नही या केवल अवस्थाओ को सत्य मानते है आत्मा को नही वे बुद्ध की शिक्षा को सही अर्थ मे नहीं समझते।[6] क्योकि यदि आत्मा की उसकी अवस्थाओ से अलग सत्ता नही है वह उसका सघात मात्र हैं तो अवस्थाओ की भी आत्मा से अलग सत्ता नहीं है। वे कहते हैं कि यदि व्यावहारिक सत्य का ही चित्रण करना है तो

क्षणिक अवस्थाओ के अतिरिक्त क्रिया और कर्त्ता का भी अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए।[९] इसी प्रकार वे व्यवहार ज्ञान के साधनो–प्रमाणो की सत्ता मे भी विश्वास करते हैं।[१०]

सवृति को भी दो भागो मे विभक्त किया गया है– (१) लोक सवृति (तथ्या सवृति) (२) अलोक सवृति (मिथ्या सवृति)

(१) **लोक सवृति** इससे इन्द्रियो द्वारा ज्ञेय वस्तुओ का बोध होता है। यह स्वस्थ और सामान्य व्यक्ति का ऐन्द्रिक ज्ञान है। इस कोटि मे ससार की वस्तुए मेज कुर्सी मनुष्य आदि आते है।

(२) **अलोक सवृति** इसमे भ्रमजन्य वस्तुए भ्रमात्मक प्रत्यक्ष और स्वप्नादि की वस्तुए आती है जैसे मृगमरीचिका द्विचन्द्र अलातचक्र और रज्जु–जन्य सर्प आदि। प्रज्ञाकरमति ने लोक सवृति को तथ्या सवृति तथा अलोक सवृति को मिथ्या सवृति कहा है। यह क्रमश वेदान्तियो की व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ता की भॉति है। सवृति मे भेद और अवस्था–भेद के लिए स्थान है। सावृतिक अनुभवो मे एक क्रमबद्ध शृखला भी हो सकती है। स्वप्न की वस्तुओ को सामान्य जन भी भ्रमजन्य मानते है। योगी या दार्शनिक को जागृत अवस्था की चिरस्थायी और मोहक प्रतीत होने वाली वस्तुऍ भी क्षणिक और सारहीन प्रतीत हो सकती है क्योकि उसकी दृष्टि सामान्य दृष्टि से उच्चतर है। इसी प्रकार योगियो मे भी उच्चतर और निम्नतर श्रेणियॉ हो सकती है। ये सभी बुद्धि (विकल्प) के ही प्रागण मे है अत सवृति के ही क्षेत्र मे आती है।[११]

परमार्थ

सवृति को व्यवहारत सत्य कहा जाता है। वस्तुत सत्य तो परमार्थ ही है। बुद्ध की वे शिक्षाए या वे ग्रन्थ जो पारमार्थिक सत्य का प्रतिपादन करते है नीतार्थ कहे जाते है और जो सवृति का उपदेश देते है वे नेयार्थ कहे जाते है।[१२] परमार्थ उस तत्व का ज्ञान है जिसमे किसी प्रकार के वर्णन के लिए स्थान नही।[१३] यह अनभिलाप्य अचिन्त्य और आदेशनीय है। इसकी शिक्षा सम्भव नही।[१४] यह अनुभवमूलक अवधारणाओ या विशेषणो से शून्य है। यह आर्य जनो की अन्तप्रज्ञा का विषय है।[१५] यहॉ भेद या अवस्था–भेद के लिए स्थान नही। ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय इन्ही दो वस्तुओ के आधार पर भिन्न हो सकता है। चूँकि परमार्थ मे इन दोनो का ही अभाव है अत यह अद्वितीय और निर्विशेष स्वभाव का है। इसलिए इसे तथता भूतकोटि धर्मता धर्मधातु और शून्यता आदि विविध सज्ञाऍ प्रदान की गई है।[१६]

स्वतत्र माध्यमिक नय के सस्थापक भावविवेक ने अपने मध्यमाथ–सग्रह म इसे दो भागो मे विभक्त किया है (१) पर्याय और (२) अपर्याय।

प्रथम वह परमार्थ है जिसकी शब्दो मे अभिव्यक्ति हो सकती। द्वितीय वह है जिसका किसी भी प्रकार निर्वचन सम्भव नही है। यह समस्त व्यावहारिक अवधारणाओ से परे है। अपर्याय नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति के परमार्थ का पर्यायवाची है।[१७]

पर्याय परमार्थ को पुन दो भागो मे विभक्त किया गया है (१) जाति–पर्याय वस्तुपरमार्थ– वह निरपेक्ष तत्व जिसे एक सामान्य अस्तित्वमूलक सत के रूप मे समझा जा सकता है (शायद यह तीर्थक और साख्य) आदि के तत्व का द्योतक है। (२) जन्मरोध परमार्थ– जो सभी प्रकार की अभिव्यक्तियो का पूर्ण निरोध है। शायद इसका सकेत हीनयान के निर्वाण सम्बन्धी सप्रत्यय की ओर है जो सभी शक्तियो सस्कारो और वस्तुओ का उच्छेद है।[१]

सवृति और परमार्थ का भेद ब्रैडले के सत्य और सत्ता के उपाधि–भेद जैसा प्रतीत होता है किन्तु वस्तुत वैसा नहीं है। सवृति सत्य का एक आशिक या अपूर्ण रूप नही है जिसमे कुछ जोड दिया जाय तो वह पूर्ण सत्य हो जाये। इन दोनो सत्यो मे मात्रा का भेद नही बल्कि गुण का भेद है। सत्य की मात्रा के सप्रत्यय को मानने का अर्थ सत्य और मिथ्या को एक ही कोटि मे लाना है अर्थात सत्य अधिक पूण और अधिक बडा है और मिथ्या उससे छोटा तथा अपूर्ण है। दूसरे शब्दो मे सत्य मिथ्या का बृहत रूप है।[१९]

यद्यपि नागार्जुन ने सवृति और परमार्थ दो सत्यो का प्रतिपादन किया है तथापि दोनो असम्बद्ध नही है। बिना सवृति के परमार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं। यद्यपि सवृति प्रतीति है फिर भी यह एक प्रकार का तत्त्व है। यह उस तत्त्व मे प्रतिष्ठित है जो साक्षात ब्रह्म है और जहॉ सापेक्ष तथा निरपेक्ष दोनो का शमन हो जाता है।[२] इस जगत के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान केवल पारमार्थिक दृष्टिकोण से हो सकता है किन्तु व्यावहारिक या बौद्धिक दृष्टिकोण पूर्ण रूप से त्याज्य नही है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से बुद्ध बोधिसत्व धर्म नौतिकता सिद्धान्त सत्य निर्वाण दूसरे शब्दो मे सभी धर्मो का अस्तित्व है।[२१] हमे निरपेक्ष की प्राप्ति सापेक्ष का निषेध करके नही प्रत्युत सापेक्ष की सहायता से सापेक्ष को पार करने पर होगी। उदाहरण के लिए यदि कोई जहाज समुद्र मे डूबने लगे तो जो लोग लकडी के किसी टुकडे लटठे या शव का भी सहारा लेगे वे समुद्र को पार कर लेगे और जो ऐसा नही करेगे उनका समुद्र मे डूबना निश्चित है। इसी प्रकार जो सद्धर्म

बौद्धिक आस्था और षडपारमिताओ का सहारा लेग भले ही वे व्यावहारिक रूप स सत्य हो वे अन्ततोगत्वा उस तत्त्व को प्राप्त कर लेगे जो निर्वाण का सुरक्षित अमृत और सुखद पद हे किन्तु जो इनको नही स्वीकार करेगे वे निश्चित ही डूब जाएगे।[२२] जिस प्रकार कोई वृद्ध व्यक्ति अपनी शक्ति से खडा भी नही हो सकता किन्तु मित्रो की सहायता से गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकता हे उसी प्रकार लोग अपनी बुद्धि से परम सत्य को भले ही न प्राप्त कर सके किन्तु षडपारमिता रूपी मित्रो की सहायता से तत्व का दर्शन अवश्य कर सकते है।[२३] एक कच्चे घडे मे हम पानी नही भर सकते ऐसा करने पर घडा और पानी दोनो ही नष्ट हो जाएगे। घडा मिटटी का लोदा हो जायेगा और पानी मटमैला। अर्थात स्वच्छ जल रखने के लिए एक अच्छे पके घडे की आवश्यकता है।[२४] इसी प्रकार इस बुद्धिकल्पित प्रपचात्मक जगत् को पार करने के लिए एक परिपक्व व्यावहारिक बुद्धि की आवश्यकता है। जो इसका निषेध करेगे वे स्वत नष्ट हो जाएगे और दूसरो को भी नष्ट कर देगे।[२५]

कुमारिल ने सत्य–द्वय सिद्धान्त की निम्नलिखित ढग से आलोचना की है। (१) उनके अनुसार सवृति का सत्य नही कहा जा सकता क्योकि सवृति और परमार्थ मे कोई ऐसी विशेषता नही पाई जाती जिसके आधार पर इन दोनो को सत्य के वर्ग मे रखा जा सके। वे कहते है कि जो वस्तु असत है वह सदैव असत है और जो सत है वह सदैव सत है। अत सत्य–द्वय की कल्पना व्यर्थ है।[२६] (२) यदि सवृति का अन्तत परित्याग ही करना है तो उसपर विचार करने की क्या आवश्यकता? हमे केवल परमार्थ का ही चिन्तन करना चाहिए। (३) यदि सवृति और परमार्थ दोनो ही युगपद् स्थित है तो सवृति के दोषो से परमार्थ भी दूषित हो जाएगा। किन्तु ये सभी आपत्तियॉ निराधार है। (१) जिस प्रकार तत्व एक है उसी प्रकार सत्य भी एक है और वह है परमार्थ सत्य।[२७] सवृति सत्य लोक–व्यवहार को चलाने के लिए स्वीकार किया जाता है क्योकि अज्ञ जन इसी को परम्परा से मानते है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से यह बिलकुल असत्य है किन्तु पारमार्थिक सत्य व्यावहारिक दृष्टिकोण से असत्य नहीं है भले ही इस साधारण जीवन की सामान्य क्रियाओ मे लिप्त रहन क करण इसकी सत्यता का अनुभव न कर सके। (२) दूसरी आपत्ति भी निराधार है। सवृति के बिना परमार्थ के ज्ञान के लिए सवृति का अनावरण आवश्यक है और यह अनावरण उसके विवेचन द्वारा ही सभव है। यह हमारे लक्ष्य पर पहुँचने के लिए सीढी का काम करता है।[२] इसलिए सवृति को उपायभूत और परमार्थ को उपेयभूत सत्य कहा गया है। यह पूर्ण सत्य भले ही न हो किन्तु पूर्ण सत्य की ओर सकेत करने मे सक्षम

है।[29] (३) अन्तिम आपत्ति भी निराधार है। परमार्थ सवृति द्वारा किसी भी प्रकार प्रभावित नही होता। यह न ता सवृति द्वारा सीमित होता है और न निर्धारित। इनका निर्वचन केवल आभिप्रायिक है।

शून्यता पर निम्नलिखित आक्षेप किये गये है–

(१) माध्यमिक विधि उच्छेदवाद का प्रतिपादन करती है। वस्तुत ताकिक भाववादिया ओर प्राचीन भौतिकवादियो की दृष्टि से भिन्न नहीं है जिनका लक्ष्य तत्त्व–दर्शन ओर धम का उन्मूलन है।

(२) सभी सिद्धान्तो का खण्डन करने वाली शून्यता स्वत एक दृष्टि है। इसके द्वारा एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है। अत इसके खण्डन के लिए एक नये सिद्धान्त की आवश्यकता हे। इस नय सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए एक अन्य नये सिद्धान्त की आवश्यकता पडेगी। इस प्रकार यह अनवस्था–दोष–ग्रस्त है।[3]

(३) यह तर्क शास्त्र के अनन्य नियम[31] का उल्लघन करती है। किसी विकल्प को अस्वीकार या स्वीकार करने से उसका विपक्षी विकल्प स्वाभाविक रूप से स्वीकृत या अस्वीकृत हो जाता है। उदाहरण के लिए गति के खण्डन से स्थिति का अस्तित्व सहज ही सिद्ध हो जाता है।

(४) सभी धर्मो के अस्तित्व को अस्वीकार करने वाली शून्यता स्वत असत्य है क्योकि यदि ससार मे सभी वस्तुए असत्य है तो वे तर्क भी असत्य है जो शून्यता को प्रतिपादित करने के लिए दिये जाते है। और यदि वे असत्य नहीं है तो वे शून्यवाद के विरुद्ध जाते है।

(५) शून्यवाद अपना पक्ष प्रतिपादित करने के लिए स्वत कोई प्रमाण नहीं रखता। किन्तु क्या बिना प्रमाण के समीक्षा सभव है?

(६) माध्यमिक नय तार्किक विधि के रूप मे ठीक भले ही हो किन्तु इसमे उस दुर्भावना की गन्ध आती है जो उस प्रवृत्ति का सूचक है जिसे दूसरो मे अच्छाई नाम की कोई वस्तु ही नही दिखाई पडती।

माध्यमिक के अनुसार ये सभी आक्षेप निराधार है–

(१) शून्यता से उच्छेद या पूर्ण विनाश का अर्थ लेना माध्यमिक नय का अनर्थ करना है। माध्यमिक दार्शनिको ने उच्छेदवादियो को स्वय नास्तिक कहकर भर्त्सना की है और कहा है कि हमारा वाद नास्तिकवाद नही है। नास्तिकवाद हमारे नाम मात्र से कॉप उठता है।[32] भगवान् बुद्ध स्वय कहते है कि हे काश्यप।[33] शून्यता को नितान्त अभाव रूप मे समझने की अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छा है

कि सुमेरु पर्वत के बराबर जीव–दृष्टि मानी जाये। इसी प्रकार लकावतारसूत्र मे भगवान बुद्ध सुभूति से स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि शून्यता का अर्थ मात्र असत नही। जो व्यक्ति सवशून्यता का प्रतिपादन करते हुए शून्यता का अस्तित्व मानता है वह आत्मघाती नास्तिक है।[34] समाधिराजसूत्र म यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि अस्तित्व और नास्तित्व शुद्धता और अशुद्धता आदि बुद्धि–प्रलाप है। मध्यमा प्रतिपत या मध्यम मार्ग इन दोनो का अतिक्रमण करता है साथ ही अपना भी अतिक्रमण करता है।[35] वस्तुत यह अद्वय शिव तत्व है जिसकी अनुभूति बुद्ध जना द्वारा ही हा सकती है किन्तु इसका विवेचन व्यवहार द्वारा ही सभव है। जिस प्रकार एक म्लेच्छ को काई बात समझाने के लिए उसकी भाषा का उपयोग करना पडता है उसी प्रकार तत्व का बोध कराने के लिए तर्क और भाषा के स्तर पर उतरना पडता है।[36]

तार्किक भाववादी और माध्यमिक नय की निषेधमूलक और खण्डनात्मक विधि मे वाह्य साम्य भले ही हो किन्तु दोनो के लक्ष्य परस्पर विरुद्ध है। तार्किक भाववादी तत्त्व दर्शन को पूर्ण रूप से निरर्थक और कोरा बकवास मानता है क्योकि उसके लिए केवल उन्ही तर्क–वाक्यो का महत्त्व है जिनकी सत्यता अनुभव द्वारा प्रमाणित की जा सके जैसे विज्ञान के। उसके लिए इन्द्रिय–प्रदत्त ही एक मात्र सत्य है। उस न तो परात्पर का ज्ञान है और न उसकी उपयोगिता का। वह भौतिकवादी है।[37] किन्तु माध्यमिक पूर्ण रूप से अध्यात्मवादी है। यह परम्परागत तत्त्व दर्शन का इसलिए खण्डन नही करता कि तत्त्व नाम की कोई चीज नहीं बल्कि इसलिए कि परम्परागत तत्त्व दर्शन अपनी दोषपूर्ण विधि द्वारा तत्त्व को अनुभवमूलक वृत्तियो के आधार पर गलत समझता है। वह बुद्धि की कोटियो को अवैध ढग से असीम और निष्प्रपच पर लागू करने का प्रयत्न करता है जो केवल प्रपच के लिए ही सत्य है। अत तत्व की शुद्धता को यथावत रखने के लिए माध्यमिक ने परम्परागत तत्त्व दर्शन के दावो का खण्डन किया।[3] वस्तुत उसकी स्थिति काण्ट की सी है। जिन्होने बौद्धिक मनोविज्ञान बौद्धिक सृष्टि–विज्ञान तथा बौद्धिक धर्म–विज्ञान का इसलिए खण्डन नही किया कि उन्हे ईश्वर की सत्ता और आत्मा की अमरता तथा स्वतत्रता मे विश्वास नही था बल्कि इसलिए कि उन्हे उसे शुद्ध बुद्धि के अनधिकृत अतिक्रमण से बचाना था।[38]

(२) दूसरा आक्षेप भी निराधार है। शून्यता सिद्धान्तो की समीक्षा मात्र है। यह स्वय कोई सिद्धान्त नही है। यह केवल इस बात का ज्ञान है कि वह सिद्धान्त क्या है? उसका निरूपण कैसे हुआ है? यह एक नये सिद्धान्त का निरूपण नहीं है। इसका कार्य–व्यापार प्रकाश की भॉति है जो वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है कोई वस्तु जोडता या कम नही करता। इस बात की व्याख्या

करते हुए कि यह उस वस्तु मे कुछ जोडना नही जिसम इसका अपयाग किया जाता हे और न उस वस्तु से भिन्न कोई वस्तु है अष्टसाहस्रिका और अन्य ग्रन्था मे कहा गया है कि रूप शून्य हे और शून्यता रूप है।[४] इसी प्रकार वेदना सज्ञा और विज्ञान के लिए भी कहा गया है। यदि शून्यता उन वस्तुओ से भिन्न होती तो वे वस्तुये शून्य कदापि नही हा सकती।[१] नागार्जुन इस बात को स्पष्ट रूप से कहते है कि सभी दृष्टियो की शून्यता का प्रतिपादन लोगो को वस्तुओ की असारता का बोध कराकर उन्हे मुक्ति का बोध कराने के लिए किया जाता है किन्तु वे लाग असाध्य रोगी हे जो इसे ही दृष्टि मान लेते है[४२]। उनका यह कार्य वैसे ही हास्यास्पद है जैसे यदि किसी मॉगन वाले से कहा जाय कि हमारे पास कुछ नहीं है तो वह कहे कि वह कुछ नही ही द दीजिए।[३] नागार्जुन लोगो को सावधान करते हुए कहते है कि शून्यता को सावधानी से समझना चाहिए क्योकि इसका सम्यगज्ञान न होने पर ज्ञाता की वह दशा होगी जो उस मदारी की होती है जो साप को ठीक से नहीं पकडता।[४४] भगवान बुद्ध कहते है कि शून्यता का उपदेश सभी दृष्टियो से पिण्ड छुडाने के लिए किया जाता है किन्तु वह हतभाग्य है जो इसे भी एक दृष्टि मान लेता है।[४५]

(३) माध्यमिक के अनुसार तर्क शास्त्र द्वारा प्रतिपादित अनन्य नियम दोष पूर्ण है क्योकि प्रत्येक उदाहरण मे एक अन्य विकल्प की कल्पना की जा सकती है।[४६] सत और असत के बीच हम अनिश्चिति की कल्पना कर सकते है। इसी प्रकार भ्रमजन्य सर्प मे हम सत और असत कोइ भी विश्लेषण नही लगा सकते क्योकि उसका अस्तित्व ही नहीं है। यह नियम विचार के नियमन के लिए है किन्तु हमारे सामने यह प्रश्न है कि क्या स्वत विचार मे यह क्षमता है कि वह तत्व को जान सके। वह तो केवल अपनी आन्तरिक व्यवस्था तक ही सीमित है यदि वैद्य भी हो तो वह केवल विचार के क्षेत्र मे प्रयोज्य है। किन्तु विचार का तत्त्व से क्या सम्बन्ध है इस तत्त्वदार्शनिक प्रश्न के विषय मे वह अप्रासगिक है।[४७]

(४) यह आक्षेप भी निराधार है। माध्यमिको के अनुसार शून्यता का अर्थ पूर्ण अभाव नही बल्कि प्रतीत्य समुत्पाद या सापेक्षता है।[४] वह यह नहीं कहता कि केवल हमारे तर्क सही है बाकी सबके तर्क गलत है। वह तो यह कहता है कि तर्क ही असत्य है। जब हमारा कोई वाद ही नही तब उसको सिद्ध करने के लिए शब्दो और तर्को की क्या आवश्यकता है? तब हमारे ऊपर यह आक्षेप करना कहॉ तक उचित है?[४९] किन्तु व्यवहार मे हम तर्को की सत्यता पर विश्वास करते है क्योकि बिना व्यवहार के परमार्थ का उपदेश भी नही हो सकता।[५]

(५) यह आक्षेप भी ठीक नहीं। यदि हम यह माने कि पदार्थो क अस्तित्व की सिद्धि प्रमाणा द्वारा हाती है तो पहले हमे यह सिद्ध करना चाहिए कि प्रमाणो की सिद्धि कैसे होती है? यदि एक प्रमाण की सिद्धि अन्य प्रमाण द्वारा हो तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा और प्रमाणो की सिद्धि के बिना प्रतिपक्षी का वाद नष्ट हो जायगा। प्रमाण की सिद्धि प्रमेय द्वारा भी नही की जा सकती क्योकि प्रमेय स्वय अपनी सिद्धि के लिए प्रमाण पर निर्भर है। यदि दोनो को एक दूसरे का कारण मान तो अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होगा। प्रमाणो की सिद्धि अहैतुक भी नही मानी जा सकती। अत प्रमाणा का प्रामाण्य न तो स्वत सिद्ध है न अन्य प्रमाणो द्वारा सिद्ध किया जा सकता है न प्रमेया द्वारा सिद्ध किया जा सकता है और न अकारण।[५१]

(६) अन्तिम आक्षेप भी समीचीन नही है। माध्यमिक नय खण्डन नहीं है। यह बुद्धि के सामर्थ्य की समीक्षा है। खण्डन मे भले ही हम अपने विरोधी के मत का खण्डन कर अपने मत को स्थापित करने का प्रयत्न करते हो किन्तु समीक्षा मे तो बुद्धि स्वत अपनी ही क्षमताओ और सीमाओ की परीक्षा करती है। यहॉ बुद्धि अभियुक्त और न्यायाधीश दोनो के ही कार्य–व्यापार का सम्पादन करती है। अत माध्यमिक नय किसी दुर्भावना से ग्रस्त नही है बल्कि यह दृष्टिवाद के विकल्प–जाल वाग्जाल और आवरण से मन को विशुद्ध करने की आध्यात्मिक प्रेरणा से उत्प्रेरित है। इसीलिए कहा जाता है कि भगवान बुद्ध ने शून्यता–रूपी अमृत का उपदेश सभी विकल्प–दृष्टियो के विनाश के लिए दिया।[५२]

कुछ दार्शनिको ने शून्य के स्वभाव को लेकर निम्नलिखित टिप्पणियॉ की है।

प्रो० यशदेव शल्य का कथन है कि सर्वशून्यता को अवधार्य कहना वदतोव्याघात होगा किन्तु एक–एक कर सब वस्तुओ और सम्बन्धो की शून्यता देखी जा सकती है और इससे सर्वशून्यता निष्कृष्ट की जा सकती है। किन्तु इस प्रकार एक–एक का विभिन्न वस्तुओ की शून्यता की सिद्धि से सर्व की शून्यता सिद्ध नहीं की जा सकती क्योकि एक तो प्रत्येक वस्तु का निरुपण असम्भव है और दूसरे प्रत्येक और सर्व ये समान नहीं है। यदि जगत् की प्रत्येक वस्तु शून्य नही हो क्योकि एक–एक जगत की जब वस्तुए जगत के लिए आगतुक है और उनमे नहीं होने से जगत के सत्त्व या तत्त्व मे अतर नही पडता। उदाहरणत जगत को हम चित का जगद्भाव कह सकते है किन्तु इससे घट–पट आदि के निर्माण के कारण–कार्यभाव को या अग्नि जल आदि के कारण–कार्य–नियमो को चित् का अग्निभाव या जल भाव नहीं कह सकते हैं।[५३] डॉ हर्षनारायण

जी की एक अत्यन्त सूझपूर्ण प्रपत्ति पर विचार उद्‌बोधन होगा। वे नागार्जुन की हेगल से तुलना और भेद करते हुए कहते है कि नागार्जुन हेगल के समान केवल तर्कसगत को ही सत मानते है किन्तु उनक अनुसार कुछ तर्क सगत ही नही है इसलिए कुछ सत भी नहीं है।

२ नागार्जुन मे एक दूसरी आधार भूत कठिनाई यह है कि वे प्रखर तार्किक और सूक्ष्म विचारक होते हुए भी तर्क और विचार मे अपने स्वरूप पर विचार नहीं करते। उदाहरण वे अग्नि मे दाहकता का निषेध करते है जबकि अग्नि स्पष्टत दाहक है। यह कहा जा सकता है कि वे वास्तव मे यह कहना चाहते है कि यद्यपि अग्नि दहन करती है किन्तु अग्नि की दाहकता तर्क–विरुद्ध युक्ति विरुद्ध आत्म बाधित है। किन्तु यह कहने पर प्रश्न उठेगा कि यह दोष विचार का है या कि इन्द्रिय का या कि अग्नि का? भारतीय दर्शन मे उन सम्प्रदायो का जो वस्तुस्थिति को इस प्रकार देखते है सामान्यत उत्तर है कि यह दोष विचार का है हेगल का उत्तर है कि यह दोष इन्द्रिय का है किन्तु नागार्जुन का उत्तर है कि यह दोष अग्नि का है। किन्तु नागार्जुन की कठिनाई यह है कि वे स्वय तर्क को भी तर्क सिद्ध प्रदर्शित करते है और उसी प्रकार की युक्तियो से जिस प्रकार की युक्तियो का प्रयोग वे भौतिक वस्तुओ की अतर्कसम्मता प्रदर्शित करने के लिए करते है नागार्जुन वस्तुओ के स्वभाव का निषेध उनकी अतर्क सम्मता के आधार पर ही करते है इस कारण उनकी अतर्क सम्मता से उनकी निस्स्वाभावता सिद्ध होती है। किन्तु नागार्जुन केवल व्यावहारिक वस्तुओ की ही सस्वभावता का निषेध नही करते।[५५] वे निर्वाण तथता और प्रज्ञापारमिता की भी सस्वभावता का निषेध करते है और तर्क के आधार पर ही जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये वस्तुए (तत्त्व) भी तर्क मूलक है और तर्क सबके स्वभाव की कसौटी है स्वय अपने स्वभाव सहित।[५६]

प्रोफेसर यशदेव शल्य शून्यता पर अपने विचार व्यक्त करने के बाद प्रोपफेसर शेरवात्स्की और प्रो० टी० आर० वी० मूर्ति के विचारो का विवेचन करते है। प्रोफेसर शल्य के अनुसार इस बात पर एक मत है कि नागार्जुन सर्व निषेधवादी नही है अपितु अतिकान्त भाववादी वस्तुवादी है। श्चर्बारस्की ने तो यहॉ तक दावा किया है कि नागार्जुन बुद्ध के धर्मकाय को परमार्थ सत के रूप मे स्वीकार करते हैं जो वेदान्त के ब्रह्म से अभिन्न स्वरूप है। किन्तु प्रोफेसर यशदेव शल्य टी० आर० वी० मूर्ति और शेरवात्स्की के विचार से सहमत नही है उनके अनुसार शेरवात्स्की और मूर्ति ने किस प्रकार अपने विचार का नागार्जुन पर बर्बस अध्यारोप किया है इसके उदाहरणस्वरूप हम उनकी पुस्तको से एक–एक उद्धरण देगे। शेरवात्स्की नागार्जुन के निर्वाण की व्याख्या करते हुए कहते हैं– विश्वविषयक अपनी अद्वैतवादी अवधारणा के अनुरूप ही नागार्जुन का यहाँ

कहना है कि परमार्थ और व्यवहार मे कोई अन्तर नही है। विश्व अपनी समग्रता मे परमाथ है और वही प्रक्रिया के रूप मे देखे जाने पर व्यवहार है। नागार्जुन कहते है कि– कारण कार्य परम्परा के रूप मे दखे जाने पर जो विश्व व्यवहार जगत है वही कारण काय परम्परा से निरपेक्ष देखे जाने पर निर्वाण है।[७]

चन्द्रकीर्ति इसका अर्थ इस प्रकार करते है– यह आजवजौ वीभाव जन्म–मरणपरम्परा कभी हेतु–प्रत्ययसामग्री का आश्रयण कर प्रज्ञप्त होती है– ह्स्व–दीर्घ के समान कीाी उत्पद्यमान रूप मे प्रज्ञप्त होती है– बीजाकुर के समान। किन्तु निर्वाण अप्रवत्तिमात्र या भावाभाव के रूप मे कल्पनीय नही है। यही बात प्रो० टी० आर० वी० मूर्ति के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। उदाहरणत उन्होने निम्नलिखित कारिका द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि नागार्जुन आत्मा के अस्तित्व का निषेध नही करते।

एव नान्य उपादानान्न चोपादानमेव स
आत्मा नास्त्यनुपादान नापि नास्त्येव निश्चय ।[८]

इस कारिका मे स्पष्टत आत्मा के अनस्तित्व कथन का निषेध प्रतिपादित प्रतीत होता है। जिसमे उनका प्रतिपाद्य प्रो० जी० सी० पाण्डेय के अत्यन्त सम्यक अनुवाद मे निम्न प्रकार है–

यदि आत्मा स्कन्धो से भिन्न है तो वह उत्पत्ति विनाशशील हो जायेगा। यदि आत्मा स्कन्धो से भिन्न है तो विज्ञानादि स्कन्ध लक्षणो से रहित हो जायेगे। आत्मा के अभाव मे आत्मीय का अभाव अनिवार्य है। आत्मा और आत्मीय का अपयश होने पर योगी निर्मम एव निरहकार पुरुष की भी वास्तविक सत्ता नही है। जो उसे विद्यमान मानता है वह अविद्या मे पडा है। अहम एव (यम) के क्षीण होने पर पुनर्जन्म क्षीण हो जाता है। कर्म एव क्लेश के क्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्म एव क्लेश विकल्प से उत्पन्न होते है। तथागत ने कही आत्मा का उपदेश किया है। कही अनात्मा का कही आत्मा एव अनात्मा दोनो का प्रतिवेध किया है। यह उनका उपाय कौशल है। चित्त गोचर के नितत्त होने पर समस्त अभिधेय भी निवृत्त हो जाता है अर्थात् परमार्थ अवाङमनसगोचर है। धर्मता निर्वाण के समान अनुत्पन्न एव अनिरुद्ध है। बुद्ध का अनुशासन यह है कि सब तथ्य है सब अतथ्य है तथ्य एव अतथ्य दोनो है तथा वस्तुत न तथ्य है न अतथ्य है। तत्व का लक्षण यह है कि वह निरपेक्ष शान्त निष्प्रपञ्च निर्विकल्प तथा नानात्व रहित है। जो कुछ सापेक्ष है उसका अपना स्वभाव नही है न उसका परभाव हो सकता है।

यहॉ नागार्जुन ने दृष्टि अथवा कहे सर्वदृष्टि त्याग की ही बात की है जिसकी आवृत्ति ही हमे मध्यमकशास्त्र के २७वे एव अन्तिम प्रकरण मे मिलती है। इस अध्याय (प्रकारण) की १३वी एव १४वीं कारिका मे इसका स्पष्ट कथन है जो इस प्रकार है–

एव दृष्टि रतीते वा नाभूमहमभूमहम

उभय नोभय चेति नैषा समुपद्यते।

अध्वन्यनागते कि नु भविब्यामिति दर्शनम

न भविष्यामि चेत्येतदतीतेनाध्वना समम¹।।

प्रोफेसर जी० सी० पाण्डे का उपर्युक्त मत शेरवात्स्की एव प्रो० मूर्ति के समान नागार्जुन को किसी चित्सत का प्रतिपादक नही कहते हुए भी उसे नितान्त निषेधवादी भी नही कहते। उनके अनुसार मनस (चित) विषयिता एव विषयता के किसी भी चिन्ह से रहित है और व्यक्तियो विषयियो एव विषयो का सम्पूर्ण ससार पूर्णत काल्पनिक है। मनस तथा इसकी परिशुद्धता के स्वरूप का किसी भी प्रकार से निर्धारण दुस्साध्य है। इसे पूर्ण रिक्तता अथवा मात्र शून्यता से पृथक करना कठिन है सिवाय यह कहने के कि यह मात्र नकारात्मकता नही है और कि यह अययार्थ अथवा मिथ्या को प्रगट करने की सम्भावना से गर्भित है। किन्तु एक शून्यता भी शुद्ध नकारात्मकता नही है और यह सब वस्तुओ को व्यात मानी गयी है– शून्यता एव एव शून्यता। पाण्डे जी इसे आगे और स्पष्ट करते हुए कहते है कि– यदि शून्यता अनस्तित्व नही है और जगत व्यवहार के सत्य का निषेध नहीं करती और यदि यह अनन्त नकारात्मकता नही है तो इसे शकर के अद्वैततत्व का नामातर मात्र भी नही कहा जा सकता।

यहॉ प्रथम उद्धरण का प्रारम्भिक वाक्य द्रष्टव्य है। इसमे शून्यवाद विज्ञानवाद से अभिन्न हो गया है। किन्तु आगे जाकर पाण्डे जी शून्य को रिक्तता से समीकृत कर शून्यवाद के वास्तविक मन्तव्य के निकट आते है। किन्तु इस विवेचन के अनन्तर वे पुन उसे इतना अधिक अन्तर्गर्भ बना देते है कि शकर भी उसके सम्मुख निषेधवादी प्रतीत होने लगते है क्योकि यदि कल्पना जगत शून्य की अन्त शक्ति से उदभूत या प्रकट होता है तो शून्य वास्तव मे काश्मीर शैव दर्शन के शक्तिमय और प्रकाश–विमर्शात्मक शिव का ही नामान्तर हो जाता है। किन्तु नागार्जुन न केवल ऐसा कुछ कहते नही है बल्कि उनके प्रतिपादन से ऐसा कुछ बहुत क्षीण रूप से भी ध्वनित तक नही होता है कि वे व्यवहार जगत को किसी प्रकार की सृजनात्मक कल्पना से जनित मानते हैं उनका कल्पना शब्द का प्रयोग केवल जगत् के मिथ्यात्व का ही वाचक है।

डॉ० सी० एल० त्रिपाठी प्रोफेसर यशदेव शल्य प्रो० जी० सी० पाण्डे के मत से सहमत नही है। उनके अनुसार ये विद्वान दुराग्रह से ग्रस्त है कि बौद्ध शून्यवाद और वैदिक अद्वैतवेदान्त के परम तत्व मे अवश्य अन्तर होना चाहिए। वे इस बात को भूल जाते हैं कि बौद्ध शून्यवाद और अद्वैत वेदान्त का उत्स उपनिषद ही है और देशकाल के भेद के कारण तथा तत्वनिरूपण की अपनी लिपि शैली के कारण ये दोनो सम्प्रदाय

भले ही भिन्नता प्रदर्शित करते हो किन्तु उन दोनो का परम तत्व एक ही जैसा है। नागार्जुन के शून्यता का अभाव या मात्र रिक्तता मानना भगवान बुद्ध की देशज का समूल उच्छेद करना है। जबकि बुद्ध स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि हिमालयवत अस्तिकाय दृष्टि शाश्वत कार स्वीकार है किन्तु कोई भी असत काय उच्छद वाद नही। क्योकि प्रथम से यह आशा की जा सकती है कि कभी बौद्ध देशज समझ सकता है किन्तु उच्छेदवादी की राई भर की विनाशक दृष्टि अन्ततोगत्वा उसे नष्ट कर देगी। नागार्जुन स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि यदि आपने शून्यता को ठीक से न समझाकर उसे मात्र अभाव या रिक्तता माना तो वह आज का वैसे ही विनाश कर देगी जैसे सपेरे को ठीक से न पकडा गया साप नष्ट कर देता है। वस्तुत शून्यता अपरम तत्व अथवा ब्रह्म अवाडमनस गोचर है वह विधि निषेध की कोटियो से सर्वथा परे है और मात्र प्रज्ञा या दिव्यानुभूति का विषय है।

उत्पाद करता है या अनुत्पन्न रहकर ही? उत्पन्न उत्पाद को अपर से क्या प्रयोजन? अनुत्पन्न उत्पाद अपना उत्पाद करेगा कैसे?

उत्पाद किसी दूसरे उत्पाद से उत्पन्न होता है कि स्वत? यदि हम प्रथम विकल्प स्वीकार करते है तो इस उत्पाद के उत्पादक उत्पाद को अपने उत्पाद के उत्पादक उत्पाद की अपेक्षा होगी और इस प्रकार अनत क्रम उत्पन्न होगा यदि उत्पाद की उत्पत्ति अन्य वस्तुओ के उत्पाद के विपरीत स्वत ही होती है तो दूसरी सब वस्तुए भी स्वत ही उत्पन्न हो सकती है।[५]

सदर्भ

१ समन्ताद् वरण सवृत्ति। अज्ञान हि समन्तात् सर्वपदार्थ तत्त्वावच्छादनात सवृति रित्युच्यते।
— वही प्रसन्नपदा पृ० २१५

२ परस्पर सभवन वा सवृतिरन्योन्य समाश्रयेण

३ अथवा सवृति सकेतो लोकव्यवहार ।।— वही।

४ व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।— मूलमाध्यमिककारिका २४/१०

५ एक जगह प्रश्न पूछने पर कि क्या हम धर्मो के अस्तित्व का अनुभव नहीं करते नागार्जुन ने यह उत्तर दिया— हॉ वैसे ही जैसे कोई अन्धा भिक्षु अपने भिक्षापात्र मे बाल का दर्शन करता है। वस्तुत वह उसे नहीं देखता क्योकि न तो बाल का ही अस्तित्व है और न उसके ज्ञान का ही। फिर यदि वह उस बाल के अस्तित्व का हठ करे तो उसे दूर नहीं किया जा सकता क्योकि जिस दृष्टि द्वारा उसके बाल सम्बन्धी मिथ्या ज्ञान को मिटाया जा सके वह दृष्टि उसमे है ही नहीं (इडियन फिलॉसफी भाग १ पृ० ६४२)। नागार्जुन इस विचार की पुष्टि मे बुद्ध—वचन को उद्धृत करते हुए कहते है कि स्त्री पुरुष जीवन सवेदनशील प्राणी या आत्मा आदि कुछ भी नहीं। जितने भी धर्म हैं वे सभी स्वप्न गल्प और जल मे चन्द्र—प्रतिबिम्ब की भॉति असत् है। (वही पृ० ६५६)

६ मूलमाध्यमिककारिका ८/१२

७ वही १०/१६

८ वही १७/६

६ माध्यमिककारिकावृत्ति पृ० ११६ दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म पृ० २४६

१० सामान्यत बौद्ध लोग दो ही प्रमाण मानते है किन्तु माध्यमिक नैयायिको की भॉति चार प्रमाणो (प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द) मे विश्वास करते हैं। –वही पृ० ७५, दि सेट्रल फिलॉसफी आव बुद्धिज्म पृ० २५०

११ दो सत्यो का सिद्धान्त बुद्ध अथवा माध्यमिको ने नहीं प्रतिपादित किया। यह उनके बहुत पहले उपनिषदो मे भी प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्म को सत्यस्य सत्यम और एकमात्र सत्य कहा गया है। सत्यस्य सत्य प्राणा वैव सत्यम् तेषामेष सत्यम् (बृहदारण्यक २/३/६)। इद सर्वं यद् अयमात्मा न तद्द्वितीयमस्ति यद् तद् विभक्त पश्येत। नेह नास्ति किचन यत्र नान्यत् पश्यति। इसी प्रकार आभिधार्मिक ग्रन्थों मे भी दो प्रकार के सत्य माने गये हैं विभिन्न धर्मो का मूल–तत्व जो प्रज्ञा का विषय है और प्रज्ञप्ति सत । (देखिये दि सेण्ट्रल फिलॉसफी आव बुद्धिज्म पृ० २४३)। माध्यमिको को इस बात का श्रेय है कि उन्होने इसे सुसम्बद्ध ढग से प्रतिपादित किया यद्यपि नागार्जुन के बहुत पहले अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सद्धर्मपुण्डरीक समाधिराज और लकावतार सूत्र मे इसका विशद वर्णन है। सवृति के विवेचन के लिए देखिये बोधिचर्यावतार ६/३–४

१२ द सेण्ट्रल फिलॉसफी आव बुद्धिज्म पृ० २५४

१३ य पुन परमार्थ सोऽनभिलाप्य अनाज्ञेय अपरिज्ञेय अदेशित अप्राशित–पितापुत्रसमागम।
– वही पृ० २४४ पर उद्धृत।

१४ कुतस्तत्र परमार्थे वाचा प्रवृत्ति कुतो वा ज्ञानस्य।
माध्यमिककारिकावृत्ति पृ० ४६३ वही पृ० २४४

१५ स हि परमार्थोऽपरप्रत्यय शान्त प्रत्ययात्मवेध आर्याणासर्वप्रपचातीत । – वही।

१६ शून्यता तथता भूतकोटि धर्मधातु रित्यादि पर्याया ।
बोधिचर्यावतार पजिका पृ० ३५४ वही।

१७ मध्यामार्थसग्रह २ वही पृ० २४७

१८ वही ३ ४ ५, ६

१६ वही पृ० २५

२० अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ० ४५३ ४७६–४७७ ए क्रिटिकल सर्वे आव इण्डियन फिलासफी पृ० ६५

२१ वही पृ० २३

२२ वही पृ० २३६

२३ वही पृ० २६०–६१ ३६६–३६७

२४ वही पृ० २८७–२८८

२५ वही पृ० १८१

२६ श्लोकवार्तिक निरालम्बनवाद ६७

२७ एकमेव भिक्षव परम सत्यम यदुताप्रमोषधर्मं निर्वाणम। सर्वसस्काराश्च मृषा मोष धर्माण इति। — माध्यमिककारिकावृत्ति पृ० ४१ वस्तुतस्तु परमार्थ एव एक सत्यम। — बोधिचर्यावतारपजिका पृ० ३६२

२८ तथ्य सवृति सोपानम अन्तरेण विपश्चित ।

तत्वप्रासाद–शिखरारोहण नहि युज्यते।।

हरिभद्रकत अभिसमयालकारालोक पृ० १५० पर उद्धृत।

२६ बोधिचर्यावतार ६/६–१०

३० द सेण्ट्रल फिलॉसफी आव बुद्धिज्म पृ० १६०

३१ ला आव दि एक्सक्ल्यूडेड मिडिल। इसे मध्यदशा–निषेधक–नियम भी कहते है।

३२ चतु शतककारिका २८६

३३ वर खलु काश्यप! सुमेरु मात्रा पुद्गलदृष्टिराश्रिता नत्वेवाभावाभिनिवेशिकस्य शून्यता दृष्टि । — रत्नकूटसूत्र सौगतसिद्धान्तसारसग्रह पृ० ३४

३४ लकावतारसूत्र मे सात प्रकार की शून्यता का प्रतिपादन किया गया है। उनमे से पूर्ण अभाव का प्रतिपादन करने वाली शून्यता को सर्वजघन्या कहकर तिरस्कृत किया गया है।

३५ अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता।

सुद्धी असुद्धीति इमेऽपि अन्ता।।

तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा।

मध्येऽपिस्थान न करोति पडित ।।

समाधिराज ६/२८ द सेण्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म पृ० १२६ पर उद्धृत।

३६ चतु शतककारिका १६४

३७ द सेण्ट्रल फिलॉसफी आव बुद्धिज्म पृ० ३३२

३८ वही पृ० ३३३

३६ वही पृ० ३३२

४० रूप शून्य शून्यतथैव रूपम्।

४१ न च शून्यता भावाद्व्यतिरिक्त भावस्येव तत्स्वभावत्वात्। अन्यथा शून्यताया भावाद् व्यतिरेके धर्माणा नि स्वभावता न स्यात्। –बोधिचर्यावतारपजिका पृ० ४१६–४१७ द सेण्ट्रल फिलॉसफी आव बुद्धिज्म पृ० १६२

४२ शून्यता सर्वदृष्टीना प्रोक्ता नि सरण जिनै ।

येषा तु शून्यतादृष्टिस्तान् साध्यान् बभासिरे।।

मूलमाध्यमिककारिका १३/८

४३ यो न किचिदपिपण्य दास्यामित्युक्त स चेत् देहि भोस्तदेव मह्य न किचिन्नाम पण्यम इति ब्रूयात् स केनोपायेन शक्य पण्याभाव ग्राहयितुम। — माध्यमिककारिकावृत्ति पृ० २४७–२४८ द सेण्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म पृ० १६३ पर उद्धृत।

४४ मूलमाध्यमिककारिका २४/११

४५ शून्यता नि सरणम। यस्य खलु पुन शून्यतैव दृष्टिस्तमहमचिकित्स्यम इति वदामि। – रत्नकूटसूत्र सोगत सिद्धान्तसारसग्रह पृ० ३५ पर उद्धृत।

४६ द सेण्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म पृ० १४७

४७ वही पृ० १४८

४८ विग्रहव्यावर्तिनीकारिका २२ ६७

४९ यदि काचन प्रतिज्ञा स्यान मे तत एव मे भवेद्दोष ।
नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान नैवास्ति मे दोष ।। – वही कारिका २६

५० सव्यवहार च वय नाभ्युपगम्य कथयाम – मूलमाध्यमिककारिका २४/१०

५१ विग्रहव्यावर्तिनीकारिका ३२–५२

५२ सर्वसकल्पप्रहाणाय शून्यताऽमृत देशना। – द सेण्ट्रल फिलॉसफी आव बुद्धिज्म पृ० १४६ तथा
सर्वदृष्टिप्रहाणाय य सद्धर्ममदेशयत।
अनुकम्पामुपादाय त नमस्यामि गौतमम।।
मूलमाध्यमिककारिका २७/३०

५३ वही पृष्ठ – ६५

५४ वही पृष्ठ – ६६

५५ वही पृष्ठ – ६७ यशदेव शल्य

५६ वही पृष्ठ – ६७

५७ वही य आजवजवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा
सोऽप्रीयानुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते। –माध्यमिक कारिका – २५६

५८ मध्यमक शास्त्र २७८।

५९ मध्यमक शास्त्र ११३–१४।

अध्याय—८

निर्वाण और शून्यता

१ निर्वाण

बौद्ध चिन्तन—परम्परा मे मानव की चरम उपलब्धि निर्वाण का अधिगम है। सरित्प्रवाह की सागरोन्मुखता की भॉति भगवान बुद्ध के समस्त उपदेश निर्वाण—निम्न निर्वाण—प्रवण तथा निर्वाण—प्राग्भार है। शील समाधि प्रज्ञा तीन पदो से युक्त उनकी साधना उस ऋजु रेखा सी है जिसके आदि बिन्दु पर आर्यसत्य रूप से गृहीत दु ख तथा अपर बिन्दु पर निर्वाण है। दु खाभितप्त मानव इस साधनापथ मे प्रवृत्त हो। शील के परिपालन समाधि की भावना एव प्रज्ञा के साक्षात्कार पुरस्सर ब्रह्मचर्यवास के सफल पर्यवसानभूत निर्वाण का अधिगम कर परम सुख की अनुभूति करता है।

ब्रह्मचरिय निब्बान परायन निब्बानपरियोसानम।[१]

बौद्ध दर्शन के प्राचीनतम साहित्य पिटक ग्रन्थो के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि यह बुद्धवचन का सार तत्व है। यह चित्त की प्रत्यात्मवेद्य अवस्था है जो हानिरहित अभय शान्ति शीतल प्रणीत तथा सुखद है। भगवान् बुद्ध के ये वचन है कि निब्बान परम सुख[२] निब्बान परम पद[३] निब्बानसुखा पर नत्थि[४] फस्सा अमत पद[५] दमति पीति पामोज्ज अमत त विजानत[६] सीतिभूतोम्हि निब्बनो आदि इस तथ्य की ओर सकेत करते है कि सुखरूप तथा भावरूप है। यह निर्वाण अजात अभूत अकृत तथा असस्कृत है। यदि इसका यह स्वरूप न हो तो जात भूत कृत तथा सस्कृत धर्मो का निस्सरण न हो। यह अज अभूत अकृत तथा सस्कृत रूप मे है इसीलिए जात भूत कृत तथा सस्कृत धर्मो का निस्सरण है[७]। यह वैसा आयतन है जहॉ न पृथ्वी न जल न अग्नि न वायु न लोक न परलोक न चन्द्र सूर्य है। यहॉ न अगति है न गति है न स्थिति है और न च्युति है। यह ध्रुव निस्प्रपच शान्त प्रणीत शिव तथा परम शुद्ध है।

सयुक्त निकाय मे इस का निम्नलिखित रूप मे वर्णन है– सब सस्कत और असस्कृत वस्तुआ मे वर्त्मच्छेद तृष्णाक्षय विराग निर्वाण अग्र है। निर्वाण अग्रधर्म द्वितीय रत्न अग्र प्रसाद शरण है यह राग द्वेष और मोह का क्षय है। हे भिक्षुओ! मै तुम को अन्त अनास्रव सत्य पार निपुण सुदुर्दर्श अजर ध्रुव अनिदर्शन निष्प्रपच सत अमृत प्रणीत शिव क्षेम आश्चर्य अद्भुत निर्वाण विराग शुद्धि मुक्ति अनालय द्वीप लेण त्राण परायण का निर्देश करूँगा[१०] थेरीगाथा मे निर्वाण के इसी रूप को स्वीकारा गया है। अजर हि विज्जमाने किन्तव कामेहि ये सुजरा। मरणव्याधिगहिता सस्बासस्बात्थ जातियो।। इदमजरमिदमर हृदमजरामरणपदमसोक।

असपत्त सबाध अखलितमभय निरुपताप।। अधिगतमिद बहूहि अमत अज्जापि च लभनीयम्मद।

यो योनिसो पयुञ्जति न च सक्का अघटमानेन।।[१]

असखतम च वो भिक्खवे देसिस्सामि असखतगामिच मग्गम अनासवच सच्च पर निपुन अजज्जरम ध्रुव सान्त अमत पनीत सिव खेम अभूत अन्तिकधम्म निब्बान दीप तान शरणम। इसके विषय मे यह सोचना भी गलत है कि तथागत का परिनिर्वाण विनाश है। भगवान बुद्ध ने इसे अव्याकृत प्रश्नो मे डालकर छोड दिया है।

हीनयान मे निर्वाण के दो भेद किए गए है। १ सोपधि शेष और २ निरुपधि शेष

१ सोपधि शेष– यह वह निर्वाण है जहॉ अविद्या राग आदि क्लेशो का पूर्णरूप से अन्त हो जाता है किन्तु उपधि (पचस्कन्ध) शेष रहता है।[११] यह वेदान्त और साख्य के जीवन्मुक्ति की अवस्था है जिसे महात्मा बुद्ध ने बोधिवृक्ष की छाया मे गया मे प्राप्त किया था। इस जीवन मे ही प्राप्त होने के कारण इसे दृष्टधर्मिक भी कहा जाता है।

एक ही धातु इध दिटठ धम्मिका
स उपादिसेसा भवनेत्ति सखया[१२]

(२) **निरूपधिशेष** इस अवस्था मे पञ्चस्कन्ध रूप वेदना सञ्ज्ञा सस्कार और विज्ञानके समूह का भी अन्त हो जाता है। दूसरे शब्दो मे मानव अथवा प्राणियो के दिवगत होने के बाद की यह अवस्था है।[१३] उदान और थेरगाथा मे इसका निम्नलिखित रूप मे निरूपण किया गया है–

अमेदिकायो निरोधि सञ्ञा
वेदना पितु दहसु सब्बा

वूपसमिस सरवारा

विञ्ञाणमत्थभगमा ति।।[१४]

असलीलेन कायेन वेदनामध्य वासयत

प्रद्योतस्येव निर्वाण विमोक्षस्तस्य चेतस ।।[१५]

(३) **अप्रतिष्ठित निर्वाण** यह महायान के बोधिसत्त्वो का निर्वाण है जो निर्वाण की अनुभूति करने के बाद भी निर्वाण का आनन्द लाभ नही करना चाहते। उनका यह सकल्प है कि जबतक एक भी प्राणी इस ससार मे सन्तप्त है तब तक वे उस का सन्ताप दूर करने के लिए इस ससार के तट पर स्थित रहेगे। इसका उल्लेख असग के महायान सूत्रालकार मे मिलता है।[१६]

प्रश्न उठता है कि क्या निरूपधिशेष निर्वाण या परिनिर्वाण जो आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य है न्याय वैशेषिक के मोक्ष या नि श्रेयस की भाति पाषाण खण्ड या शिला–शक्ल की भाति अचैतन्य और जड है। वैभाषिक दार्शनिको के अनुसार ससार कतिपय क्षणभगुर और विच्छिन्न (विवित्त) सस्कृत की क्रीडाभूमि है जिनमे अज्ञान अथवा अविद्यावश सत्काय दृष्टि बना लेते है और उन्हे एक शाश्वत द्रव्य–गुण की श्रृखला मे बाध लेते है और उनमे अनुराग करने लगते है जो दु ख (जरामरण) का उपादान बनते है । किन्तु अष्टागिक मार्ग का अनुसरण कर ज्ञान ससार और पुण्य ससार के फलस्वरूप प्रज्ञा का उदय होता है जिसके फलस्वरूप धर्मो मे सत्कायदृष्टि समाप्त हो जाती है और हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि यह जगत क्षणिक धर्मो का प्रवाह है। शाश्वत द्रव्य और उनके गुणो की सज्ञा नही है। [१७] इस प्रकार धर्मो के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है जो एक दूसरे से पृथक है। यही निर्वाण की अवस्था है[१] इस अवस्था मे यह बोध होता है कि जन्म प्रवाह क्षीण हो गया ब्रह्मचर्यवास पूर्ण कर लिया गया करणीय सम्पन्न कर लिए गए पुन यहॉ आगमन की बात नहीं रही।[१८]

इस प्रकार की निर्वाणावस्था क्या शून्य है का निर्वाण शश श्रृग की भॉति असत है या किसी परमार्थ का बोधक है।

पुसे ने इसका उत्तर स्वीकारात्मक रूप मे दिया है। उनके अनुसार निर्वाण आत्मा का अमृत तत्त्व है भहि–अभिज्ञा के अभ्यास से यह विश्वास उत्पन्न होता था कि आत्मा अमर है। धम्मपद त्रिपिटक आदि ग्रन्थो से यह मत प्रमाणित होता है।

इसके विपरीत शरवात्सकी इसे अभावमूलक मानते है। यह मृर्च्छा अचैतन्य या पाषाणवत जडता की अवस्था है। उनका कथन है कि सभी अभिव्यक्तियो का अन्त होने और सस्कारो के क्षीण हो जाने पर मात्र अचैतन्य निर्जीव शेष ही बचता है। यह निराकार (Impersonal) नित्य मरणावस्था है। यह साख्य की अव्यक्त प्रकृति के तुल्य नित्य निरपेक्ष मृत्यु है। विकास की एक दीर्घ कालीन प्रक्रिया के फलस्वरूप नैतिक नियम मानव को एक ऐसी परमशान्ति के धरातल पर पहुँचाता है जहॉ जीवन का अन्त हो जाता है और जो शेष बचता है वह मात्र जीवन शून्य अचैतन्य है। इस अर्थ मे वैभासिक की दृष्टि आधुनिक विज्ञान के भौतिक वाद जैसी है।[२] आचार्य नरेन्द्र देव भी शरवात्स्की की ही विचार धारा का समर्थन करते है। उनके अनुसार जब न्याय वैशेषिक आदि शास्त्रो मे प्रयुक्त अपवर्ग नि श्रेयस आदि की व्याख्या चैतन्यावस्था न करके अचेतनावस्था ही किया गया है तो सूत्रान्तो मे प्रयुक्त अमृत इत्यादि पदो की व्याख्याओ का एक भिन्न अथ लगाना उचित नहीं है। वे कहते है कि हम शरवात्स्की के मत से सहमत है क्योकि हमारी समझ मे नही आता कि जब बौद्ध धर्म अपने इतने लम्बे इतिहास मे निरन्तर पुद्गल नैरात्म्य और अनात्मवाद की शिक्षा देता रहा। तो यह कैसे माना जा सकता है कि भगवान बुद्ध ने निर्वाण की अवस्था को चैतन्य की शाश्वत अवस्था बताया था।[२१]

डॉ० राधाकृष्णन डॉ० नलिनाक्षदत्त प्रो० टी०आर०वी०मूर्ति और डॉ० सी० एल० त्रिपाठी पुसे के मत को ही अधिक समीचीन मानते है। परम्परा को लकीर मानकर चलना कम से कम एक वैज्ञानिक युग मे बिल्कुल ही ठीक नहीं। अर्हत् और बोधिसत्त्व की सारी साधनाओ का लक्ष्य क्या मात्र अभाव और जडता और मूर्च्छावस्था को ही प्राप्त करना था अथवा नित्य दिव्यानन्द की अनुभूति?

वस्तुत निर्वाण को पाषाणवत अचैतन्य अवस्था मानने वाले दार्शनिक बौद्ध धर्म की ध्वनि को ठीक से नही समझे। वैभासिक अथवा बौद्ध धर्म के किसी भी निकाय ने निर्वाण को कभी भी अभाव नही घोषित किया अपितु असस्कृत धर्म अनुपादान माना था जो सवृति जगत का निरपेक्ष पारमार्थिक आधार है। तथागत की मृत्यु के बाद की अवस्था मे निर्वाण को अभिन्न मानने के कारण कोई भी बौद्ध इसकी भावात्मक सत्ता को नकार नहीं सकता। हॉ यह वाणी और बुद्धि विकल्पो द्वारा वक्तव्य नहीं। यह अनभिकाव्य और अनिर्वचनीय है। इसे भाव नही कहा जा सकता क्योकि असस्कृत धर्म होने के फलस्वरूप यह सासारिक पदार्थों की भाति जरा जन्म मृत्यु की परिधि के परे है। यह अभाव भी नही है। दीपशिखावसान से इसकी

तुलना भले की गयी हो किन्तु यह मात्र भावनिवृत्ति नही है। वैभासिक का यह दृढ मत है कि निर्वाण मात्र अभाव नही है। यह वह धर्म है जहॉ सारे सस्कारो का अन्त हो गया है किन्तु स्वत यह भावात्मक सत्ता है।–

प्रद्योतस्येव निर्वाण विमोक्षस्तस्य चेतस। इत्युक्तम न च प्रद्योतस्य निवृत्तिर्भाव इत्युपथद्यते। उच्यते। नैतदेव विज्ञेय तृष्णाया क्षय तृष्णाक्षय इति। कि तर्हि तृष्णाया क्षयोऽस्मिन्निति निर्वाणाख्ये धर्मे सति भवति स तृष्णाक्षय इति वक्तव्यम। प्रदीपश्च दृष्टान्तमात्रम्। तत्रापि यस्मिन्सति चेतसो विमोक्षो भवतीतति वेदितव्यम इति[22]

नागार्जुन[23] कहते है कि निर्वाण भाव नही अन्यथा उसका जरामरण होगा। पुनश्च यदि निर्वाण भाव है तो वह सस्कृत होगा न कि असस्कृत जो किसी देश काल या सिद्धान्त मे भाव नही होता। फिर यदि निर्वाण भाव होगा तो अपने कारण सामग्रियो (हेतु प्रत्यय सामग्रियो) से उत्पन्न होगा जबकि निर्वाण अमरणधर्मा है। वह किसी से उत्पन्न नही होता। निर्वाण अभाव भी नही कहा जा सकता अन्यथा वह अनित्य होगा। क्योकि क्लेश जन्मादि का अभाव निर्वाण है। और यह सर्वविदित है कि निर्वाण की अनित्यता दृष्ट नही है। निर्वाण भाव और अभाव दोनो नहीं है। भगवान ने भव तृष्णा और विभव तृष्णा दोनो के प्रहाणके लिए कहा है। निर्वाण यदि भाव या अभाव है तो उसका भी प्रहाण होगा। यदि निर्वाण भाव और अभाव दोना है तो सस्कारो का आत्मलाभ और उनका नाश दोनो ही निर्वाण है। किन्तु सस्कारो को मोक्ष कोई नही कहता।

भावस्तावन्न निर्वाण जरामरणलक्षणम[24] भावश्च यदि निर्वाण निर्वाण सस्कृत भवेत।।

नासस्कृतो हि विद्यते भाव क्वचन कश्चन।।[25] प्रहाण च ब्रवीच्छास्ता भवस्य विभवस्य च।

तस्मान्न भावो नाभावो निर्वाणमिति युज्यतै।।[26]

नागार्जुन कहते हैं कि इसमे कोई सन्देह नहीं कि जन्ममरण परपरा हेतुप्रत्यय सामग्री का आश्रय लेकर चलती है जैसे प्रदीप– प्रभा या बीजाकुर। अत निर्वाण एक ऐसी अप्रवृति है जो जन्ममरण परपरा के प्रबन्ध का उपादान नहीं करती। वह अप्रवृत्ति मात्र है जिसे आप भाव या अभाव नही कह सकते।[27]

वस्तुत इस अवस्था मे चिन्तन की भाव और अभाव की कोटियो का अन्त हो जाता है। आर्य रत्नावली मे नागार्जुन ने स्पष्ट रूप से कहा है कि–

न चाभावोऽपि निर्वाण कुतो एवास्य भावना।
भावाभावपरामर्श क्षयो निर्वाणमुच्यते।।[28]

समाधिराजसूत्र मे नागार्जुन के इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है—

निर्वृत्ति धर्माण न अस्ति धर्मा
ये नेह अस्ती न ते जातु अस्ति।
अस्तीति नास्तीति च कल्पनावता
मेव चरन्तान न दु ख शाम्यति।।[36]

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि वैभासिक और नागार्जुन के निर्वाण सप्रत्ययो मे निम्नलिखित अन्तर है। वैभासिक मत के अनुसार निर्वाण की अवस्था मे सस्कृत धर्म असस्कृतधर्म का रूप ग्रहण करते है। नागार्जुन का कथन है कि निर्वाण की अवस्था वस्तुओ के स्वभाव मे तनिक भी परिवर्तन होता। यदि क्लेश वस्तुत वास्तविक होते तो उनको नष्ट नहीं किया जा सकता था। निर्वाण की अवस्था म वस्तुओ के विषय मे हमारे दृष्टिकोण मे परिवर्तन होता है न कि तत्त्व मे। वस्तुत निर्वाण रागादि के समान न तो प्रहीण (नष्ट) होता है और न प्रामाण्य के समान प्राप्त होता है न पचस्कन्धादि के समान उच्छिन्न (नष्ट) होता है और न सस्वभाव पदार्थो के समान नित्य होता है। यह स्वभावत अनिरुद्ध और अनुत्पन्न है।

स्वभावेन हि व्यवस्थिताना क्लेशाना स्कन्धाना च स्वभावस्यान पायित्वात कुतो निवृत्ति यतस्तन्निवृत्त्या निर्वाण स्यादिति? तस्मातस्वभाव वादिना नैव निर्वाणमुप पद्यते। न च शून्यता वादिन स्कन्धनिवृत्ति लक्षण क्लेश निवृत्ति लक्षण वा निर्वाणमिच्छन्ति यतस्तेषामय दोष स्यादिति। अत अनुपात्यम्भमेवाय शून्यवादिनाम। कि लक्षण तर्हि इच्छन्ति? उच्यते—

अप्रहीणम असम्प्राप्तम् अनुच्छिन्नम अशाश्वतम।
अनिरुद्धम अनुत्पन्नम एतन्निर्वाणमुच्यते।।[3]

इतिवुत्तक (स्थविरवाद) मे भी हमे निर्वाण के इसी स्वरूप का दर्शन होता है—

जात भूत समुत्पन्न कत सखतमद्धुव
जरामरण सघात रोग नीड पभड गुर।
तस्स निस्सरण सन्त अतक्कावचर ध्रुव
अजात असमुत्पन्न असोक विरज पद
निरोधो दुक्ख धम्मान सखारूपसमो सुखोति[39]

नागार्जुन निर्वाण के स्वरूप की व्याख्या मात्र निषेधात्मक विशेषणो से ही नहीं करते वे इसके विध्यात्मक स्वरूप की ओर भी इगित करते है कि यह निर्वाण सर्वोपलम्भोपशम प्रपञ्चोपशम और शिव है। चन्द्रकीर्ति

इस की व्याख्या करते हुए कहते है कि निर्वाण की अवस्था मे समस्त प्रपचो (निमित्तो) की अप्रवृत्ति (निवृत्ति) हो जाती है और यह निवृत्ति ही स्वभावत शिवस्वरूप है। क्योकि अप्रवृत्ति के फलस्वरूप ही नाना जजाल का अन्त हो जाता है और हमे शान्ति की अनुभूति होती है। इस अप्रवृत्ति के फलस्वरूप वाणी मौन धारण कर लेती है चित्त वृत्तियो की शमन हो जाता है। क्लेशो का प्रहाण जो जाता है। और समस्त वासनाए विगलित हो जाती है। ज्ञान और ज्ञेय कुछ भी शेष नही रह जाते। परिणामस्वरूप जराजन्ममरण की श्रृखला का अन्त हो जाता है और प्राणी आवागमन से युक्त ब्रह्मविहार के परमानन्द की अनुभूति करता है।

इहहि सर्वेषा प्रपचाना निमित्ताना च उपशमोऽप्रवृत्तिस्तन्निर्वाणम। स एव चोप शमा प्रकृत्यैवोपशान्त त्वाच्छिव । वाचामप्रवृत्ते वी प्रपञ्चोपशमश्चित्तस्या प्रवृत्ते शिव । क्लेशानामप्रवृत्त्या वा जन्मनोऽवृत्त्या वा शिव क्लेशप्रहाणेन वा प्रपचोपशमो निरवशेष वासना प्रहाणे शिव । ज्ञेयानुपलब्ध्या वा प्रपचोप शमो ज्ञानानुपलब्ध्या वा शिव । सर्वलम्भोप शम प्रपचोप शम शिव । क्वचितकस्यचित्कश्चि धर्मो बुद्धेन देशित ।।[32]

नागार्जुन का निर्वाण का सम्प्रत्यय अद्वैत वेदान्त की मुक्ति या ब्रह्मभाव से अत्यधिक साम्य रखता है किन्तु दोनो मे तात्विक भेद भी है। नागार्जुन का निर्वाण चिद्स्वरूप या आनन्द स्वरूप नहीं है जबकि अद्वैत वेदान्त मे मुक्ति सच्चिदानन्द स्वरूप है। यह सत चित और आनन्द एक साथ है। अद्वैतवेदान्त इन्द्रियानुभव की समीक्षा कर यह प्रदर्शित करता है कि ब्रह्म स्वय सिद्ध है ? यह प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ही रूपो मे स्वय बोध कराता है (साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म) और इसी के अस्तित्व के कारण ज्ञान की उपलब्धि होती है।[33] और सासारिक वस्तुओ मे सुख की अनुभूति भी ब्रह्म के अनन्तानन्द की क्षणिक अनुभूति है।[34] मोक्ष की दशा मे मानव की सीमाओ का अन्त हो जाता है और वह ब्रह्मानन्द मे एकीकृत हो जाता है। नागार्जुन का चिन्तन सवृत्ति से परमार्थ का एक सकेत कराकर रुक जाता है किन्तु अद्वैत वेदान्त आगे बढता है और उसके चिदानन्द स्वरूप की व्याख्या करता है। तत्त्वदार्शनिक दृष्टि से विवेचना करन पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि नागार्जुन का निर्वाण निर्विकल्प है जिसे चिदान्द से नही नहीं अभिन्न कहा जा सकता भले ही धामिक दृष्टि से इसे तथागत (ईश्वर) से अभिन्न माने।

शून्यता और निर्वाण

पिछले पृष्ठो मे शून्यता और निर्वाण का पृथक पृथक रूप मे विस्तार से विवेचन किया गया है। अब हमे यह देखना है कि शून्यता और निर्वाण मे क्या सबध है।

शून्यता यथाभूत परिज्ञान से भिन्न नहीं है इसलिए शून्यता को भाव या अभाव की कोटियो मे नही रखा जा सकता। जबकि सस्वभाव दृष्टि के लिए ये कोटियॉ अनिवाय है। इस स्थिति मे पक्ष और प्रतिपक्ष जो सत्य और अनृत होने का दावा करते है शून्यता की यथार्थदर्श स्थिति मे व्यर्थ हो जाते है। इसलिए नागार्जुन कहते है कि लोक की वास्तविक स्थिति सत्य–असत्य की मान्यताओ से परे है–

इति सत्यानृतातीतो लोकोऽय परमार्थत।[३६] इस वस्तुस्थिति मे कोई एक पक्ष खडा करना उसके लिए निश्चित आचार बनाना उसके अनुसार अहकार ममत्व का अभिनिवेश रखना सभव नही है।[३७]

वस्तुत नागार्जुन की दृष्टि मे नि स्वभावता या शून्यता ही परपार्थ है और यह शून्यता व्यष्टिगत शून्यता नहीं है कुछ को शून्य कह दे और कुछ को अशून्य कह दे ऐसा नही है। इस मत मे सर्व शून्यम का प्रतिपादन है। हम शून्यता को भलीभाति समझने के लिए सर्व को छोडा नहीं जा सकता और शून्यता के बिना सर्व को समझा नहीं जा सकता सर्व च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते।[३] किन्तु यह सर्व शून्य सर्व नास्ति नही है क्योकि ऐसा मानना मिथ्या दृष्टि को ग्रहण करना है।[३८]

तावत्सर्वमिद शून्य सर्व नास्तीति परिकल्पयेत तदास्य मिथ्या दृष्टिरापद्यते[४]

वस्तुत शून्यता ही सर्व और सर्वार्थ को सामने लाती है। बुद्ध ने मानव जीवन का उद्देश्य बहुजन हिताय बहुजन सुखाय कहा है। महायान का यह सर्व बहुजन है और सर्वार्थ बहुजन का हित है। अत यदि शून्यता न रहेगी तो सर्व नही व्यक्ति रहेगा और सर्वार्थ नही स्वार्थ रहेगा। और स्वार्थ के रहने पर निर्वाण लाभ सभव नही।

शून्यता का सिद्धान्त जहॉ एक ओर स्वभावशून्यता या धर्म शून्यता और प्रपच शून्यता की आर इगित करता और परमार्थ की विचार परम्परा को एकरूप समझता है वहीं दूसरी ओर निवाण की पृष्ठभूमि का स्वरूप भी है। इसकी भावना से निर्वाण का समधिगम होता है जो परमार्थ से अभिन्न ह। शून्यता की भावना द्वारा क्लेश क्षयपूर्वक प्रपचनिरोध और ग्रन्थिमोक्ष+रूप निर्वाण का समधिगम होता है।[४२] इस प्रकार शून्यता निर्वाण पद गामिनी है जिसके परिज्ञान से आवागमन की सरिता सूख जाएगी और साधक बोधिसत्व हा करुणा के वशीभूत हो मानव ही नही प्राणिमात्र के कल्याण के लिए युगयुगान्तर तक सन्नद्ध रहेगा।

ससार और निर्वाण

नागार्जुन ससार और निर्वाण को एकरूप मानते हैं। उनके अनुसार ससार प्रतीत्यसमुत्पन्न तत्वो की क्रीडाभूमि है। जिस प्रकार दीप और दीपशिखा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है ये परस्पर स्थित है अथवा बीज और

अकुर की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है इसी प्रकार ससार के समस्त पदार्थ किन्हीं कारणो हेतुओ से उत्पन्न होते है और हेतुओ के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं और यदि इस ससार के पदार्थों और प्राणियो की उत्पत्ति विनाश और जन्ममरण परम्परा की समाप्ति (अप्रवृत्ति) हो जाय तो यही निर्वाण है।[3] वस्तुत ससार क सभी पदार्थ परस्पर सापेक्ष होने के कारण नि स्वभाव है अत शून्य है और उनकी यह शून्यता ही निवाण हे इसलिए ससार और निर्वाण का द्वैत मिथ्या है। वे यहॉ तक कहते है कि ससार और निर्वाण मे तथा निर्वाण और ससार मे तनिक भी अन्तर नही है। जो श्रेणी निर्वाण की है वही श्रेणी ससार की है अत उनमे किन्चित भी अन्तर नही है।[४४]

न ससारस्य निर्वाणात्किचिदस्ति विशेषणम।
न निर्वाणस्य ससारात किचिदस्ति विशेषणम।।
निर्वाणस्य च या कोटि कोटि ससरणस्य च।
न तयोरन्तर किचित्सुसूक्ष्मपि विद्यते।।

तत्त्वदर्शी के लिए ससार और निर्वाण मे तनिक भेद नहीं है नागर्जुन ने अपने ग्रन्थ युक्तिषष्ठिका मे प्रसगापत्ति निराकरण तथा नागार्जुनीय युक्ति के द्वारा इस सत्य को प्रमाणित किया है। वे कहते है कि जब जगत् माया है गन्धर्व नगर की तरह अलीक (मिथ्या) है कदली वदसार है। तत्त्ववेत्ता के सामने परमार्थत वस्तु की आत्मा या सार नहीं है तो उन वस्तुओ की उत्पत्ति स्थिति और विनाश आदि कल्पना मात्र बुद्धिविकल्प प्रसूत है। लोक व्यवहार की दृष्टि से धर्मो के उत्पाद विनाश आदि है।

धर्म के स्वभावादि जो कुछ बाल पृथग्जनो की आखो मे दिखाई पडते है। वे उनके अभिभूत हो जाते है। परमार्थत धर्ममात्र ही स्वस्वभाव शून्य है फिर उस दृष्टि से वाद विवाद खण्डन–अनुखण्डन के लिए स्थान कहॉ?

कदली वदसार तत गन्धर्व नगर यथा।
मोह नगरमशेष मायेव दृश्यते जगत्।।
अत्र ब्रह्मादि लोको वै सत्येन पूरितो यथा।
आयेर्ण भाषित मिथ्या दृष्टि का शिस्यते परा।।[४५]

नागार्जुन कहते है कि तत्त्ववेत्ता लोग लौकिक दृष्टि से लोक (ससार) और निर्वाण का भेद मानते है कि न भव (लोक) है और न निर्वाण।[४६] इस ससार के वास्तविक स्वरूप का कि यह नश्वर और प्रतीत्यसमुत्पन्न है नि स्वभाव और शून्य है सुखद और शाश्वत नहीं अपितु दु खद और क्षणिक है का ज्ञान हो जाए तो यही

निर्वाण है। यदि मानव ससार की वस्तुओ मे सुख प्राप्त करने की चिन्ता का परित्याग कर दे राग द्वेष से मुक्त हो जाए। और मायापुरुषवत इस ससार को मिथ्या समझने लगे तो समझो वह निवृत्त है।[७]

निर्वाण चैव लोक वा मन्यन्ते तत्वदर्शिन ।
नैव लोक न निर्वाण मन्यन्ते तत्त्वदर्शिन ।।
निर्वाण च भवश्चैव द्वयमेव न विद्यते।।
परिज्ञान भवस्यैव निर्वाणमिति कथ्यते।।
आसक्ति सुखचिन्तासु हित्वायो रागवर्जित ।
दृष्टवा लीक माया पु वन्निवृत्तो मन्यते पुमान।।

नागार्जुन के ससार और निर्वाण की समतुल्यता को निम्नलिखित कारिकाओ द्वारा और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है– चन्द्रकीर्ति एक सूत्र का उद्धरण देते है जिसमे तथागत से पूछा गया कि यदि आपने निर्वाण का भी निषेध करते है तो फिर आप की निर्वाण के लिए की गयी देशना व्यर्थ है। तथागत इस प्रश्न के उत्तर मे निर्वाण सहित सभी धर्मो का निषेध करते है इस प्रकार ससार और निर्वाण शून्य होने के कारण एक है। नागार्जुन स्वय कहते है कि यदि सभी धर्म शून्य है तो फिर क्या सान्त और क्या अनन्त क्या सान्तानन्त (उभय) और क्या असान्तानन्त (अनुभय)–

शून्येसु सर्व धर्मेसु किमनन्त किमन्तवत। किमनन्तमन्तव च नानन्त नान्तवच्च किम।।[४] चन्द्रकीर्ति इस सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते है कि ससार और निर्वाण दोनो एक रूप है क्योकि वे प्रकृत्या शान्त है।[४५] ससार निर्वाणभोर भयोरपि प्रकृति शान्तरवेनैक रसत्वात।

ससार और निर्वाण शून्य होने के कारण एक हैं यह विचार नागार्जुन के तथागत और जगत की एकरूपता को प्रतिपादित करने से और अधिक स्पष्ट होता है–

तथागतो यत्स्वभाव तत्स्वभावमिद जगत।
तथागतो नि स्वभावो नि स्वभावो इद जगत्।।[५]

शतसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता मे निर्वाण और ससार की एकता की लौकिक उदाहरण देकर और अधिक विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है–

रूप रूप से शून्य है। जो रूपशून्यता है वह रूप है। शून्यता रूप से अन्यत्र नही होती। रूप ही शून्यता है शून्यता ही रूप है। वेदना वेदना से शून्य है। जो वेदना शून्य है वह वेदना है शून्यता वेदना से अन्यत्र

नही है। वेदना ही शून्यता है शून्यता ही वेदना है— रूप रूपेण शून्यम। या च रूप—शून्यता तद्रूपम। न च अन्यत्र रूपाच्छून्यता। रूपमेव शून्यता शून्यतैव रूपम। वेदना वेदनया शून्या। या च वेदना शून्यता सा वेदना। न चान्यत्र वेदनया शून्यता। वेदनैव शून्यता शून्यतैव वेदना। यही बात रूप सज्ञा सस्कार और विज्ञान के सम्बन्ध मे भी कही गयी है।[५१]

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता मे ससार और प्रज्ञापारमिता को अभिन्न बतलाया गया है।

प्रज्ञापारमिता को स्कन्ध धातु और आयतन से भिन्न नही समझना चाहिए क्योकि स्कन्ध धातु और आयतन ही शून्य विवक्त और शान्त है और यही प्रज्ञापारमिता है।[५२]

नागार्जुन स्वय भी इसी तथ्य की घोषणा करते है। शून्यता भावो से भिन्न नही है और न कोई भाव उसके बिना ही हो सकता है। इसी कारण तथागत ने सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न भावो (पदार्थो) को शून्य कहा है।[५३]

प्रज्ञामति भी नागार्जुन के इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते है। वे कहते है कि शून्यता भाव से भिन्न नही है शून्यता भावस्वभाव ही है। यदि शून्यता को भाव से भिन्न माना जाए तो धर्मो की नि स्वभावता नहीं सिद्ध होगी।[५४]

ससार और निर्वाण की अभिन्नता को सिद्ध करने वाले अनेक दृष्टान्त अद्वैतवेदान्त मे मिलते है गौडपाद माण्डूक्य कारिका मे कहते है कि—

न निरोधो न चोत्पत्ति र्न बुद्धो न च साधक ।
न मुमुक्षु र्न वे मोक्ष इत्येषा परमार्थता।[५५]

वस्तुत ससार और मोक्ष (निर्वाण) मे कोई भेद नहीं है। यहॉ ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है वास्तविक सत्य तो ब्रह्म ही है जगत तो ब्रह्ममात्र है जो अविद्या के कारण ब्रह्म पर आरोपित है अविद्या के नाश हो जाने पर ब्रह्म के स्वरूप की सत्ता झलकने लगती है। अत ससार और मोक्ष मे अभेद है। अद्वैत वेदान्त मे जो ध्यान देने की बाते हैं वह यह है कि यहॉ ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है। जगत रूपी भ्रम उस पर अधिष्ठित है— और ब्रह्म उसका अधिष्ठान है। विद्या का ज्ञान हो जाने पर जगत रुपी भ्रम का अन्त हो जाता है और मात्र ब्रह्मरूप अधिष्ठान ही बचता है अत ससार और उसके अधिष्ठान का द्वैत मिट जाता है। नागार्जुन की स्थिति इससे भिन्न है। दोनो दर्शनो मे सादृश्य होते हुए भी दोनो मे तात्विक भेद है। अद्वैतवेदान्त ब्रह्म की सत्ता को डके की चोट पर मानते हैं। वे ब्रह्म सत्यम् का उदघोष करते है। इसके

विपरीत नागार्जुन अधिष्ठान की सज्ञा को स्वीकार नहीं करते। वे कहते है कि सब कुछ अनाधार अनालम्ब अथवा निरधिष्ठान है। अत यहॉ ससार भ्रममात्र होने के कारण असत है उसका अधिष्ठान बिल्कुल हे ही नही अत ससार और उसके अधिष्ठान मे भेद का प्रश्न ही नही उठता। वे दोनो असतहै नागार्जुन के शब्दो मे–

> अनाधारमिद सर्व अनाधार प्रभाषितम।
> अनालम्बमिद सर्वम अनालम्ब प्रभाषितम।।[५६]

ससार और निर्वाण एकरूप है इस सिद्धान्त के आधार पर कतिपय आधुनिक विद्वानो जिनका उल्लेख किया जा चुका है यह मानते है कि नागार्जुन के अनुसार कोई भी वस्तु किसी दशा मे सत नही हे। अर्थात वे वस्तु के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार करते है और इस कारण उच्छेद वादी है पर यह धारण भ्रान्तिपूर्ण है। नागार्जुन द्वारा मध्यमक शास्त्र मे दिया गया मगलाचरण मध्य मे लोक आलोकादि प्रवृत्ति निवृत्ति विषयक विवरण और अन्त मे प्रतिपादित विशेष प्रकार के क्रम और व्यवस्थाए उक्त दोष को दूर करती है। यदि नागार्जुन को सर्वनिषेधवादी मानेगे तो उनके मतानुसार कोई भी व्यवस्था नही मानी जा सकती। किन्तु उन्होने भ्राम कारिका से लेकर तन्त्रयान तक के मार्गफल की व्यवस्था विशेष रूप से की अत नागार्जुन का अध्ययन करते समय हमे उनकी शब्दावली मे न जाकर उसकी अर्न्तध्वनि पर दृष्टि रखनी चाहिए।[५७]

सदर्भ

१ मज्झिम निकाय १–३७५, माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड दि फिलासफी ऑव नागार्जुन डॉ० महेश तिवारी का लेख निर्वाण शून्य है पृ० ६५

२ धम्मपद सु० वग्गा ७

३ थेरीगाथा ४७३

४ वही ३१ ७६ २२७

५ वही १४६

६ धम्मपद भिक्षवग्गो १५

७ इति वुत्तक २०७–२०८

८ २०७–२०८ उदान ८

६ सयुक्तनिकाय ४ पृ० ३५७ अगुत्तर निकाय २ ३४ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २७१

१० थेरीगाथा ५११–५१३

११ निरवशेषस्य अविद्यारागादिगस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सोपधि शेष निर्वाणमिष्यते। म०शा० वृत्ति २२७

१२ इतिवुत्तक २०८

१३ यत्र तु निर्वाणे स्कन्ध पञ्चकमपि नास्ति तन्निरुपाधि शेष निर्वाणम।

१४ उदान ८–६ म०शा०वृ० २२७

१५ थेरगाथा ६०६ वही २२७

१६ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ३०७

१७ प्रतिसख्या निरोधोयो विसयोग पृथक–पृथक

१८ यशोमित्र अभिधर्मकोशव्याख्या पृ० १६

१६ दीर्घनिकाय १२

२० शेरवात्स्की– द कन्सेप्शन आव बुद्धिस्ट निर्वाण पृ० २७–२६

२१ बौद्ध दर्शन पृ० ३०६

२२ मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० २२६–२३०

२३ बौद्धदर्शन पृ० १६०

२४ मध्यमशास्त्र २५४

२५ वही २५५

२६ वही २५१०

२७ बौद्धदर्शन पृ० ५६७

२८ आर्यरत्नावली १४२

२६ समाधिराजसूत्र ६२६ मध्यमकशास्त्रवृत्ति पृ० २२८

३० मध्यमकशास्त्रवृत्ति २५३ पृ० २२८

३१ इतिवुत्तक २०७–२०८ अप्रहीण (विरज) असम्प्राप्तम् अतक्काव चरम अनुच्छिन्नम निरुद्धम (ध्रुवम) अशाश्वतम (निरोधो डक्खधम्मान्)

३२ मध्यमकशास्त्रवृत्ति २५२४ पृ० २३६

३३ वेदान्त परिभाषा अध्याय १ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २७४

३४ ए तैवस्यानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रानि उप जीवन्ति। को एवान्यात क प्राण्याद् यद एष आकाश आनन्दो न स्याद तैत्तिरीयपनिषद ३

३५ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म २१५

३६ आर्य रत्नावली ३५

३७ माध्यमिक डाइलेक्टिक एण्ड द फिलासफी ऑव नागार्जुन पृ० २६

३८ मध्यमकशास्त्र २४१४

३६ वही पृ० २४१४

४० प्रभवति च शून्यतेय प्रभवन्तितस्य सर्वाथा विग्रह व्यावर्तनी ७१

४१ माध्यमिक डाइलेक्टिक पृ० ३० जगन्नाथ उपाध्याय 'नागार्जुन की नीति मीमासा।

४२ अनिर्वाण हि निर्वाण लोक नाथेन देशितम्। आकाशेन कृतोग्रन्थि राकाशेनैनवमोचित।। मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० २३७

४३ आजव जवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा। सोऽप्रतीत्या नुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते।। वही पृ० २५६

४४ वही पृ० २५, १६–२० पृ० २३४–२३५

४५ युक्तिषष्ठिका २७–२८

४६ वही पृ० ५–६

४७ वही माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी ऑव नागार्जुन पृ० २३

४८ मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० २५–२२

४६ मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० २०–२१ पृ० २३५

५० मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० २२–१६

५१ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता १ पृ० ५५४ माध्यमिक दर्शन पर तात्त्विक स्वरूप पृ० २०७ पर उदधृत

५२ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ० ८६ वही पृ० २०८

५३ चतु:स्तव ३४१ वही पृ० २०८

५४ बोधिचर्यावतार पञ्जिका ६ ३४

५५ गौडपाद– माण्डूक्यकारिका २–३२

५६ माध्यमिक दर्शन का तात्त्विक स्वरूप २०५

५७ श्रुपस्तन छेरिड नागार्जुन की दृष्टि माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी ऑव नागार्जुन पृ० ८३

अध्याय–६

परमार्थ और तथागत

तथागत

सवृति और परमार्थ दो सत्ताओ को स्वीकार करने के कारण नागार्जुन के दर्शन की चरम परिणति विशुद्ध द्वैतवादी दर्शन मे हुई जो किसी भी दो सत्तावादी दर्शन की होती है। अद्वैतवेदान्त मे व्यावहारिक और पारमार्थिक दो सत्ताओ के स्वीकार करने के कारण एक ऐसा महासमुद्र आ गया जिसके फलस्वरूप व्यवहार से परमार्थ पर पहुचना असभव हो गया। इस महासमुद्र को पार कर परमार्थ ब्रह्म पर कैसे पहुचे यह एक जटिल समस्या थी जिसका समाधान आवश्यक था। यही हालत योगाचार विज्ञानवाद और पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट की भी हुई काण्ट ने भी प्रपञ्च और स्वत सद्वस्तु दो परम सत्ताओ की कल्पना कर व्यवहार और परमार्थ के बीच ऐसा ही महासमुद्र रच दिया था जिसे पार करने के लिए उन्हे एक सेतु (मध्यम) की आवश्यकता पडी। काण्ट ने इस समुद्र के सेतु के रूप मे (आस्था) को प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार तार्किक बुद्धि का कार्यकलाप प्रपच तक ही सीमित है अत स्वत सद्वस्तु को हृदयगम करने के लिए तथा उसकी अनुभूति के लिए आत्मा मे आमरता और ईश्वर के अस्तित्व मे आस्था तथा दृढसकल्प की आवश्यकता है। अद्वैत वेदान्तियो ने इस कठिनाई से बचने के लिए ईश्वर की प्रतिष्ठा की और महायान दार्शनिको नागार्जुन और वसुबन्धु आदि ने तथागत की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त मे ईश्वर और महायान मे तथागत का सम्प्रत्यय ब्रह्मज्ञान (परमार्थ) के साक्षात्कार के लिए अनिवार्य हो गया।[1]

नागार्जुन के दर्शन मे परमार्थ (परमतत्व) शून्यता या तथता भूतकोटि या धर्मता है जो सभी वस्तुओ और धर्मो मे अन्तर्निहित है।[2] यह सनातन नित्य और सर्वकालिक है। इसकी देशना चाहे दी जाए या न दी जाय। कोई इसे जाने या न जाने इसके स्वरूप को तनिक भी ऑच नही आती।[3]

सवृति के क्षेत्र मे रहनेवाला प्राणी परमार्थ को नहीं जान सकता क्योकि उसकी बुद्धि विचार की कोटियों तक ही सीमित है जो अविद्या (सवृति) की ही परिधि मे है और परमार्थ सत्य को न तो जान सकता है और

न उसका उद्घोष करता है क्योकि वह स्वय सद्रूप है अत परमाथ के बोध के लिए ज्ञान और ज्ञान क उपयुक्त साधन दोनो की आवश्यकता है। वह प्राणी जिसकी पहुँच सवृति ओर परमार्थ दोनो क्षेत्रो मे अबाध रूप से है वही परमार्थ को जान सकता है और उसका बोध करा सकता है। तथागत ही वह प्राणी (तत्व) है जिसकी गति सवृति और परमार्थ दोनो मे है। और वही करूणावश सन्तप्त प्राणियो को दु ख सागर के पार ले जाने के लिए और परमार्थ का बोध कराने के लिए परमधाम से भू लोक मे बारम्बार अवतरित होता है।

अतीता तथता यद्वत प्रत्युत्पन्नाप्यनागता।
सर्वधर्मास्तथा दृष्टास्तेनोक्त स तथागत ।।१ (अ)

सर्वाकाराविपरीत धर्मदैशिकत्वेन परार्थसम्पदा तथागत[१]

(ब) बुद्ध स्वय भगवान है। जो सभी पूर्णताओ और शक्तियो के आगार है। उनमे ऐश्वर्य सौन्दर्य यश श्री (समृद्धि) ज्ञान और प्रयत्न ये छओ अपने पूर्ण रूप मे विद्यमान है। वे ही तथागत है क्योकि वे ही परम अभिभूत होकर भवसागर मे निमग्न प्राणियो (देवो मनुष्यो और अन्य जीव जन्तुओ) के उद्धार के लिए अपने परम लोक से प्रत्येक युग मे मानव और पशु पक्षी आदि अनेक योनियो मे जन्म लेते है। वे समस्त कर्मो और विकारो से ऊपर उठ चुके है इसलिए वे कर्मातीत ओर निर्विकार है क्लेशावरण और ज्ञेयावरण उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं तिरोहित कर सकते। वे सर्वज्ञ और सर्वाकारज्ञ है उन्हे परमार्थ और व्यवहार का सम्यग ज्ञान है। उनके ज्ञान मे निम्नलिखित पॉचो कोटियॉ निहित है। (१) उन्हे परमार्थ का विशुद्ध और परिपूर्ण बोध है जिसमे अस्ति और नास्ति का विभाजन नहीं है इसलिए वे अद्वयज्ञान से युक्त है। उनका ज्ञान एक निर्मल और धवल दर्पण के समान है जिसमे समस्त ज्ञान प्रतिबिम्बत होता है इसलिए वे आदर्श ज्ञान से युक्त है (३) उन्हे समस्त धर्मो (वस्तुओ) और तत्वो (एलेमेण्टस) का पृथक पृथक और सम्यग ज्ञान है जिसके फलस्वरूप उन्हे वस्तुओ को अपने वास्तविक रूप मे जानने मे तनिक भी कठिनाई नही होती इसीलिए वे प्रत्यवेक्षणा ज्ञान से युक्त हैं (४) उन्हे इस बात का भली भॉति बोध है कि जगत् के समस्त प्राणी जन्म से ही बुद्धत्व से युक्त है भले ही उनका बुद्धत्व अभी जाग्रत न हो दूसरे शब्दो मे वे ससार के प्राणियो मे एक ही तत्व को विद्यमान मानते है इसलिए वे समता ज्ञान से युक्त है (५) उनकी सक्रिय बुद्धि समस्त प्राणियो के कल्याण मे निरन्तर लगी रहती है इसलिए वे कृत्यनुष्ठान ज्ञान से युक्त है। सर्वज्ञता के अतिरिक्त भगवान् तथागत दश शक्तियो (दश बल) चार विशारदता (आत्मविश्वास) (चत्वारि वैशारद्यानि) और ३२ महादयाओ (द्वातृशत् महाकरुणा) आदि से युक्त हैं–

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशस श्रिय
ज्ञानस्यार्थ प्रयत्नस्य षण्णा भग इति श्रुति ।।
सोऽस्यास्तीति समग्रैश्वर्यादिमान भगवान।
क्लेश कर्म तथा जन्म क्लेश ज्ञेयावृती तथा।।
येन वैपक्षिका भगनास्तेनेह भगवान स्मृति ।।[5]

तथागत भगवान बुद्ध मे सर्वज्ञता और षड पारमिताए ही नही है अपितु वह महाकरुणा भी विद्यमान है जिसके फलस्वरूप वे मात्र मानव जाति के ही नही अपितु शूकर कूकर कीटपतग आदि सभी पशुपक्षिया जीव जन्तुओ के कल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते है और इसलिए वे परमदयालु ईश्वर तथागत के रूप मे प्राणियो के ह्रदय मे विद्यमान है। उनकी करुणा अनन्त है क्योकि इसमे किसी प्रकार की सीमा नही है। उनकी करूणा वाछनीय और अवाछनीय योग्य और अयोग्य सभी के लिए है। दीनदु खियो के लिए विशेषरूप से इसलिए कि वे दीनानाथ और दीनबन्धु है। ब्रहमाण्ड का ऐसा कोई कोना नही जो उनकी कृपा और अस्तित्व से शून्य हो इसलिए वे लोकनाथ और त्रिलोकनाथ हैं। उनके रोगहारी यश को सुनकर ही प्राणियो का रोग नष्ट हो जाता है इसलिए वे भव भेषज प्रनाथयश है। उनकी यह कृपा क्षणमात्र या कुछ वर्षो के लिए नही है अपितु युग युगान्तर और कल्पकल्पान्तर के लिए है। उनकी करुणा दिखावटी और स्वार्थपरक नहीं अपितु गभीर नि स्वार्थ और निर्मल है जो पिता के अपने एकलौते प्रियपुत्र के प्रेम से भी अधिक है। इसमे प्रेम के बदले किसी प्रकार के लाभ कृतज्ञता स्वीकार्य अथवा आदर प्राप्ति की भावना नही छिपी है। आर्यदेव के शब्दो मे भगवान तथागत की यह करुणा निरूद्देश्य और अहैतुकी है। भगवान तथागत की प्रत्येक उच्छास प्राणियो के कल्याण के लिए है[6]–

महाकरुणाम एवाश्रित्य प्रियैकपुत्राधिकतर प्रेमपात्र सकलत्रिभुवनजनो न लाभसत्कार प्रत्युपकारलिप्सया।

न चेष्टा किल बुद्धानाम अस्ति काचिद् अकारणा।
नि श्वासोऽपि हितायैव प्राणिना सम्प्रवर्तते।[7]
शरीरवाचमनसा प्रवृत्ति स्वार्था मुनेर्नास्ति न चाप्यनर्था
महाकृपाविष्टविशुद्ध बुद्धे परोदयायैव पुन प्रवृत्ति ।।

भगवान तथागत की प्राणियो के लिए यह विराट करुणा और दया आवेशमूलक नहीं अपितु अत्यन्त गभीर और अन्धी है। जो समस्त प्राणियो मे समता और एकरूपता के कारण उत्पन्न होती है। नागार्जुन तथागत की

वन्दना करते हुए अपने चतु स्तव मे कहते है कि हे प्रभो! बुद्धो और समस्त प्राणियो तथा अपने और अन्य प्राणियो मे तात्विक रूप से एकता अथवा तदाकारता के फलस्वरूप ही आप समता की देशना देते है।

बुद्धाना सत्वधातोश्च येनाभिन्नत्वमर्थत।
आत्मनश्च परेषा च समता तेन ते मता।।[1]

भगवान तथागत की दो मूलभूत विशेषताए है– (१) शून्यता और (२) करुणा।

अद्वयज्ञान प्रज्ञा ही शून्यता है और तथागत मे यह ज्ञान पूर्णरूप से विद्यमान है इसलिए परमार्थ (तथता–शून्य) और तथागत अभिन्न (एकरूप) है।

महादु ख से ग्रस्त ससार के प्राणियो के प्रति निरन्तर कृपा की भावना ही करूणा है। इस करुणा का जन्म इस बात से होता है कि सभी प्राणियो मे एक ही तत्व (ब्रह्मत्व) समान रूप मे विद्यमान है इसलिए उन्हे विपत्ति जाल से उबार कर उसकी अनुभूति कराई जाए। ब्रह्म और प्रज्ञापारमिता अभिन्न है अत वे परमार्थ स्वरूप है। वे करुणा से व्याप्त है तथा ससार के समस्त प्राणी स्वभावत ब्रह्मस्वरूप ही है अत तथागत सवृति–लोक मे भी है इस प्रकार उनका द्विपद परमार्थ और व्यवहार दोनो मे व्याप्त है और इस स्वभाव के फलस्वरूप वे सवृति और परमार्थ के बीच सेतु का कार्य करते हैं।

तदुक्तम यत प्रज्ञातत्त्व भजति करुणा सवृतिमत ।
तवाभून्निस्सत्व जगदिति यथार्थ विमृष्ट ।।
यछाचाविष्टोभू र्दशबल जनन्या करुणया।
तदा तेऽभूदार्थे सुत इव पितु प्रेम जगति।।[1]

बौद्ध दर्शन मे मन्जुश्री और अवलोकितेश्वर को क्रमश तथागत की शून्यता (प्रज्ञा) और करुणा का अवतार माना जाता है। तात्विक बौद्ध दर्शन मे वे प्रज्ञा और उपाय (करूणा) कहलाते है। वैदिक तन्त्र मे शिव (प्रज्ञा) और शक्ति (करुणा) के नाम से विख्यात है बुद्ध के इस द्वैतस्वरूप की अभिव्यक्ति बोधिसत्वो मे होती है जिनका आदर्श तथागत हैं।

कुमारिल ने तथागत के सप्रत्यय पर निम्नलिखित आपत्तिया की है–

(१) प्रथम उनके अनुसार अपौरुषेय और नित्य शब्द (वेद) ही सर्वज्ञ हो सकते हैं न कि मानव विशेषा मानव वासनाग्रस्त हो सकता है तथा विक्षिप्त बुद्धि उसे अभिभूत कर सकती हैं।[*] उसकी सज्ञान

शक्ति भी सीमित होती है। अभ्यास से वह दूसरो की अपेक्षा कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है किन्तु सर्वज्ञ नही हो सकता।[१२] पुनश्च क्या यह किसी मानव के लिए सभव है कि वह विश्व क समस्त पदार्थो और उनके अशो का सूक्ष्मतम और विविध ज्ञान युगपद् प्राप्त कर सके।[१३] एक अन्य प्रश्न यह भी उठता है कि सर्वज्ञता का अर्थ क्या है। यह मात्र विशेषो का ज्ञान है कि मात्र सामान्यो का? और यह ज्ञान क्रमिक रूप से प्राप्त होता है कि सध?[१४] यह भी एक सत्य है कि बुद्ध वर्धमान कपिल तथा कुछ अन्य व्यक्ति भी अपने को सर्वज्ञ कहते है। इनमे वस्तुत कौन सर्वज्ञ है और कौन नहीं है।[१५] यह भी निश्चित है कि उनमे आपस मे मतभेद है अत वे सभी सर्वज्ञ नही हो सकते। अत किसी अतीन्द्रिय तत्व के साक्षात द्रष्टा का अस्तित्व नही है। यदि किसी को कोई ज्ञान है तो वह नित्य शब्द (वेद) द्वारा ही जानता है।[१६]

(२) कुमारिल के अनुसार दूसरी आपत्ति इस प्रकार है– जब कोई व्यक्ति क्लेशावरण से मुक्त हो जाता है तो उसकी सप्रत्यात्मक शक्ति समाप्त हो जाती है अत वह दूसरे व्यक्ति को सत्य का ज्ञापन नही करा सकता क्योकि सम्यग सम्बुद्ध भगवान बुद्ध की बौद्धिक क्रिया का विराम हो जाता है। वे निरपेक्ष तत्व के ध्यान मे सदैव लीन रहते है। तथा आत्मकेन्द्रित रहते है। यह भी कहा जाता है कि बुद्ध बोधि प्राप्त के क्षण से महानिर्वाण पर्यन्त एक भी शब्द का उच्चारण नही किया।[१७] तो किस प्रकार उनकी देशना का प्रचार प्रसार हुआ? बौद्ध दार्शनिक कुमारिल की इन दोनो ही आपत्तियो का क्रमश खण्डन करते हैं–

(१) प्रथम– सर्वज्ञ पुरुष के विरुद्ध कोई भी प्रामाणिक युक्ति नही दी गयी। किसी तथ्य को इसलिए अस्वीकार नही किया जा सकता है कि उसे लोगो ने देखा नही। बुद्ध की सर्वज्ञता के विषय मे पर्याप्त साक्ष्य है। भगवान के द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर साधक ससार से मुक्त हो जाता है। सर्वज्ञता के विषय मे अनेक आपत्तियॉ यह मान कर उठाई गयी है कि यह एक नई प्रकार की शक्ति (सकाय) है अथवा यह ज्ञानप्राप्ति अत्यन्त श्रमसाध्य क्रिया है किन्तु ऐसा नहीं है। चित्त को उन आगन्तुक मलो से मुक्त करना है जो इसमे आ गये है। स्वभावत बुद्धि प्रभास्वरा–पारदर्शिनी और तत्व दर्शनी है।[१] नैरात्म्य भावना का ध्यान करने से चित्त को समस्त दोषो से मुक्त किया जा सकता है और क्लेशो से मुक्ति के फलस्वरूप सर्वज्ञता दर्पण की भाति निर्मल हो प्रकट हो जाती है क्योकि उसके अवरोधक समस्त पदार्थ निरुद्ध हो जाते हैं।[१६] वे व्यक्ति जो सर्वज्ञता को अस्वीकार

करते है वे इस बात को भी अस्वीकार करते है कि चित्त दोषमुक्त हो सकता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि वे तर्कत मुक्ति (मोक्ष) को भी अस्वीकार करते है।

(२) दूसरी आपत्ति भी निराधार है। माध्यमिक दार्शनिको ने इस आपत्ति के अनेक उत्तर दिए है–

नागार्जुन कहते है कि हे प्रभो! यद्यपि आपने एक भी शब्द का उच्चारण नही किया फिर भी आपके अनुयायी आप की देशना से सन्तुष्ट है।[20] चन्द्रकीर्ति कहते है भगवान ने बोधि प्राप्त की वेला मे मात्र एक शब्द का उच्चारण किया और वही भक्तो की आवश्यकताओ और उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियो के कारण उनके अविद्या को दूर करने मे पर्याप्त है।[21] भगवान् बुद्ध चिन्तामणि और कल्पतरु के सदृश है जो अपने भक्तो की मनोकामनाओ को पूरा करते हैं। भगवान् द्वारा अनुभूत तत्व के देशना की प्रेरणा उन्हे प्रणिधान (सकल्प) से प्राप्त हुई जो उन्होने बोधि के साक्षात्कार के पूर्व राजमहल से महाभिनिष्क्रमण करते समय प्राणियो के कल्याण हेतु की थी। उनका वह लोक कल्याणकारी सकल्प बोधि के लाभ के अनन्तर भी उस प्रकार लोक हित मे निरत है जिस प्रकार कुम्भकार का चक्र घट निर्माण के बाद भी चलता रहता है।[22]

तथागत और ईश्वर

जैसा ऊपर कहा गया है व्यवहार और परमार्थ तथा जगत और ब्रह्म के दो सत्यो के सेतु के रूप मे बौद्ध दर्शन मे तथागत तथा अद्वैत वेदान्त मे ईश्वर की अवधारणा का विकास हुआ। यद्यपि वे मुक्त है फिर भी प्रपच के अन्तर्गत हैं अर्थात मायिक है।[23] वे परमार्थ (परम तत्व) की स्वतत्र अभिव्यक्ति है। वे दोनो परमार्थ से निम्नतर है। तथागत या ईश्वर उपास्य देव है जो धर्म के विषय है। मोक्ष अथवा निर्वाण की प्राप्ति अद्वैत या अद्वयज्ञान मे होती है इस कारण ये दोनो ही दर्शन भक्ति और धार्मिक कृत्यो की शरण मे जाते है किन्तु ज्ञान का स्थान इनके ऊपर है। धर्म दर्शन का अनुगमन करता है किन्तु दोनो मे विरोध नही है।

माध्यमिक या अद्वैत वेदान्त के धर्म को सर्वेश्वरवाद कहा जा सकता है। यह ईश्वरवाद से भिन्न है जहॉ ईश्वर और मानव मे अत्यन्त भेद है जैसा सेमिटिक धर्मो मे देखा जाता है। यहॉ ईश्वर या तथागत तथा मानव (प्राणिमात्र) मे एक तात्विक और अध्यात्मिक सबध पाया जाता है। ईश्वर और तथागत दोनो पारमार्थिक सत्ताए है। उनका भेद नाममात्र का है और प्रपच के स्तर पर है।[24] किन्तु धार्मिक भावना के लिए यह अन्तर आवश्यक है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि यदि उपासक और उपास्यदेव मे अन्तर न हो तो धार्मिक कृत्यो से कोई फल नही प्राप्त होगा। बुद्ध चाहे परमार्थ सत्य हो या न हो उससे धार्मिक क्रियाओ अनुष्ठान आदि के फल पर कोई आच नहीं आती।[25] ईश्वर और तथागत मे समानता के साथ ही साथ भेद भी है। ईश्वर न

केवल वेदो का बोध कराता (शास्त्रयोनि) है। वह सृष्टि का स्रष्टा पालक और सहारक भी है। इस क्षत्र मे बौद्ध दर्शन मे कर्म ईश्वर का स्थान ग्रहण करता है।

ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ मे किसी विशेष विधि द्वारा प्राणियो को परमार्थ सत्य का बोध कराता है किन्तु इस उद्देश्य से वह जन्म नहीं लेता। वह सदैव मुक्त है और सदैव ईश्वर है किन्तु तथागत पशु पक्षी मानव और कीटपतगो की योनियो मे जन्म लेता है। उन्ही की तरह रहता है उसकी सहानुभूति ग्रहण कर उन्हे परमसत्य की देशना देता है। और क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण की निवृत्ति के फलस्वरूप लाकोत्तर हा जाता है। क्लेश प्रहाण के फलस्वरूप सर्वज्ञता सर्वाकारज्ञता और अन्य दैवी विभूतिया उसमे प्रकट हो जाती है। इस स्थिति के पूर्व तथागत पूर्वबन्धकोटि मे है अर्थात बन्धन मे थे किन्तु क्लेशान्त के कारण वे सदैव के लिए मुक्त हो जाते है इसके विपरीत वेदान्त और योग मे ईश्वर कभी बन्धन मे नही थे। बौद्ध धर्म की भाति जैन धर्म भी महावीर और अन्य तीर्थकर (केवली) को साधारण मानव मानता है जो किन्तु क्षयिक ज्ञान आदि के फलस्वरूप सर्वज्ञता और अन्य गुण प्राप्त किए। किन्तु महायान का तथागत तीर्थकरो से इस बात मे भिन्न है कि वह मात्र मानव कभी नहीं था। वह मानव के रूप मे अवतरित होता है मानव की ही भाति आचरण करता है और उनका शास्ता (शिक्षक) बनता है और अन्त मे सद्गुणो का अभ्यास कर सम्यकसम्बुद्धत्व प्राप्त कर लोकोत्तर ले जाता है।[२६]

तथागत और त्रिकाय

तथागत के पचविध ज्ञान के कारण जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है तथागत के त्रिकाय (त्रिविध शरीरो) का विकास होता है। यह त्रिकाय धर्मकाय सभोगकाय और निर्माणकाय है। अभिसमयालकारालोक मे बुद्ध के एक और काय का वर्णन है वह है स्वभावकाय । यह काय सर्वमान्य नही अपितु कुछ लोगो की मान्यता है–

स्वाभाविक स साम्भोगो नैर्माणिकोऽपरस्तथा।
धर्मकाय सकारित्रश्चतुर्धा समुदीरित ।।[२७]

तथागत के पूर्वनिर्दिष्ट पॉच ज्ञानो मे पहले अक्षर मे

प्रथम दो ज्ञान अद्वय ज्ञान तथा आदर्शज्ञान विशेष रूप से अद्वय ज्ञान धर्मकाय मे पाया जाता है प्रत्यवेक्षणा और समता ज्ञान सभोगकाय मे तथा कृत्यनुष्ठाज्ञान निर्माणकाय मे पाया जाता है। त्रिकाय का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए इसका किचित विस्तृत वर्णन अपेक्षित हैं–

१ स्वभावकाय भगवान का यह काय धर्मधातुस्वरूप (धर्म धातुरूपत्वात) होने के कारण स्मृत्युप्रस्थानादि से युक्त ज्ञानात्मक लोकोत्तर अनास्रव तथा सभी प्रकार के मलो से रहित (विशुद्ध) है।यह काय लाकोत्तर रूप से प्राप्त होता है न कि प्रयत्न फलस्वरूप। इसलिए यह भगवान का स्वभावकाय–अकृत्रिम काय कहलाता है–

सर्वकारा विशुद्धि ये धर्मा प्राप्ता निरास्रवा ।
स्वाभाविको मुनेकायस्तेषा प्रकृतिलक्षण ।।

अय काय मुने बुर्द्धस्य भगवतो लोकोत्तरेण मार्गेष प्राप्यते न क्रियते इति अकृत्रिमार्थेन न मायोपमविज्ञान सर्वधर्मप्रतिपत्याधिगत स्वाभाविक काय ।[२]

२ धर्मकाय यह बुद्ध का यथार्थ काय है। यह प्रवचन काय है। शाक्य मुनि बुद्ध इसी धर्मकाय से उत्पन्न हुए है। बुद्ध स्वय कहते है मै भगवत का औरस पुत्र हूँ, धर्म से उत्पन्न हूँ। धर्म का दायाद हूँ।[२६] इसका कारण यह है कि भगवान् धर्मभूत है ब्रह्मभूत है धर्मकाय भी है।[३] इसी प्रकार प्रज्ञापारमिता धर्मकाय है तथागतकाय ।है जो प्रतीत्यसमुत्पाद का दर्शन करता है वह धर्मकाय का दर्शन करता है। प्रज्ञापारमितास्तोत्र मे नागार्जुन कहते हैं जो तुझे भाव से देखता है वह तथागत को देखता है। शान्तिदेव बोधिचर्यावतार के आरम्भ मे सुगतात्मज और धर्मकाय की वन्दना करते है। यह उन धर्मो का समूह है जिसे प्राप्त कर प्राणी बुद्ध कहलाता है। क्षयज्ञान अनुत्पाद और सम्यग् दृष्टि को बुद्ध कारक धर्म कहा जाता है। शील समाधि प्रज्ञा विमुक्ति और विमुक्तिज्ञानदर्शन ये पच अनास्रव स्कन्ध है। इन्हे धर्मस्कन्ध भी कहा जाता है। बुद्ध की शरण मे जाने का अर्थ धर्मकाय की शरण मे जाना न कि रूपकाय की शरण मे जाना भिक्षु की भिक्षुता उसका सवरशील उसका धर्मकाय है इसी प्रकार बुद्ध का बुद्धत्व बुद्ध का अनास्रव धर्म उसके धर्मकाय है। तथागत का यह धर्मकाय श्रेष्ठ–अधिवचन है। यही ब्रह्मकाय है पर धर्मभूत और ब्रह्मभूत भी है। भगवत के फलसपत का लक्षण धर्मकाय ही है जिसके फलस्वरूप भगवान पत्थर से सोना बना सकते है सूक्ष्मतम मे विराटतम का प्रवेश करा सकते हैं। उदाहरण के लिए चीटी के मुह मे हाथी का प्रवेश करा सकते हैं। आकाश गमन कर सकते है। इन्ही गुणो के फलस्वरूप निम्नस्थल समतल हो जाता है जो नीचा है वह ऊचा हो जाता है अन्धे दृष्टि का बहरे कान का और उन्मत्त स्मृति का लाभ करते हैं।[३१]

यह धर्मकाय अचिन्त्य है। यहीबुद्ध का वास्तविक शरीर है। रूपकाय सत्काय नहीं है। यह धर्म शरीर ही भूतार्थिक शरीर है। यह धर्मशरीर अनुत्तर है इसी के द्वारा बुद्ध का ज्ञान होता है क्योकि बुद्ध धर्मकाय हैं किन्तु धर्मता अविज्ञेय है।

योे मा रूपेण चाद्राक्षु र्यो मा घोषेण अन्वयु ।
मिथ्या प्रहाण प्रसृष्टा न मा द्रक्ष्यन्ति ते जना ।।[३२]

धर्मतो बुद्धा द्रष्टव्या धर्मकाया हिनायका ।
धर्मता चाप्य विज्ञेया न सा शक्या विजानितुम।।[३]

और यह धर्म प्रतीत्य समुत्पाद है जो इस प्रतीत्य समुत्पाद को यथावत अविपरीत देखता है और जानता है कि यह अजात अव्युपशम–स्वभाव है वह धर्म को देखता है।[३५] यही बुद्ध के मध्यम मार्ग– नागार्जुन दर्शन का सार है जिसे गभीरनय कहा गया है। यह धर्म और प्रज्ञा दोनो ही है और अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता मे इस प्रज्ञा–प्रज्ञापारमिता को बुद्ध का धर्मकाय कहा गया है इसे तथागतो की माता भी कहा गया है। यह सर्वप्रपचव्यतिरिक्त है। प्रपच या आवरण से रहित और प्रभास्वर होने के कारण इसे शुद्धकाय और स्वभावकाय भी कहा गया है– सर्वप्रपचव्यतिरिक्तो भगवत स्वाभाविको धर्मकाय स एव हि चाधिगमस्वभावो धर्म ।[३६] तत्वज्ञान से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है इसलिए इसे समाधिकाय भी कहा गया है। तात्रिक ग्रन्थो मे इसे वैरोचन वज्रसत्व या अनादि बुद्ध भी कहा गया है। यह तत्वज्ञान या बोधि ही परमार्थ सत है। सवृति सत्य की दृष्टि से यह शून्यता तथता और धर्मधातु नाम से भी ज्ञात है।[३७] यह चित और वाणी का विषय नही है यह निर्वाण के समान अनुत्पन्न और अनिरुद्ध है।

निवृत्तमभिधातव्य निवृत्ते चित्तगोचरे।
अनुत्पन्ना निरुद्धा ही निर्वाणमिव धर्मता।।[३]

त्रिकायस्तव मे नागार्जुन ने धर्मकाय के स्वरूप का बहुत ही सुन्दर निरुपण किया हैं–

यो नैकोनाथनेको स्वपरहित्महासम्पदाधारभूतो
नैवाभावो न भाव खमिव समरसो निर्विभावस्वभाव ।
निरलेप निर्विकार शिवमसमसम व्यापिन निष्प्रपच
वन्दे प्रत्यात्मवेद्य तमहमनुपम धर्मकाय जिनानाम्।।

धर्मकाय एक नहीं है क्योकि वह सबको व्याप्त करता है और सबका आश्रय है धर्मकाय अनेक भी नहीं है क्योकि वह समरत है। यह बुद्धत्व का आश्रय है। यह स्वरूप है। न इसका भाव है और न अभाव। आकाश के समान यह एकरस है इसका स्वभाव अव्यक्त है यह निर्लेप निर्विकार अतुल्यसर्व व्यापी और प्रपच रहित है। यह स्वसवेद्य है। बुद्धो का ऐसा धर्मकाय अनुपम है।

प्रो० टी०आर०वी० मूर्ति की दृष्टि मे धर्मकाय को वास्तविक अर्थ मे शून्यता अथवा तथता जैसे दाशनिक सिद्धान्तो का पर्याय कहना ठीक नही होगा। अवतशकसूत्र स ऐसे अनेक उद्धरण दिय जा सकत है जहा इसे पुरुष (साकार) माना गया है और इसे असख्य गुणो का अधिष्ठान माना गया है।

धर्मकाय यद्यपि तीनो लोको मे अपने को प्रकट करता है क्लेश ओर इच्छाओ स मुक्त है। करुणा वश यहॉ वहॉ सभी स्थानो पर अभिव्यक्त होता है। यह व्यक्तिगत सत्ता नही है और न तो मिथ्या अस्तित्व है अपितु सार्वभौम और विशुद्ध है। यह न तो कहीं से आता है और न कही जाता है और न तो अपनी सत्ता का भान कराता है और न तो इसका विनाश होता है। यह सर्वदागभीर है और कूटस्थ नित्य है। यह अद्वैत (एक) और निर्गुण है। यह धर्मकाय असीम और दिग्भाग भेद शून्य है तथापि सभी कामो मे अधिष्ठित है। इसकी मुक्ति या सर्वत्रगमनीयता अगम्य है। समस्त भौतिक पदार्थो मे इसकी आध्यात्मिक विद्यमानता सचमुच बोधगम्य नही है। इस विश्व की सृष्टि होती है परन्तु यह धर्मकाय अक्षयरूप मे बना रहता है। समस्त विरोधो और विपरीतताओ से रहित है तथापि सभी पदार्थो और प्राणियो को निर्वाण की ओर उन्मुख करने के लिए उनमे निरन्तर क्रियाशील रहता है।[३५]

बुस्ता का भी यही मत है। वे धर्मकाय की व्युत्पत्ति बताते हुए कहते है कि काय चि धातु से बना है जिसका अर्थ चुनना एकत्र करना है इस प्रकार धर्मकाय दूषणकारी अभिकरणो से विमुक्त सर्वधर्म सघात है[४] सत्यद्वयविभग का भी यही मत है। उसके अनुसार सर्वधर्म समूह होने के कारण इसे धर्मकाय कहा जाता है। यह समस्त अचिन्त्य सद्गुणो का आश्रय और सभी वस्तुओ का सर्वस्व सार है।

धर्मकाय के उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष अधिक उपयुक्त जान पडता है कि यह साकार सगुण परमपुरुष है जिसमे असख्य सद्गुण समाहित हैं किन्तु यह प्लेटो के शुभ प्रत्यय की भॉति सामान्य तत्व नही अत इसे शून्यता भूतकोटि या तथता कहना उपयुक्त जान नहीं पडता।

(२) निर्माणकाय (रुपकाय)

स्थविरवाद मे रुपकाय मानवीय गुणो से परिपूर्ण है और मानव शरीर धारण करता है। यह निर्वाणकाय या निर्मित भाव भी कहलाता है। सयुक्त निकाय मे इसे ही पूतकाय कहा गया है। इसके स्वरूप को लेकर दार्शनिको मे मतभेद है। सर्वास्तिवादी इसे स्रासव मानते है और महासधिक तथा सौत्राति इसे अनास्रव मानते है। वैतुल्यको का मत है कि भगवान् ससार मे जन्म नहीं धारण करते। वे सदैव तुषित लोक मे निवास करते

है किन्तु प्राणियो के उद्धार के लिए अपना निर्मित रूप भेजते है। सुवर्णप्रभास म भी इसी ग्रन्थ की पुनरावृत्ति हुई है। इसके अनुसार भगवान न कृत्रिम है और न उत्पन्न होत है केवल सत्वा (प्राणिया) क परिपाक के लिए निर्मित काय का दर्शन कराते है। अस्थि और रुधिररहित काय मे धातु (अस्थि) रहन का सवाल ही नही उठता। वस्तुत बुद्ध प्रातिहार्यप्रदर्शन द्वारा अनेक बुद्धो की सृष्टि कर लेने म समर्थ है। इसलिए इन सृष्ट रुपो को बुद्धनिर्माण कहा जाता है। बुद्ध अनेक प्रकार का रूप धारण कर सकते है इसलिए इन्हे सर्वत्रग कहा जाता है। त्रिकायस्त मे इसकी पुष्टि की गयी है और कहा गया है कि सत्वो (प्राणियो) के परिपाक के लिए बुद्ध अनेक रूप धारण करते है।[५१] शाक्यमुनि के रूप मे जगत मे बुद्ध की उत्पत्ति तथा अनेक तथागतो की करुणा के वशीभूत हो जीव मात्र के उद्धार के लिए ससार मे प्रवेश होना निर्माणकाय है। विज्ञानवादी इसके वर्णन मे एक कदम और आगे बढते हैं। उनके अनुसार बुद्ध के अनेक निर्मित रूप ही निर्माणकाय नही है अपितु समस्त ब्रह्माण्ड और उसके प्राणी बुद्ध का निर्माणकाय ही है। शून्य और प्रकृतिप्रभावर विज्ञप्तिमात्रता या चित्त भगवान का धर्मकाय है और निर्माण काय इस धर्मकाय का असतरूप है। प्रातिहार्य प्रदशन इस निर्माणकाय की प्रमुख विशेषता है किन्तु इस विशेषता के अतिरिक्त शिल्प जन्म अभिसबोधि निर्वाणदर्शन और परार्थसिद्धि इसकी अन्य मुख्य विशेषताए है–

शिल्पजन्ममहाबोधि सदा निर्वाण दर्शनै ।
बुद्धनिर्माण कायोऽय महामायो (मोहपायो) विमोञ्चने।।[५२]

भगवान का शाक्यमुनि गौतम के रूप मे पृथ्वी पर जन्म या अनेक बुद्धो का अनेक कल्पो मे विविध योनियो मे अवतरण कोई अकस्मिक घटना नहीं है भगवान जानबूझकर ससार के दुख सागर मे डूबते हुए प्राणियो के उद्धार के लिए जन्म लेते हैं और अनेक विचित्र कर्म करते है।[५३] भगवान का मानव के रूप मे स्वेच्छया अवतरण तथा जन्म से लेकर परिनिर्वाण पर्यन्त उनके विशिष्ट कार्य मानवो मे यह आस्था और विश्वास दिलाने के लिए है कि वे अनाथ नहीं हैं उनके रक्षक के रूप मे भगवान सदैव विद्यमान है।[५४] शाक्यमुनि गौतम उन असख्य बुद्धो मे से वह है जो मनुष्य तथा अन्य प्राणियो की रक्षा के लिए सदैव परात्पर धर्मकाय के निर्वाणकाय के रूप मे अविर्भूत होते हैं। हरिभ्रद के शब्दो मे 'जब कोई प्राणी बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो को समझना चाहता है अथवा किसी अन्य प्रकार की सहायता चाहता है तो अपने पूर्वकालीन सकल्प का ध्यान मे रखकर कि वे प्राणिमात्र के कल्याण के लिए विविध योनियो मे निरन्तर जन्म लेते रहेगे भगवान अपने को मानव तथा मानवेतर विविध रूपो मे प्रकट करते है।[५५]

यस्य सत्वस्य यस्मिन काले धर्मदेशनादिक क्रियमाणमायातिपथ्थ भवति तदा तस्यार्थकरणाय पूर्वप्रणिधानसमृद्धया तत्प्रतिभासानुरुपेणाकारेणार्थ क्रियाकारी भगवानिति –

परिपाक गते हेतौ यस्य यस्य यदा यदा।
हित भवति कर्त्तव्य प्रथते तस्य तस्य स ।।[६]

सम्भोगकाय सभोगकाय के लिए विपाक काय रूपकाय और लोकोत्तरकाय[७] का भी प्रयोग किया गया है। इसे सम्भोगकाय इसलिए कहते है कि क्योकि यहॉ भगवान बुद्ध काय धारण कर महायान के सत्य के आनन्द का पूर्णरूप से लाभ करते है। यह तथागत भगवान बुद्ध की विभूतियो (शक्तियो) और वैभव की स्वय का (स्वभावयोग) और उसके लिए सक्षम (परसम्भोग) व्यक्तियो की साकार अभिव्यक्ति है।[८] स्थविरवाद म इसकी कोई कल्पना नहीं है किन्तु बुद्ध के लोकोत्तरवादी व्यक्तित्व का विकास होने से सभोगकाय का सम्प्रत्यय लोक मे प्रचलित होता है। किन्तु वैसिलीफ की दृष्टि मे सौत्रातिक धर्मकाय और सभोगकाय दोनो को मानते है। महाकरुणा इस सम्प्रदाय के विकास का आधार है। यह वह काय है जिसको बुद्ध दूसरो के कल्याण के लिए बोधिसत्व के रूप मे अपने पुण्यसभार के फलस्वरूप तब तक धारण करते है जब तक निर्वाण मे प्रवेश नहीं करते।[४९] महायान ग्रन्थो मे ऐसे बोधिसत्वो की रचना मिलती है जो शून्यता मे प्रवेश नही करते जो दूसरो का कल्याण चाहते है और जो सबको सुखी करने के लिए ही बुद्धत्व की आकाक्षा करते है। भगवान का यह प्रवचन काय है। इसी काय से वे धर्म की देशना देते हैं। इस काय का जन्म गृद्धकूट पर्वत पर हुआ। भगवान के ललाट से असख्य किरणे निकलने लगी और समस्त भूमण्डल को व्याप्त कर दिया। शतसाहस्रिका सद्धर्मपुण्डरीक और ललित विस्तर मे इसका बहुत विस्तार मे वर्णन है। आदर्श समता प्रत्यवेक्षणा और कृत्यानुष्ठान इस काय (शरीर) की मुख्य विशेषताए है।[५] भगवान इस काय मे सौन्दर्य और वैशिष्टय के ३२ लक्षणो और ८० उप–लक्षणो से युक्त हैं जिसका विशद वर्णन अभिसमयालकारालोक मे और अभिसमयालकारालोक वृत्ति मे किया गया है–

द्वान्त्रिशल्लक्षणाशीति व्यञ्जनात्मा मुनेश्यम।
साभोगिको मत कायो महायानोपभोगत ।।[५१]

माध्यमिक दार्शनिक धर्ममित्र का तो यहॉ तक कथन है कि बुद्ध के इस शरीर को वे ही बोधिसत्व देख सकते है जो साधना की दसवीं भूमि धर्ममेघा तक पहुॅच चुके हैं।[५२]

भगवान इस काय द्वारा अपनी विभूतियो को प्रकट करते है। इसका एक सुन्दर उदाहरण हमे श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के ग्यारहवे अध्याय विभूति योग मे मिलता है। तथागत अभिताभ (अमितायु अमितप्रभ) भगवान बुद्ध के सभोगकाय के उत्कृष्ट उदाहरण है जो सुखावती लोकधातु मे अपने पार्षद अवलोकितेश्वर और महास्थाम–प्राप्त के साथ विराजमान है। उनके बुद्ध क्षेत्र की सम्पत्ति अनन्त है। उसकी प्रतिभा अभिन्न है उसकी इयत्ता का प्रमाण नहीं है। अभिताभ का नाम सुनकर जिनक चित्त म शान्ति (प्रसाद) उत्पन्न होती है जो श्रद्धालु तथा शकाहीन हैं और जो अभिताभ के नाम का कीर्तन करते है वे सुखावती मे जन्म लेत है। त्रिकास्तव का निम्नलिखित श्लोक इसका अच्छा परिचायक है–

लोकातीतामचिन्त्या सुकृतशतफलामात्मनो यो विभूति
पार्षन्मदये विचित्रा प्रथयति महतीं धीमती प्रीति हेतो ।
बुद्धाना सर्वलोक प्रसृतमविरतोदारसद्धर्म घोष।
वन्दे सम्भोगकाय तमहमिह महाधर्मराज्य प्रतिष्ठिम।।[५३]

इस लोक मे महाधर्मराज्य मे प्रतिष्ठित मै उस सम्भोगकाय को नमस्कार करता हूँ जो लोकातीत अचिन्त्य पुण्यदायक आत्मविभूति को लोगो के बीच महान किसी ज्ञानवान वैचित्र्य के रूप मे फैलाता है तथा जो बुद्धो के सभी लोको मे फैले हुए निरन्तर परमहितकारी सद्धर्मवचन है। धर्मकाय के विपरीत भगवान का यह शरीर रूपवान है किन्तु यह रूप अपार्थिव (अभौतिक) है। चन्द्रकीर्ति ने इस के लिए रूपकाय का भी प्रयोग किया है और धर्मकाय से इसकी तुलनाकी है। मध्यमकावतार की टीका मे वे कहते है कि ज्ञानसभार अर्थात ध्यान और प्रज्ञा से धर्मकाय होता है जिसका लक्षण अनुत्पाद है और पुण्यसभार रूपकाय होता है। इस रूपकाय को नामरूपवाला (नाना रूप) कहा गया है क्योकि इसमे अपने को अनेकरूपो मे प्रकट करने की क्षमता है।[५४]

वैपुल्य सूत्रो मे श्रेष्ठ सद्धर्म पुण्डरीक के तथागतायुस प्रमाण नामक अध्याय मे सयोगकाय के स्वरूप और कार्य का बहुत ही सुन्दर वर्णन निम्नलिखित श्लोको मे किया गया है।[५५]

१ एवेमह लोकपिता स्वय भू चिकित्सक सर्वप्रजाननाथ ।
विपरीतमूठाश्च विदित्व बालान् अनिर्वृतो निर्वृत दर्शयामि।।

२ अचित्रिया कल्पसहस्रकोटयो भासा प्रमाण न कदाचि विद्यते।
प्राप्ता मया एष तदाग्रिबोधि धर्म च देशेम्यहुनित्यकालम्।।

३ निर्वाणभूमि चुपदर्शयामि विनयार्थसत्वान वदाम्युपायम।
न चापि निवाम्यहु तस्मिकाले इहैव चोधमु प्रकाशयामि।।

४ तत्रादि चात्मानमधिष्ठहामि सर्वाश्चसत्वान तथैव चाहम।
विपरीत बुद्धी चत्नरा विमूढा तत्रैव तिष्ठन्तु न पश्यिषू माम।।

५ परिनिवृत्त दृष्टव ममात्मभाव धातूषु पूजा विविधा करोन्ति।
मापच अषाश्यन्ति जनेन्ति तृष्णा ततोर्जुक चित्त प्रभोति तेषायम।।
ऋजू यदान्ते मृदुमार्दवाश्च उत्कृष्टकामाश्च भवन्ति सत्वा।
ततो अह श्रावकसघकृत्वा आत्मा दर्शेम्युहु गृद्धकूटे।।
एव च ह तेष वदामि पश्चात इहैव नाह तद अस्ति निर्वृत।
उपाय कौशल्य ममेति भिक्षव पुनोपुनो भोम्यहु जीवलोके।।

१ बुद्ध लोक के पिता और स्वयभू है जो सदा गृद्धकूट पर्वत पर निवास करते है और जब धर्मका उपदेश करना चाहते है तब भ्रूमध्य के ऊर्णा कोश से एक रश्मि (किरन) प्रसृत करते है जिससे अठठारह सहस्र बुद्ध क्षेत्र अवभासित होते है।

२ सहस्रकोटि कल्प व्यतीत हुए जिसका कि प्रमाण नही है जब मैने सम्यकज्ञान प्राप्त किया और मै नित्यधर्म का उपदेश देता हूँ।

३ मै सत्वो की शिक्षा के लिए उपाय का निदर्शन करता हूँ और उनको निर्वाणभूमि का दर्शन कराता हूँ। मै स्वय निर्वाण मे प्रवेश नहीं करता और निरन्तर धर्म का प्रकाश करता रहता हूँ।

४ पर विमूढचित्त पुरूष इसको नहीं देखते। यह समझकर कि मेरा निर्वाण हो गया है वे मेरे धातु की विध प्रकार से पूजा करते है पर मुझको नहीं देखते। उनमे एक प्रकार की स्पृहा उत्पन्न होती है जिससे उनका चित्त सरल हो जाता है। जब ऐसे सरल और मृदुसत्व शरीर का उत्सर्ग करते है तब मै श्रावकसघ को एकत्रकर गृद्धकूट पर्वत पर अपना दर्शन कराता हूँ और उनसे कहता हूँ कि मेरा उस समय निर्वाण नहीं हुआ यह मेरा केवल उपाय कौशल था मैं जीव लोक मे बार–बार आता हूँ।

नागार्जुन प्रज्ञापारमिता सूत्र के भाष्य मे कहते है कि तथागत धर्म का उपदेश करते रहते है पर सत्त्व अपने पापपुण्य के कारण उनके उपदेश को नहीं सुनते और न उनकी आत्मा को देखते हैं जैसे बहरे वज्र के निनाद को नही सुनते और अन्धे सर्प की ज्योति को नहीं देखते।[५६]

चीन के बौद्ध साहित्य मे भी त्रिकाय कारूप मिलता हे जा इस प्रकार है–

वैरोचन या ध्यानी बुद्ध धर्मकाय है। यह अरूपधातु मे निवास करते है।

लोचन या ध्यानी बोधिसत्व– यह रूपधातु मे निवास करते है। यह सभोगकाय है।

३ शाक्यमुनि (मानुषी बुद्ध) जिनका इस पृथ्वी पर लुम्बनी वन म शाक्य राजा शुद्धोदन के पुत्र क रूप मे जन्म हुआ। ये कामधातु मे निवास करते है। यही निर्वाणकाय है।[५७]

यदि बुद्धत्व की दृष्टि से विचार किया जए तो त्रिकाय की निम्नलिखित व्याख्या होगी–

१ बुद्ध का स्वभाव बोधि या प्रज्ञा–पारमिता या धर्म है। यही परमार्थ सत्य है। इस ज्ञान–सार के लाभ से निर्वाण का अधिगम होता है। इसलिए धर्मकाय निर्वाणस्थित या निर्वाण सदृश समाधि की अवस्था मे बुद्ध है।

बुद्ध जब तक निर्वाण मे प्रवेश नही करते तब तक लोक कल्याण के लिए वह पुण्यसभार के फलस्वरूप अपना दिव्य रूप सुखावती या तुषित लोक मे बोधिसत्वो को दिखलाते है। यह सभोगकाय है।

३ मानुषी बुद्ध इनके निर्माण काय हैं जो समय समय पर ससार मे धर्म की प्रतिष्ठा के लिए आते है।[५]

दार्शनिक दृष्टि से त्रिकाय का विवेचन इस प्रकार होगा–

१ धर्मकाय शून्यता या अलक्षण विज्ञान है।

२ सभोगकाय धर्मकाय का सत चित आनन्द या करुणा के रूप मे विकास मात्र है।

३ यही चित जब दूषित होकर पृथक जन के रूप मे विकसित होता है तब वह निर्माण काय कहलाता है।[५९]

नागार्जुन ने मध्यमकशास्त्र के तथागत परीक्षा नामक छठे अध्याय मे तथागत के विवेचन की आलोचना की है। उनके अनुसार निष्प्रपच तथागत के सम्बन्ध मे कोई भी कल्पना सभव नही है। तथागत न शून्य है न अशून्य न उभय और न नउभय। जो प्रपचातीत तथागत के सबध मे विविध प्रकार के परिकल्प करते है वे मूढ पुरुष तथागत को नहीं जानते अर्थात् तथागत की गुण समृद्धि के अत्यन्त परोक्षवर्ती है। जिस प्रकार जन्मान्ध सर्प को नही देखता इसी प्रकार वे बुद्ध को नहीं देखते–

प्रपचयन्ति ये बुद्ध प्रपचातीतमव्ययम।
ते प्रपचहता सर्वे न पश्यन्ति तथागतम।।[६०]

वे पुन कहते है कि तथागत का जो स्वभाव है वही स्वभाव जगत का भी है। तथागत नि स्वभाव है उसी प्रकार यह जगत भी नि स्वभाव है।

तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिद जगत।
तथागतो (नि स्वभावो) नि स्वभावमिद जगत।।[61]

एक सूत्र मे कहा गया है कि तथागत अनास्रव कुशल धर्म के प्रतिबिम्ब है न तथता है न तथागत सब लोको मे बिम्ब ही दृश्यमान है।

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नही कि तथागत मिथ्या है। नागार्जुन ने स्वय त्रिकायस्तव मे त्रिकाय के विविध रूपो की वन्दना की है जैसे पुष्पदन्ताचार्य ने महिम्नस्तोत्र मे भगवान शिव की वन्दना की है अथवा श्री रामचरित मानस मे गोस्वामी तुलसीदास ने श्री रामचन्द्र जी की वन्दना की है अत नागार्जुन की दृष्टि मे तथागत अभाव या मिथ्या नहीं है उनका अभिप्राय मात्र यह है कि वे बुद्धि विकल्पो और वाणी मे व्याख्यान से परे है। बुद्ध या तथागत नि स्वभाव है अर्थात वस्तु निबन्धन से मुक्त है और परमार्थ सत्य की दृष्टि मे तथागत और जगत् का यही यथार्थरूप है।

त्रिकाय की यह कल्पना जगत व्यापी है। हिन्दू धर्म मे वेदान्त का परमब्रह्म विष्णु और विष्णु के मानुषी अवतार (जैसे श्रीराम श्रीकृष्ण) क्रमश धर्मकाय सभोगकाय और निर्माण काय है।

ईसाई धर्म मे डोसेटिज्म नाम की विचारधारा ईसा मसीह के विषय मे ऐसी धारणा रखती है। उनके अनुसार ईसा का पार्थिक शरीर नही था– वे माता के गर्भ से नहीं उत्पन्न हुए थे वे मनुष्य सदृश दिखाई पडते थे किन्तु यह उनका माया निर्मित शरीर था। वे ससार मे उनकी उत्पत्ति और मृत्यु को वास्तविक घटना नहीं मानते। इनमे से कुछ ईसा के अस्तित्व को तो स्वीकार करते है परन्तु उनको पार्थिव न मानकर दिव्य मानते है। उनका यह विश्वास है कि ईसा सुख और दु ख से परे थे।[62]

सदर्भ

१ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २७६

२ तथाभावोऽविकारित्व सदैव स्थायिता। सर्वदानुत्पादेव त्यग्न्यादीना परिनिरपेक्षत्वाद् अकृतमत्वात् स्वभाव इत्युच्यते– माध्यमिककारिका वृत्ति (प्रसन्नपदा) पृ० २६५

३ या धर्माणा धर्मता सा देश्यमानापि तावत्येव अदेश्यमानापि तावदेव– अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ० १६६
उत्पादाद्वा तथागतानाम अनुत्पादाद्वा तथागताना स्थितैवैषा धमाणा धमता– शालिस्तम्ब सूत्र– द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २७६

४ अ चतु शतक वृत्ति पृ० ३२ ब अभिसमयालकारालोक पृ० ६२ द
सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २७७

५ हरिभद्र अभिसमयालकारालोक पृ० ६ वही पृ० २८०

६ माध्यमिक कारिका वृत्ति पृ० ५६२–५६३

७ चतु शतक कारिका १०१

८ महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री चतु शतक पृ० ४०७

६ बोधिचर्यावतार पञ्जिका पृ० ५६० द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २८३

१० बोधिचर्यावतार पजिका पृ० ४८८ वही पृ० २८४

११ श्लोक वार्त्तिक पृ० ६४– चौखम्बा सस्करण
दोषा सन्ति न सन्तीति पुवाचेषु हि शक्यते।
श्रुतौ कर्तुरभावान्नु दोष शग्डौ व नास्ति न ।। तत्व सग्रह पृ० ५८५

१२ वही ८२६–२७
यत्राप्यतिशयो दृष्ट सस्वार्थानतिलघनात्।
दूर सूक्ष्मादि दृष्टौ स्यान न रुपे श्रोत्र वृत्तिता।। श्लोक वार्त्तिक चोदना सूत्र ११४

१३ तत्त्व सग्रह पृ० ८२१

१४ वही पृ० ८४४

१५ सुगतो यदि सर्वज्ञ कपिलो नेति का प्रमा?
अथोभावपि सर्वज्ञौ मतभेदस्तयो कथम्।। वही पृ० ८२२

१६ तस्मादिन्द्रियार्थाना साक्षात् द्रष्टा न विद्यते।
वचनेन तु नित्येन य पश्यति स पश्यति।। वही पृ० ८२८

१७ या च रात्रि शान्तमते तथागतोऽनुत्तरा सम्यक्सम्बोधितम् अभिसम्बुद्ध या च रात्रिम् अनुपादाय परिनिर्वास्यति अत्रान्तरे तथागते नैकम्य क्षट नोदाहल न व्याहृतम् नापि प्रव्याहरति नापि प्रव्याहरिष्यति– माध्यमिककारिका वृत्ति पृ० २६६ए ५३६ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २८२

१८ प्रभास्वरम् इद चित्त तत्त्वदर्शन सात्मकम।
प्रकत्यैव स्थित यस्मान्मलास्त्वागन्तवो मता ।। वही ८६५।

१६ प्रत्यक्षीकत नैरात्म्ये न दोषो लभते स्थितिम।
तद्विरुद्धतयादीप्रे प्रदीपे तिमिर यथा।।

साक्षात्कतविशेषाच्च दोषो नास्ति स्ववासन ।

सर्वज्ञमत सिद्ध सर्वावरण मुक्तित ।। वही ३३८–३६

२० नोदाहृत त्वया किञ्चिद् एकमप्यक्षर विभो।

कत्स्नश्च वैनेय जनो धर्म वर्षेण तर्षित ।।

नागार्जुन कत चतु स्रव बोधिचर्यावतार पजिका पृ० ४२० पर उद्धृत– द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २८२

२१ चिन्तामणि कल्पतरु येथेच्छापरिपूर्ण ।

विनेय प्रणिधानाम्या जिनबिम्ब तथेच्छया।। बोधिचर्यावतार ६ ३६

२२ ये बुद्धस्य भगवतो विनेया तदुपाधिफलविशेषप्रतिलम्भहेतुकुशलकर्मपरिपाकात तदवशात प्रणिधानवशाच्च यत्पूव बोधिसत्त्वावस्थायाम् अनेकप्रकार भगवता सत्त्वार्थ सम्पादन प्रणिहित तस्याक्षेपवशात– कुलाल चक्रभ्रमणाक्षेप न्यायेनाभोगेन प्रवर्तनात्– बोधिचर्यावतार पजिका पृ० ४१६ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २८३

२३ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २८८

२४ वही २८८

२५ वही २८८

२६ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २८७–२८६

२७ अभिसमयालकारालोक ८१ पृ० ८१

२८ वही पृ ८१

२६ दीर्घनिकाय ३ पृ० ८४ इतिवुत्तक पृ० १०१ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० १०८

३० वही

३१ शान्तिदेव– बोधिचर्यावतार पृ० ३

३२ बौद्ध धर्मदर्शन पृ० ११३

३३ धर्मकाय की चार सपत्तियॉ हैं– १ ज्ञान सपत् २ प्रहाण सम्पत् ३ प्रभाव सम्पत और ४ रुपकाय सम्पत्

३४ वज्रच्छेदिका पृ० ४३ मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० ४४८ बोधिचर्यावतार पजिका पृ० ४२१

३५ यदुक्तभगवता– पृ० ११३ नरेन्द्रदेव

३६ बोधिचर्यावतार पजिका पृ० ३

३७ बोधिर्बुद्धत्वमेकानेकस्वभावविविक्तमनुत्पन्नानिरुद्धमनुच्छेदमशाश्वत सर्वप्रपचविनिर्मुक्तमाकाशप्रतिसम धर्मकायाख्य परमार्थतत्वमुच्यते। एतदेव च प्रज्ञापारमिता शून्यतातथता भूतकोटि धर्मधात्वारि शब्देन सवृतिमुपादाय अभिधीयते– बोधिचर्यावतार पजिका अध्याय ६ श्लोक ३८

३८ मध्यमकवृत्ति पृ० ३६५, बौद्ध धर्मदर्शन पृ० ११५

३६ डी०टी सुजुकी आउट लाइन्स ऑव महायान बुद्धिज्म पृ० २२३–२४

४० बुस्तॉ हिस्ट्री ऑव बुद्धिज्म भाग १ पृ० १२८–१२६ अभिसमयालकार श्लोक पृ० ५२३
द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २८५

४१ बौद्ध धर्मदर्शन पृ० ११६

४२ महायानसूत्रालकार ६ ६४

४३ येनशाक्यमुनितथागतादिरूपेण अससार सर्वलोक धातुसु सत्वानासमीहितर्थ सम करोति असौ काय प्रबन्धतया अनुपरतो नैर्माणिको बुद्धस्य भगवत सर्वबालजनसाधारणश्चतुर्थोऽवसातव्य –
करोति येन चित्राणि हितानि जगत समम।
आभवात्सोऽनुपच्छिन्न कायो नैमीणिको पुन ।। अभिसमयालकार वृत्ति स्फुटार्था ८/३३ पृ० ६१

४४ असग कत उत्तरतत्र पृ० २५४ ओवरमिलर का अनुवाद एक्टा ओरेण्टेलिया भाग ६ १६३१

४५ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २८६

४६ अभिसमयालकार वृत्ति स्फुटार्था ८/६ पृ० ८४

४७ तत्र य पुण्य सभार स भगवती सम्यक सम्बुद्धाना शतपुण्यलक्षणवतोऽद्भुताचिन्त्यस्य नानारूप्स्य रूपकायस्य हेतु धर्मात्मकस्य कायस्य अनुत्पादकलक्षणस्य ज्ञानसभारो हेतु । मध्यमकावतार टीका पृ० ६२–६३

४८ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ४३–४६

४६ बौद्ध धर्मदर्शन पृ० ११६

५० चतु शतकम् पृ० ६३

५१ अभिसमयालकारालोक ८/१२

५२ धर्ममित्र के ये विचार उनके ग्रन्थ प्रस्फुटपाद मे मिलते है जो मात्र तिब्बती मे उपलब्ध है

५३ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० १२०

५४ डॉ० राममोहनदास कत अनुवाद युक्त सद्धर्मपुण्डरीक

५५ अध्याय १५, तथागतायुष्प्रमाणपरिवर्त पृ० ३२७

५६ बौद्ध धर्मदर्शन अध्याय ६ पृ० १११

५७ बौद्ध धर्मदर्शन पृ० १२०

५८ वही पृ० १२१

५६ वही पृ० १२१

६० मध्यमकशास्त्र २२/१५

६१ वही २२/१६

६२ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० १२२

अध्याय—१०

नागार्जुन का प्रामाण्यवाद

अभी तक के विवेचन के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकत है कि नागार्जुन का माध्यमिक दर्शन एक ज्ञान मीमासात्मक व्यवस्था है तत्व मीमासात्मक दृष्टिकोण नहीं। परीक्षा कर ग्राह्य समझने[1] की भगवान बुद्ध की घोषणा का अवलम्बन कर नागार्जुन ने सारी बुद्धि कोटियो की परीक्षा कर इस निष्कर्ष पर पहुच कि सभी धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न होने के कारण सापेक्ष व्यवच्छेदनात्मक विरोधात्मक तथा स्वभाव शून्य है। उन की सत्ता सास्कृतिक है पारमार्थिक नही। परमार्थत सभी धर्म अनुत्पन्न हैं। तत्व अपरप्रत्यय शान्त प्रपचो से अनुवचित निर्विकल्प एव अनानार्थ लक्षण वाला है।[2] वह वाणी एव सविकल्प बुद्धि कोटियो से परे है तथता या बोधि है उसकी देशना नही हो सकती। इसी आधार पर उन्होने मध्यकशास्त्र के आदि मे तथा विग्रहव्यावर्तनी आदि ग्रन्थो मे तत्त्वत सभी पदार्थो का खण्डन किया है साथ ही प्रमाण—प्रमेय व्यवस्था का भी खण्डन किया है। प्रमाण प्रमेय की व्यवस्था करते हुए डॉ० नागार्जुन विग्रह व्यावर्तनी मे प्रतिपादित करते है कि यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणो द्वारा किसी की उपलिब्ध सभव हो तो उसका विधि या निरोधरूप से निर्वचन करना उचित होगा किन्तु जब किसी पदार्थ की उपलब्धि ही सभव नहीं तो दोष आने का क्या प्रयोजन? प्रमाण प्रमेय सापेक्ष शब्द हैं। प्रमेय की शून्यता सिद्ध कर दी गयी तो उसके साथ ही प्रमाण की भी शून्यता सिद्ध हो गयी अत परमार्थ की दृष्टि से प्रमेय और प्रमाण दोनो ही मिथ्या है। किन्तु व्यावहारत नही। सावृतिक दृष्टि से आचार्य नागार्जुन और प्रासगिक माध्यमिको को नि स्वभाव धर्मो का अस्तित्व स्वीकार है और उसी के आधार पर ससार एव निर्वाण तथा प्रमाण—प्रमेय की व्यवस्था भी की जाती है। नागार्जुन प्रासगिक माध्यमिक परमार्थत सभी धर्मो को प्रपचात्मक एव नि स्वभाव मानते हुए भी लोक मे वस्तुओ की जैसी सत्ता मानी जाती है सवृति के क्षेत्र मे उसी प्रकार की सत्ता मान लेते है और यह स्वीकार करते है कि अनुभव मूलक जगत् मे वस्तुओ का ज्ञान प्रमाणो द्वारा ही होता है। चन्द्रकीर्ति ने व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान के सभी रूपो एव बाह्य विषयो का समाहार करने के लिए न्याय—दर्शनिको के चारो प्रमाणो—प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द को

स्वीकार किया है।[3] और अपने ही सहोदर सौत्रान्तिक बौद्ध दाशनिको के प्रमाण द्वय सिद्धान्त का खण्डन करते है।[4]

चन्द्रकीर्ति प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बन्धी अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करने के पूर्व सौत्रान्तिक दाशनिका क प्रत्यक्ष विषयक सिद्धान्त का खण्डन करते है। वे सर्वप्रथम दिङनाग के न्यायमुख म प्रत्यक्ष की शाब्दिक व्याख्या अक्षम अक्षम प्रतिवर्तते इति प्रत्यक्ष शब्द की अलोचना इस आधार पर करते है कि यह शाब्दिक व्याख्या यह प्रसग उपस्थित करेगी कि प्रत्यक्ष वह है जो ज्ञानेन्द्रिय को अपना विषय बनाता हो।– प्रत्यक्ष शब्द व्युत्पादयति तस्य ज्ञानस्येन्द्रिया विषयत्वाद विषय विषयत्वाच्च न युक्ता व्युत्पत्ति। प्रतिविषय तुस्यात प्रत्यक्षमिति वा।[5] उनके अनुसार दिङनाग की प्रत्यक्ष की यह प्रत्यक्षकल्पना पोढम भ्रान्तम त्रुटिपूर्ण है। सौत्रान्तिको का यह कथन कि प्रत्यक्ष मे सभी स्म्बन्धो और विशेषणो से रिक्त मात्र स्वलक्षण का साक्षात्कार होता है तर्क ओर लौकिक अनुभव से प्रमाणित कुर्सी मेज और पखा आदि के साक्षात्कार दोनो की दृष्टि से अस्वीकार्य है।

सौत्रान्तिको का यह कथन कि मात्र गुण की सत्ता होती है गुणो के आश्रयभूत द्रव्य की नही द्रव्य तो नाम मात्र है उसका गुणो से अतिरिक्त अस्तित्व नही होता गलत है। क्योकि यह भी तो कहा जा सकता है कि द्रव्य पर सारे गुण आधारित है द्रव्य के अभाव मे गुण की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसलिए गुण के अस्तित्व की कल्पना भी मात्र लाक्षणिक अर्थ मे ही सिद्ध होती है।[6]

लोक व्यवहारागभूतो यदि नीलादि व्यतिरिक्तो नास्तीति कृत्वा तस्यौप चारित्व प्रत्यक्षत्व परिकल्प्यते नत्वेय सति पृथिव्यादि व्यतिरेकेण नीलादिकमपि नास्तीति नीलादेरस्यौप चारिक प्रत्यक्षत्व कल्प्यताम[7]

जिस प्रकार रूपादि से रहित घट का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता यह सही है इसी प्रकार घट से रहित रूप आदि का भी प्रत्यक्षीकरण नहीं होता–

> रूपादि व्यतिरेकेण यथा कुम्भो न विद्यते।
> वाटवादि व्यतिरेकेण तथा रूप न विद्यते।।

सौत्रान्तिक के प्रत्यक्ष विषयक सिद्धान्त का खण्डन कर चन्द्रकीर्ति नागार्जुन के प्रत्यक्ष की व्याख्या करते है कि प्रत्यक्ष' वह हैं जहॉ विषय इन्द्रिय के सम्पर्क मे साक्षात रूप मे आता है। उदाहरण के लिए हम चक्षुर आख द्वारा घट नीलादि का साक्षात्कार करते है। यही बात कान द्वारा ध्वनि के सुनने नासिका द्वारा सुगन्ध

का अनुभव करने आदि पर भी लागू होती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष विवेचन से माध्यमिक दार्शनिक पर्याप्त रूप मे न्याय दर्शन की प्रत्यक्ष की अवधारणा से सहमत है।[1]

चन्द्रकीर्ति भावविवेक के अविसवादम पूर्वगोचर ज्ञान प्रमाणम के स्थान पर अविसवाद कत्व कोही प्रमाण का लक्षण मानते है। क्योकि उनके अनुसार लोग व्यवहार मे मात्र सविसवादक को ही प्रमाण मानकर काय कलाप मे अग्रसर होते है। उनके लिए वस्तु (स्वलक्षण) की आवश्यकता नही। इसी प्रकार प्रत्यक्ष के लक्षण मे अभ्रान्त को व्यर्थ समझाते है। उनका कथन है कि जब चक्षु द्वारा रूप का ग्रहण होता है तो रूप के साथ ही साथ उसकी स्वाभाविक सत्ता का भी ग्रहण होता है जो कि वस्तुत गलत है। भ्रान्त तो चाक्षुष ज्ञान भी होता है क्योकि उसमे तत्व का अन्यथाग्रहण होता है। पृथग्जन का कोई भी ज्ञान भ्रान्तिपूर्ण होता है। अतएव विषधर जिसे प्रत्यक्ष का साक्षात्कारित्व व्यापार कहा जाता है। को प्रत्यक्ष मानने की व्यवस्था भी विषय से ही होनी चाहिए।

चन्द्रकीर्ति प्रत्यक्ष के केवल तीन भेद इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष एव योगि प्रत्यक्ष को मानते है स्वसवेदन को नही मानते। उनका कथन है कि ज्ञान अपने को प्रकाशित नही कर सकता क्योकि ज्ञान और ज्ञान परस्पर सापेक्ष है और जो अन्योन्याश्रित है उनका सवेदन नहीं हो सकता स्वसवेदन का अस्तित्व स्वलक्षण की सत्ता पर अवलम्बित है किन्तु जब ज्ञान और ज्ञेय दोनो ही नि सवभाव तथा अन्योन्याश्रित है तो सवेदन का अस्तित्व कैसे हो सकता है। चन्द्रकीर्ति प्रमाण स्वरूप आर्यरत्नचूड परिपृच्छा का वचन उद्धृत करते है जहॉ बोधिसत्व चित्त धारा का उद्गम जानना चाहता है। वह सोचता है कि चेतना विषय के होने पर ही होती है तो क्या चेतना और उसका विषय दो वस्तुए है? अथवा दोनो एक है? यदि चेतना और विषय भिन्न है तो दो चेतनाए हो जाती है और यदि चेतना और विषय अभिन्न है तो चेतना चेतना को कैसे देख सकती है? भला असिधारा (तलवार की धार) क्या अपने को काट सकती है। क्या उगली की नोक अपने को ही छू सकती है? अत चेतना अपने को नहीं देख सकती। इस प्रकार बोधिसत्व अन्तत इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि चेतना न तो उत्पन्न है न अनुत्पन्न है न सद्रूप है न असद्रूप है आदि। चन्द्रकीर्ति ने उक्त आगम वचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि स्वसविति का अस्तित्व नहीं है।[1]

चन्द्रकीर्ति ही नही और भी बहुत से बौद्ध दार्शनिक है जो न्यायदर्शन के प्रमाण–चतुष्टय सिद्धस्त को मानते है उपायहृदय अथवा 'प्रयोगसार के लेखक फागपिएनत्सिनलुन जो नागार्जुन के पहले के हीनयानी हैं

वे भी नैययायिको द्वारा प्रतिपादित प्रमाण चतुष्टय सिद्धान्त को मानते थ और योगाचार का प्राचीन सम्प्रदाय बिना किसी कारण का उल्लेख किए उपमान को प्रमाण की सूची से हटा देता है।[1]

अनुमान आप्तवचन और उपमान के लक्षण नागार्जुन के अनुयायी चन्द्रकीर्ति और अन्य प्रासगिक दार्शनिक न्याय के ही लक्षण को स्वीकार करते हैं अैर अनुमान का लक्षण निम्नलिखित रूप मे करते है–

परोक्ष विषय तु ज्ञान साध्याव्यभिचारि लिगोत्पन्नम अनुमानम[12]

अनुमान परोक्ष विषय का ज्ञान वह ज्ञान उस हेतु से उत्पन्न होता है जो सदैव साध्य के साथ उपलब्ध होता है।

साक्षादतीन्द्रियार्थ विदामात्राना यद्वचन स आगम[13] तथा

अतीन्द्रिय विषयो को जो लोग साक्षात जानते है उनका वचन आगम प्रमाण है।

सादृश्यादननुभूतार्थाधिगम उपमान गौरिव गवय इति यथा[14]

जिस विषय का अनुभव (प्रत्यक्ष) नही हुआ है उसका जो ज्ञान सादृश्य के द्वारा होता है उपमान प्रमाण है जैसे– नीलगाय गाय के सादृश है।

इस प्रकार उपर्युक्त चार प्रमाणो द्वारा नागार्जुन और उनके अनुयायी सावृति सत्य (व्यावहारिक जगत का ज्ञान प्राप्त करते है।)

काण्ट की भी ठीक यही स्थिति है वह व्यवहार के स्तर पर देश काल और द्रव्य आदि वर्गणाओ की सत्ता स्वीकार करता है किन्तु तत्त्वत उन्हे असत् मानता है।

अब हमे यह देखना है कि नागार्जुन के दर्शन मे परमार्थ का ज्ञान कैसे होता है।

सवृति का यथार्थ ज्ञान भी कितना कठिन है इसकी अनुभूति हमे दैनिक जीवन मे होती है। प्रत्यक्षाभास हेत्वाभास आगम के सग्यग्ज्ञान की कमी उपमान के घटको की मिथ्यावधारणा इन्द्रियो की विकलागता तथा ज्ञेय वस्तु की देशकालान्तर्गत स्थिति हमे सवृति का सही रूप मे ज्ञान नही होने देती फिर देशकाल स्वभावातीत अनन्त परमार्थ का ज्ञान कितना कठिन होगा इसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। परमार्थ का सम्यग्ज्ञान परमार्थ पुरुष (सम्यग्सम्बुद्ध भगवान्) बुद्ध द्वारा ही सभव है किन्तु उसके अल्प ज्ञान के लिए भी साधक को कोटि जन्मो तक साधना करनी पड सकती है

कोटि कोटि मुनि जतन कराहीं। अन्त राम कहि आवत नही।

हीनयान मे भी निर्वाण प्राप्त करने के लिए शील समाधि और प्रज्ञा तथा अष्टागिक मार्ग की साधना करनी पडती है। फिर महायान का मार्ग तो और कठिन है जहॉ अधिक व्यक्तिगत मुक्ति से ही सतुष्ट नहीं है अपितु सपूर्ण जगत की मुक्ति और दु ख निवृत्ति को अपना लक्ष्य मानता है। जिसके लिए साधक को बुद्धचर्या का व्रत करना पडता है जिसके विविध अगो का निरुपण अपेक्षित है।

बोधिचित्त तथा बोधिचर्या

साधक का यह दृढ विश्वास है कि सासारिक साधनो से ससार और उसकी वस्तुओ के प्रति हमारी आसक्ति कम होने के बजाए बढती जाती है और ससार से निवृत्ति (मुक्ति) का एकमात्र मार्ग प्रज्ञा जो प्रतीत्यसमुत्पाद के यथावत् अविपरीत भावना ज्ञान तथा क्लेशावरण और ज्ञेयावरण रूपी अधकार की प्रतिपक्ष भूता शून्यता है। इस दृढ विश्वास से हमारे मस्तिष्क मे बोधिचित्त के उत्पाद का श्रीगणेश होता है–

अविद्याया निरुद्धाया सस्काराणाम असभव

अविद्यायास्निरोधस्तु ज्ञानेनास्यैव भावनात।।[१६]

अस्यैव प्रतीत्य समुत्पादस्य यथावत् अविपरीत भावनाऽतो अविद्या प्रहीयते।[१७]

क्लेश ज्ञेयावृत्ति तम प्रतिपक्षो हि शून्यता।

शीर्घ सर्वज्ञताकामो न भावयति ता कथम्।।[१]

परमार्थ दर्शनेच्छु साधक को यह सोचना चाहिए कि मानव देह दुर्लभ है। इसी मे परम पुरुषार्थ अभ्युदय और नि श्रेयस् की प्राप्ति के साधन उपलब्ध होते हैं। यह मनुष्य शरीर नरक स्वर्ग और मोक्ष की सीढी है तथा कल्याणकारी ज्ञान वैराग्य और भक्ति को देने वाला है।

नर तनसम नहि मौनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही।

सरग नरक अपवर्गनिसेनी। ज्ञान विराग भक्ति सुख देनी।।[१९]

मनुष्य जन्म मे भी अकुशल पक्ष मे अभ्यस्त होने के कारण साधारण तथा मनुष्य की बुद्धि शुभकर्म मे रत नही होती। पुण्य पाप की अपेक्षा सदैव ही अत्यन्त दुर्बल है। ऐसी अवस्था मे प्रबल पाप किसी और अधिक शक्तिशाली पुण्य द्वारा ही विजय प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार मेघाच्छादित गगनमण्डल मे रात्रि के

समक्ष क्षणिक विद्युत्प्रकाश से किसी वस्तु का ज्ञान होता है उसी प्रकार अन्धकार से घिर इस ससार मे भगवत्कृपा से ही क्षणमात्र के लिए मानव बुद्धि शुभ कर्मो मे प्रवृत्त होती है फलस्वरूप बलवान पुण्य का प्रादुर्भाव होता है और यह बलवान पुण्य बोधिचित्त है जो प्राणिमात्र के उद्धार के उद्देश्य से बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सम्यग्सबोधि मे प्रतिष्ठित होना है जो श्रावक की तरह जीव दु ख का अत्यन्त निरोध (निवाण) चाहते है जो बोधिसत्वो की भाति अपना ही नहीं अपितु प्राणिमात्र का दु ख दूर करना चाहते है और जिनको दु खापयनमात्र नही अपितु ससार मात्र के सुख की अभिलाषा है उन्हे बोधिचित्त मे प्रतिष्ठित होना चाहिए। शान्ति देव के शब्दो मे ससार सागर को दु ख के पार जाने वाले प्राणियो के दु ख को दूर करने की इच्छा रखने वाले तथा अनेकानेक सुख की आकाक्षा वाले मानव को बोधिचित्त का कभी परित्याग नही करना चाहिए।[२]

भवदु ख शतानि तर्तुकामैरपि सत्त्वव्यसनानि हर्तुकायै।

बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्य हि सदैव बोधि चित्तम।।

जिस प्रकार किसी गुफा का सहस्रो वर्षो से सञ्चित अधकार वहॉ दीपक जलाते ही नष्ट हो जाता है और सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है उसी प्रकार बोधिचित्त और जन्मो के सचित पथ को नष्ट कर ज्ञान का प्रकाश करता है। यह केवल सभी प्रकार के शुभ का सचय मात्र नहीं है अपितु इसके प्रादुर्भाव के पूर्व किए गए समस्त दारुण और महान पापो का एकक्षण मे विनाश करता है।[३१] इसके स्वरूप का वर्णन करते हुए बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि यह सब पापो के निर्मूल करने का महान उपाय है। यह एतत फल देने वाला कल्पवृक्ष है एकल दारिद्रय को दूर करने वाला चिन्तामणि है और सबका अभिप्राय पूर्ण करने वाला भद्रघट है। आर्यगण व्यूह सूत्र मे भगवान् अजित ने स्वय कहा है कि सब बुद्ध धर्मो का बीज बोधि चित्त है और यही महायान धर्म की शिला की मूल भित्ति है।

बोधिचित हि कुलपुत्र बीजभूत सर्वबुद्ध धर्माणाम।[३२]

बोधिचित्त दो प्रकार का है–

१ बोधिप्रणिधिचित्त   २ बोधिप्रस्थान चित्त।

१ बोधिप्रणिधिचित्त प्रणिधान का अर्थ ध्यान अथवा कर्म फल का त्याग। जब मन मे यह इच्छा उत्पन्न होती है कि मैं जगत के कल्याण के लिए बुद्ध होऊ तो वह बोधिप्रणिधि चित्त की अवस्था है। यह प्रारम्भिक

अवस्था है। महायान का पथिक होने की इच्छा मात्र हुई उस मार्ग पर पथिक ने प्रस्थान नही किया। मया बुद्धेन भवितव्यम इति चित्त प्रणिधानाद उत्पन्न भवति।[23]

२ **बोधिप्रस्थानचित्त** वह अवस्था है जब साधक का सब प्राणियो के कल्याण हेतु बुद्धत्व की प्राप्ति हेतु सकल्प कार्यरूप मे परिणत हो जाता है और साधक उस मार्ग पर चल पडता है। शूरगम सूत्र मे कहा गया है कि ऐसे प्राणी ससार मे दुर्लभ है जो सम्बोधि प्राप्ति के लिए प्रस्थान कर चुके है।

सप्तविध अनुत्तर पूजा

बोधिचित्त उत्पन्न होने के लिए सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान है। धर्मसग्रह के अनुसार इसके निम्नलिखित सात अग है–

१ वदना
२ पूजना
३ पापदेशना
४ पुण्यानुमोदन
५ अध्येषणा
६ बोधिचित्तोत्पाद
७ परिण्यमना।

प्रज्ञाकर मति के अनुसार इसके निम्नलिखित आठ अग हैं–

१ वदना
२ पूजना
३ शरण गमन
४ पापदेशना
५ पुण्यानुमोदन
६ बुद्धाध्येषणा
७ याचना और
८ बोधिपरिणामना।

बोधिचित्त ग्रहण के लिए सबसे पहले बुद्ध सद्धर्म तथा बोधिसत्वगण की पूजा अविद्या है। यह मनोमय पूजा है।

मनोमयपूजा साधक कहता है कि मैने पुण्य नही किया मै महादरिद्र हूँ इसलिए पूजा की कोई सामग्री मेरे पास नहीं है।

भगवान् महाकारुणिक है सर्वभूतहित मे रत है। अत इस पूजोपकरण को नाथ ग्रहण करे। अकिचन होने के कारण आकाशधातु का जहॉ तक विस्तार है तात्पर्यन्त निरवशेष पुष्प फल भैषज्य रत्व जल रत्वमय पर्वत वन प्रदेश पुष्पलता वृक्ष कल्पवृक्ष मनोहर वशक तथा जितनी अन्य उपहार वस्तुए प्राप्त है उन सबको बुद्धो तथा बोधिसत्वो के प्रति वह दान करता है यही अनुत्तर दक्षिणा है। यद्यपि वह अकिचन है यह आत्मभाव उसकी निजी सम्पत्ति है उस पर उसका स्वामित्व है इसलिए वह बुद्ध को आत्मभाव समर्पण करता है।

अपुण्यवानस्मि महादरिद्र पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किचित।

अतो मर्माथाय परार्थचित्ता ग्रहणन्तु नाथा हृदमात्म शक्त्या।।[२४]

३ **पूजा** मनोमय पूजा के अनन्तर साधक बुद्ध बोधिसत्व सद्धर्म चैत्य आदि की स्नान कराकर दिव्य वस्त्र और आभूषण पहनाकर तथा सुगन्धित फूल माला पहनाकर धूप दीप और नैवेद्य अर्पित करता है।

४ **पापदेशना** साधक कायिक वाचिक और मानसिक जो भी पाप किया है अथवा दूसरे सेकराया है अथवा जिनका अनुमोदन किया है उन सबको वह बुद्ध के समक्ष प्रकट करता है और प्रर्थना करता है कि भगवन मेरी रक्षा करो। जब तक मै पाप का क्षय न कर लूँ तब तक मेरी मृत्यु न हो नही तो मै दुगर्ति मे पड़ूँगा।

५ **पुण्यानुमोदन** इसके अनन्तर साधक सभी प्राणियो के लौकिक शुभ कर्म का प्रसन्नता पूर्वक अनुमोदन करता है।

६ **बुद्धाध्येषणा** इसके बाद साधक हाथ जोडकर सभी दिशाओ मे स्थित बुद्धो से प्रार्थना करता है कि अज्ञानान्धकार से ग्रस्त जीवो के उद्धार के लिए भगवान् धर्म की देशना करे। यही बुद्धाध्येषणा है।

७ **बुद्धयाचना** इसके अनन्तर साधक जिनो से याचना करता है कि वे अभी परिनिनर्वाण मे प्रवेश न करे जिससे यह लोक मार्ग का ज्ञान न होने से निश्चेतन न हो जाए।[२५]

८ **बोधिपरिणामना** इसके अनन्तर साधक प्रार्थना करता है कि उपर्युक्त क्रम से अनुत्तर पूजा करने से जो सुकृत मुझे प्राप्त हुआ है उसके द्वारा मै समस्त प्राणियो के सभी दु खो को शान्त करने मे समर्थ होऊ और उनको सम्यक ज्ञान की प्राप्ति कराऊ यही बोधि परिकामना है।[२६]

पारमिताओ की साधना

पारमिता की व्युत्पत्ति को लेकर दार्शनिको मे मतभेद है।[२७]

१ बोधलिक रॉथ मॉनियरविलियम्स ई बर्नूफ हॉडसन और एम० वासलीफ के अनुसार यह दो शब्दो से बना है—

पारम् दूसरा किनारा परवर्ती किनारा (अनन्त)

गता इत गया– जो नदी के उस पार (निर्वाण) चला गया जो ससार समुद्र के उस पार चला गया और

२ एफ०डब्ल्यू० टॉमस राइज डेविडस और डब्ल्यू० स्टीज का यह मत है कि यह शब्द परम से निगमित है जिसका अर्थ अत्यन्त दूर अन्तिम सर्वोच्च प्रथम सर्वोत्कृष्ट विशिष्ट उत्तम महत्तम मुख्य प्राथमिक प्रमुख और प्रकृष्ट है।

(सर विलियम्स की सस्कृत डिक्शनरी ५३५ए)

चीनी और तिब्बती अनुवादक डॉ० ई०जे० ईटल और प्रो० टी०आर०वी० मूर्ति प्रथम को प्रमुखता देते है। चन्द्रकीर्ति और अभिसमयालकारा लोक भी इसी की पुष्टि करते हैं–

पार प्रकर्षपर्यन्तम इतीति विगृह्यक्विदि सर्वापहारिलोपेऽनित्यम आगमशासनम हत्युक्ति तत्पुरुषे कृति बहुलतम हत्यलुकि च कर्मविभक्ते कृते पारमिस्तद्भव पारमिता। प्रज्ञाया धर्मप्रविचयलक्षणाया पारमिता मुख्या बुद्धो भगवान मायोपम ज्ञानम अद्वयम।[२]

इसके विपरीत डॉ० हरदयाल दूसरे मत का समर्थन करते है और अपने समर्थन मे बोधिसत्व भूमि को उद्धृत करते है जिसके अनुसार पारमिता इन्हे इसलिए कहा जाता है क्योकि बहुत अधिक कालतक साधना करने के अनन्तर कोई साधक इसे ग्रहण करपाता है (परमेण कालेन समुदागता) और वे स्वभावत अतिविशुद्ध है (परमया स्वभावशिुद्धया विशुद्धा) और वे श्रावक तथा प्रत्येक बुद्ध के सदगुणो या विशेषताओ के बहुत ऊपर उठते है और सर्वोत्तम फल (निर्वाण) की प्राप्ति कराते हैं। (परम च फलम अनुप्रयच्छन्ति)

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता भी इस अर्थ का प्रतिपादन करती प्रतीत होती है[२५]– परमतत्व (सर्वश्रेष्ठता) के कारण यह प्रज्ञापारमिता कही जाती है।

(परमत्वात प्रज्ञापारमिता नामधेय लभते)।

१ पारमिताओ की सख्या मुख्यत ६ है किन्तु परवर्ती साहित्य दशभूमिक सूत्र आदि मे साधना की दस भूमियो को ध्यान मे रखकर इनकी सख्या दस हो गयी जिससे साधक प्रत्येक भूमि मे एक एक पारमिता का अभ्यास करे।[३]

२ और इसका एक दूसरा कारण यह भी बताया जाता है कि हीनयान के पालि साहित्य मे वर्णित दस पारमिताओ के अनुकरण पर महायान मे भी इनकी सख्या दस कर दी गयी।[31] पालि मे निम्नलिखित दस पारमिताए है–

१ दान २ शील ३ इनेक्म्म (त्याग) ४ पज्जा (प्रज्ञा) ५ विरिध (वीर्य) ६ ष्वन्ति (सहनशीलता) ७ सच्च (सत्य) ८ अधिष्ठापन्न (सकल्प) ६ मेत्ता (मित्रता) १० उपक्खा (उपेक्षा)।

३ ए०फ० आख होर्नके के अनुसार तीसरी शताब्दी ईसवी मे दशमलो प्रणाली के आविष्कार के कारण प्राय सर्वत्र दस मे वर्गीकरण होने लगा इसी कारण षडपारमिताए भी दस पारमिताए हो गयीं।[32] पारमिताओ की व्युत्पत्ति के विवेचन के बाद अब हम पारमिताओ के स्वरूप का विवेचन करेगे–

१ दानपारमिता

बोधिसत्व बोधिचित्तोत्पाद के अनन्तर शिक्षा ग्रहण के लिए विशेष रूप से यत्नशील होता है। वह पहली पारमिता दान पारमिता का अभ्यास करता है। सब वस्तुओ का सब जीवो के लिए दान और दानफल का भी परित्याग दान पारमिता है। जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसको वह वस्तु बिना शोक किए बिना फल की आकाक्षा के और बिना प्रतिसार के दे दे।

अशोकचन्न विप्रतिसारी अनिपान प्रतिकाक्षी परित्यक्ष्यामि।

२ शील पारमिता

शील का अर्थ प्राणितिपात (हत्या) आदि सब गर्हित कार्यो से चित्त की विरति इसलिए शील पारमिता मे चित्त को सभी प्रकार की हिसा से मुक्त रखने के अभ्यास पर बल दिया जाता है। सबके हित की चिन्ता करे सबका आदर करे किसी का अपमान न करे ईर्ष्या द्वेष का त्याग करे पराग के गुण को स्नेहपूर्वक सुने कर्कश वाणी न बोले मस्तिष्क को मनसा वाचा कर्मणा निर्विकार और शान्त रखे यही शील पारमिता है।

३ क्षान्ति पारमिता

अवस्था मे चित्त मे सर्वोत्कृष्ट सहनशक्ति (सहनशीलता) का विकास किया जाता है। अत्यधिक क्षति और अपमान होने पर भी क्रोध और द्वेष चित्त मे प्रवेश न करे। यह तीन प्रकार की है–

१ **दु खाधिवासनाक्षान्ति** यह वह क्षान्ति है जब अत्यन्त विपत्ति पडने पर भी मन मे दुभावना (दौमनस्य) न उत्पन्न हो अपितु चित्त मे प्रसन्न बनी रहे। दु खादि दु ख की अवस्था मे भी मुदिता (प्रसन्न चित्रता) बनी रहनी चाहिए।

२ **परापकार भषर्ण क्षान्ति** दूसरे के द्वारा किए गए अपकार (हानि) को सहन करना तथा उससे बदला (प्रत्यपकार) न लेना। कटुता आकाश का स्वभाव नही है धूम का है। इसलिए धूम से द्वेष करे न कि आकाश से। अत व्यक्तियो पर क्रोध न कर दोषो पर क्रोध करना चाहिए।

३ **धर्मनिध्यानक्षान्ति** दु ख दो प्रकार के होते है कायिक और मानसिक शरीर पर किसी प्रकार का प्रहार कायिक दु ख है और गाली अपमान वित्तहानि आदि मानसिक दु ख है। इन दोनो दु खो की अवस्था मे चित्त को शान्त और विक्षोभ रहित बनाए रखना धर्मनिध्यान क्षान्ति है। जिस प्रकार किसी घर मे आग लगने पर लोग उस आग को न फैलने देने के उद्देश्य से वहाँ रखे भूसा लकडी आदि को वहा से तुरन्त हटा देते है उसी प्रकार जिस वस्तु के सपर्क से चित्त उद्विग्न हो उसे चित्त से तुरन्त हटा देना चाहिए।[३३] बोधिसत्व को कायिक और मानसिक दोनो प्रकार के दु ख नहीं होते। पाप से विरत होने के कारण कायिक दु ख नही होता। धर्मनैरात्म्य और पुद्गल नैरात्म्य के कारण मानसिक दु ख भी नही होता। मिथ्या कल्पना से मानसिक और पाप से कायिक व्यथा होती हे। पुण्य से शरीर सुख और यथार्थज्ञान से मानसिक सुख मिलता है। जो दयामय है और जिसका जीवन परमार्थ के लिए ही है उसे भला कौन सा दु ख हो सकता है।[३४]

४ **वीर्य पारमिता** वह पारमिता है जब चित्त मे निरन्तर कुशल करने मे उत्साह बना रहता है। कुशल मे उत्साह का होना ही वीर्य का होना है। इसके विपरीत आलस्य कुत्सित मे आसक्ति विषाद और आत्म अवज्ञा है। जो क्षमी है वही वीर्यकार्य कर सकता है। वीर्य मे बोधि प्रतिष्ठित है। वीर्य के बिना पुण्य नही है जैसे वायु के बिना गति नही है। वीर्य पारमिता मे उत्तरोत्तर अग्रसर होने के लिए बोधिसत्व के पास एक बालव्यूह होता है जिसमे चार विशेषताए होती है– १ छन्द २ स्थाम ३ रति और ४ मुक्ति।

१ **छन्द** कुशल कर्म करने की अभिलाषा– इस भय से कि अशुभ कर्म से दु ख उत्पन्न होता है और यह सोच कर कि शुभ कर्म द्वारा अनेक प्रकार से मधुर फलो की उत्पत्ति होती है मनुष्य को कुशल कर्म की अभिलाषा होनी चाहिए।

२ **स्थाम** आरब्ध की दृढता को कहते है। कुशल करने मे जो उत्साह प्रारम्भ मे रहता है वह क्षणिक नही होना चाहिए अपितु अत्यन्त सुदृढ होना चाहिए।

३ **रति** सत्कर्म मे आसक्ति और

४ मुक्ति का अर्थ उत्सर्ग है।

यह बलव्यूह वीर्यपारमिता की साधना मे चतुरगिनी सेना का काम करता है। इसके द्वारा आलस्यादि दुर्गणो पर विजय प्राप्त कर कुशल कर्मो मे उत्साह वर्धन करना चाहिए।[35]

५ **ध्यान पारमिता** वीर्य की वृद्धिकर अर्थात कुशल कर्मो मे उत्साह को निरन्तर बढाते हुए समाधि मे मन को आरुढ करे अर्थात– चित्तैकाग्रता के लिए प्रयत्नशील हो क्योकि अस्थिर चित्त व्यक्ति वीर्यवान अर्थात सकुशल कर्मो मे उत्साही होता हुआ भी वासनाओ के वशीभूत हो जाता है। साधक को यह सोचना चाहिए कि जिसने चित्तैकाग्रता द्वारा यथाभूत तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है वही क्लेशादि दु खो का प्रहाण कर सकता है। ऐसा सोच कर क्लेश–मुमुक्षु सर्वप्रथम शमथ अर्थात चित्तैकाग्रता उत्पन्न करने का यत्न करे। क्योकि जो समाहित चित्त है और जिसे यथाभूत तत्वज्ञान की प्राप्ति हुई है उसकी बाह्य चेष्टाए शान्त हो जाती है और शमथ के होने से चित्त चचल नहीं होता।[36]

इस शमथ या चित्तैकाग्रता के फलस्वरूप यथाभूत ज्ञानोत्पत्ति मे सामर्थ्य उत्पन्न होती है।[37] और इस यथाभूत ज्ञान के फलस्वरूप यथाभूत दर्शी बोधिसत्व के हृदय मे प्राणियो के प्रति महाकरुणा जगती है और इस महाकरुणा के जागने से शील समाधि और प्रज्ञा से सम्पन्न हो बोधिसत्व सम्यक सम्बोधि प्राप्त करता है।

सदर्भ

१ तापाच्छेदाच्चनिकषात् सुवर्णमिव पण्डितै ।
परीक्षा भिक्षवो ग्राहय मद्वच न तु गौरवात्।।
तत्त्व सग्रह पजिका पृ० १२

२ अपर प्रत्यय शान्त प्रपञ्चैरप्रवचितम्।
निर्विकल्पम् अनानार्थम् एतत्तवस्य लक्षणम्।।

३ तदैव प्रमाण चतुष्टया ललोकस्थायीधिगमो व्यवस्थाप्यते– चन्द्रकीर्ति प्रसन्नपदा।
माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी आव नागार्जुन पृ० ६०

४ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २५०

५ मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० २४

६ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २५०

७ मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० २४

८ चतु शतक १४ ४०

६ मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० २४

१० मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० २१ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप पृ० ६६

११ माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड दि फिलासफी आव नागार्जुन पृ० ७३

१२ डॉ० हरिशकर सिह का लेख नागार्जुन के प्रासगिक मत की प्रमाण–प्रमेय व्यवस्था।

१३ मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० २५

१४ वही

१५ तदेव प्रमाण चतुष्टयाल्लोकस्यार्थाधिगमो व्यवस्थाप्यते वही पृ० २५

१६ मध्यमकशास्त्र १७ ११

१७ मध्यमकशास्त्र वृत्ति पृ० ५५६

१८ बोधिचर्यावतार ६ ५५

१६ गोस्वामी तुलसीदास कत रामचरित मानस उत्तरकाण्ड

२० शान्तिदेव बोधिचर्यावतार १८

२१ बौद्ध धर्म का दर्शन पृ० १८५

२२ आर्य गण्डव्यूह सूत्र बौद्ध धर्म दर्शन पृ० १८६

२३ शिक्षा समुच्चय पृ० ८

२४ बोधिचर्यावतार २ ७१

२५ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० १८८

२६ डॉ० हरदयाल द बोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट सस्कृत लिटरेचर पृ० १६६

२७ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २६२

२८ अभिसमयालकार लोक पृ० २८ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २६२

२६ अष्ट साहस्रिका प्रापारमिता पृ० ८१

३० द बोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन सस्कत बुद्धिस्ट लिटरेचर पृ० १६६

३१ वही पृ० १६७

३२ वही पृ० १६७

३३ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० २००

३४ वही पृ० २०६

३५ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० २०८

३६ वही पृ० २०८

३७ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० २१३

अध्याय—११

प्रज्ञापारमिता

प्रज्ञापारमिता अभी तक हमने दान शील क्षान्ति वीर्य और ध्यान पारमिताओ का वर्णन किया है अब हम अत मे प्रज्ञापारमिता का वर्णन करेगे। यह बोधिसत्व की उत्कृष्टतम साधना है। इसे धर्मधातु भी कहते है।[1] जब शून्यता दृष्टि द्वारा बुद्धि के समग्र सप्रत्यायात्मक चिन्तन का अन्त हो जाता है तो प्रज्ञा का अभ्युदय होता है। उसे धर्म स्कन्ध का आयतन समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। वे परमतत्व को समझने के उपाय मात्र हैं उनसे परमतत्व का अधिमय नही हो सकता। परमार्थ का बोध तो प्रज्ञापारमिता द्वारा होता है जो समस्त धर्मो के अनुपलम्भ अग्रहण अथवा अप्राप्ति और परमशान्ति का नाम है। (योऽनुषालम्भ सर्वधर्माण्यम)। अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र में[2] भगवान बुद्ध सुभूति से कहते है— हे सुभू! यह प्रज्ञापारमिता स्कन्ध धातु अथवा आयतनो द्वारा नही समझाई जा सकती है और न सुनाई जा सकती है।

यह मानव के साधारण ऐन्द्रिय अनुभव से सर्वथा भिन्न है जहॉ ज्ञाता और ज्ञेय विषयी और विषय का द्वित्वबल रहता है। वस्तुत इस अवस्था मे इसके अतिरिक्त किसी का अस्तित्व ही नहीं इसलिए इसे अद्वया और अद्वैधीकारा (अविभक्त) कहा गया है। किन्तु यह भी वर्णन अपूर्ण है इसे यो कहना चाहिए कि तत्व और तत्व के विषय अभिन्न और एकरूप है इसलिए प्रज्ञापारमिता को अपार (गभीर) अमाप्य (अप्रमेय) और अनन्त (असख्येया) कहा गया है। वस्तुत न तो शब्दो द्वारा इसका वर्णन किया जा सकता है न किसी मापयत्र द्वारा इसको मापा जा सकता है और न किसी गणितीय प्रणाली द्वारा इसका आगणन किया जा सकता है। वस्तुत यह नाम पद और सज्ञा द्वारा अस्पृश्य होने के कारण वर्णनतीति और प्रमाणओ द्वारा अस्पृश्य होने के कारण प्रमाणातीत है।

न मया आनन्द प्रज्ञापारमितााया प्रमाण वा कस्यवा पर्यन्तो वा आख्यात। नामकाय पदकाय व्यज्जनकाया खलु पुनरानन्द! प्रमाण बद्धा नेय प्रज्ञा पारमिता प्रमाण बद्धा[3]

इस अवस्था मे चित्त ज्ञेयावरण और क्लेशावरण आदि से मुक्त हो पूर्ण रूप से पारदर्शी हो जाता है यह परम तत्व से अभेद की अवस्था है। यहॉ ज्ञाता और ज्ञेय परम तत्व और प्रज्ञा एकरूप हो जाते है। यह वह अवस्था है जहा ज्ञाता ही ज्ञेय है और ज्ञेय ही ज्ञाता है। यहॉ बुद्धिकल्पित ज्ञाता और ज्ञेय का भद मिट जाता है। तत्र कोमोह कत शोक एकत्वमनुपश्यत ।[४]

यह अवस्था तब आती है जब यह बोध उत्पन्न होता है कि भावो की उत्पत्ति न स्वत होती है न परत होती है न उभयत होती है और न अहेतुत होती है। उस समय किसी का व्यवहार नही रह जाता। उस समय इस परमार्थ सत्य की प्रतीति होती है कि दृश्यमान वस्तुजगत माया के सदृश है। स्वप्न और प्रतिबिम्ब की तरह अलीक और मिथ्या है केवल व्यवहार दशा मे उसका सत्यत्व है। जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है वह सावृत स्वरूप है। यथाभूत दर्शन से इस अनादि ससार प्रवाह का यथावस्थित सावृत स्वरूप उद्भावित होता है। व्यवहार दशा मे ही प्रतीत्यसमुत्वाद की सत्ता है पर परमार्थदृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद धर्मशून्य है क्योकि परमार्थ मे भावो का स्वकृतत्व परकृतत्व और उभयकृतत्व निषिद्ध है। वास्तव मे सब शून्य ही शून्य है सब धर्म स्वभाव से अनुत्पन्न है। यह ज्ञान आर्यज्ञान कहलाता है। तब इस ज्ञान का उदय होता है तब अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या के निरोध मे सस्कारो का निरोध होता है। इस प्रकार पूर्व कारणभूत के निरोध से उत्तरोत्तर कार्यभूत का निरोध होता है। अन्त मे दु ख का निरोध होता है।[५]

प्रज्ञा द्वारा सर्वधर्मो की नि स्वभावता सिद्ध होती है और प्रत्यवेक्षमाण जगत स्वप्नमायादिवत हो जाता है तब इस ज्ञान का स्फुरण होता है कि जो प्रत्यय के अधीन है वह शून्य है सर्वधर्म मायोपम है बुद्ध भी मायोपम है। यथार्थ मे बुद्ध धर्म नि स्वभाव है सम्यक सम्बुद्धत्व भी मायोपम है। निर्वाण भी मायोपम है। यदि निर्वाण से भी कोई विशिष्टतर धर्म हो तो वह भी मायोपम तथा स्वप्नवत है। जब परमार्थ के ज्ञान की प्राप्ति होती है तब वासनादि नि शेष दोषराशि की निवृत्ति होती है और यही अवस्था प्रज्ञा पारमिता की अवस्था है।[६] और यही मोक्ष की अवस्था है। नागार्जुन के दर्शन से यद्यपि मोक्ष एक निषेधात्मक प्रक्रिया है जो न तो पुण्य सचय है और न तो बल सचय है अपितु क्लेशावरण निवर्तन है। जिसने परमार्थ को आवृत कर लिया है। क्लेशक्षय के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली अवस्था है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर हमे यह सम्बोधि होती है कि न तो वस्तुओ का अस्तित्व है और न क्लेशो का ही अस्तित्व है। अविद्या के फलस्वरूप वस्तुओ के प्रति मन मे जो राग द्वेष जगी थी उसके फलस्वरूप वे शुभ अशुभ और प्रिय लग रही थी। अविद्या का अन्त हो गया प्रज्ञा का उदय हो गया जिसके फलस्वरूप यह बोध हो गया कि क्लेश मानसिक है जो अविद्याजन्य

है। उनकी उत्पत्ति बुद्धि विकल्पो से होती है और शून्यता (वस्तुओ) का वास्तविक स्वरूप का बोध हाने पर इनका अन्त हो जाता है।[७]

> सकल्प प्रभवो रागो द्वेषो मोहश्च कथ्यते।
> शुभाशुभविपर्यासान सभवन्ति प्रतीत्य हि।।
> शुभाशुभविपर्यासान सम्भवन्ति प्रतीत्य हि।
> ते स्वभावान्न विद्यन्ते तस्मात क्लेश न तत्त्वत ।।

शून्यता दु ख शमनी तत किजायते भयम भगवान बुद्ध ने स्वय इस अनुभूति की घोषणा की है। वे कहते है–

हे तृष्णे! मैने तुम्हारा उत्स (मूल) जान लिया। तुम्हारा जन्म कल्पना बुद्धि विकल्पो (भाव है भाव नही है) के फलस्वरूप होता है। अब मै कल्पना–बुद्धिजाल मे नहीं फसूँगा और न तृष्णा मेरा स्पर्श कर सकेगी।[८]

नागार्जुन के शून्यवाद की भॉति अद्वैतवेदान्त और विज्ञानवाद मे भी अपरोक्षानुभूति और मोक्ष को अभिन्न माना गया है दोनो ही ज्ञान (प्रज्ञा) को भावना से उत्कृष्ट मानते है फिर भी नागार्जुन के मोक्ष अद्वैतवेदान्त के मोक्ष मे अन्तर है। अद्वैतवेदान्त मे मोक्ष ब्रह्म और जीव के अभेद की अनुभूति से होता है। जीवात्मन के प्रति एक विशेष प्रकार के दृष्टिकोण के परित्याग और ब्रह्म से उसकी अनन्यता के फलस्वरूप वासनाओ का अन्त हो जाता है।[९] दूसरे शब्दो मे सर्वात्मभाव के दर्शन से व्यक्तिगत आत्मा का दृष्टिकोण समाप्त हो जाता है और सर्वत्र आत्मा की अनुभूति होने लगती है।[१०]

विज्ञानवाद मे सर्वत्र एक मात्र विज्ञप्तिमात्रता की अनुभूति से विषय के अस्तित्व का अन्त हो जाता है परिणामस्वरूप एकमात्र चित्त विज्ञप्ति–मात्रता ही रह जाती है। इस सार्वभौम सत्य का बोध ही मोक्ष है। क्योकि वस्तुओ या वाह्य जगत् के न रहने पर किससे द्वैष तथा किसके प्रति मोह? किन्तु शून्यवाद मे यह बोध या प्रज्ञा अव्यवहित है। यहॉ किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं है उदाहरण के लिए नागार्जुन के शून्यवाद मे बुद्ध विकल्पो के अन्त होते ही आप मुक्त हो गए किन्तु अद्वैतवेदान्त मे पहले आत्मा और ब्रह्म मे अभेद का बोध हो तब मुक्ति प्राप्त होगी और विज्ञानवाद मे चित्त विज्ञप्तिमात्रता से अभिन्न हो जाए तब वासनाओ का अन्त होगा और मुक्ति प्राप्त होगी।

नागार्जुन और अद्वैतवेदान्त तथा विज्ञानवाद में एक अन्य मतभेद इस बात पर है कि नागार्जुन परमतत्व सबधी कोई दृष्टि नहीं स्थापित करते। वे परमार्थ का कोई स्वरूप नहीं बताते उनके अनुसार द्वन्द्वन्याय या

शून्यता ही परमार्थ है। शून्यता दृष्टि आई और परमार्थ का साक्षात्कार हो गया। इसके विपरीत अद्वैतवेदान्त और विज्ञानवाद क्रमश ब्रह्म और विज्ञप्तिमात्रता अपने-अपने परम तत्व के स्वरूप का विवेचन करते है। उनके अनुसार द्वन्द्वन्याय उस परमतत्व के साक्षात्कार का समापन मात्र है।[12]

यद्यपि नागार्जुन बुद्धिविकल्पवाद (सप्रत्ययवाद) विरोधी प्रतीत होते है किन्तु बर्गसा के अन्त प्रज्ञावाद और नागार्जुन के अन्त प्रज्ञावाद मे अन्तर है। बर्गसा के अनुसार बुद्धि वस्तुओ का दैशीकरण करता है यह परम तत्व जीवन्त शक्ति की अविच्छिन्न गति को अवरूद्ध करता है। उनके अनुसार परम तत्व का बोध व्यक्ति को तभी हो सकता है जब वह उससे एकरुपता की अनुभूति करे। अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए बर्गसा जो उदाहरण देते है और विकास की जो व्याख्या प्रस्तुत करते है उससे प्रतीत होता है कि अन्त प्रज्ञा प्रकृति का जन्म ज्ञात स्वभाव है। यह उसमे अनस्यूत है। उनके सिद्धान्त निरुपण से यदि हम यह निष्कर्ष निकाले कि वे मानव को पक्षी और कीटपतग के स्तर पर लाना चाहते है तो कोई अत्युक्ति न होगी। साथ ही बर्गसा कोई आचार सहिता भी स्थापित करते जिसका अभ्यास कर मानव को अन्त प्रज्ञा की अनुभूति हो और शुष्क तर्क का दमन हो। किन्तु नागार्जुन के अनुसार प्रज्ञा सहज प्रवृत्ति नही है और न जैविक शक्ति है बल्कि पराबौद्धिक।[13]

षडपारमिताओ का विवेचन करते समय हमने देखा कि प्रज्ञापारमिता का स्थान सबके बाद मे है किन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि इसका महत्व पारमिताओ की शृखला मे सबसे अन्त म है। इसके विपरीत यह सबमे अनस्यूत और सबका आधार है। इसके अस्तित्व के कारण सभी पारमिताए अपने कार्य सम्पादन मे प्रवृत्ति होती है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दो मे प्रज्ञा से ही सब आवरणो-(क्लेशावरण) (ज्ञेयावरण) की अत्यन्त हानि होती है। इस के अनुकूल होने पर ही दान आदि पाच पारमिताए सम्यक सम्बोधि की प्राप्ति कराने मे समर्थ और कारण (हेतु) होती है। दानादि गुण प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होकर अभ्यासवश प्रकर्ष की पराकाष्ठा को पहुचते है और अविद्या प्रवर्तित सकल विकल्प का ध्वस कर तथा क्लेश और आवरणो को निर्मूल कर परमार्थ तत्व की प्राप्ति मे हेतु होते है। आर्य शतसाहस्री प्रज्ञा पारमिता मे भगवान बुद्ध कहते है- हे सुभूति! जिस प्रकार सूर्यमण्डल और चन्द्र मण्डल चार द्वीपो को प्रकाशमान करते है उसी प्रकार प्रज्ञापारमिता का कार्य दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार बिना सप्तरत्न से समन्वागत हुए राजा चक्रवर्ती का पद नहीं पाता उसी प्रकार प्रज्ञापारमिता से रहित होने पर पच पारमिता पारमिता के नाम से नही पुकारी जा सकती। प्रज्ञापारमिता अन्य पाच पारमिताओ को अभिभूत करती है। जो जन्म से अधे हैं

उनकी सख्या चाहे कितनी ही क्यो न हो बिना मार्ग दर्शन के मागावतरण मे असमथ है। इसी प्रकार यदि पॉच पारमिताए नेत्रविकल हैं बिना प्रज्ञा–चक्षु की सहायता के बोधिमार्ग मे अवतरण नही कर सकतीं। जब पच पारमिता प्रज्ञापारमिता से परिगृहीत होती है तभी सचक्षुचष्क होती है। जिस प्रकार क्षुद्र नदियॉ गगा नाम की महानदी का अनुगमन कर उसके साथ महासमुद्र मे प्रवेश करती है उसी प्रकार पाच पारमिताए प्रज्ञापारमिता से परिगृहीत हो और उसका अनुगमनकर सर्वाकारज्ञता को प्राप्त होती है।

परमत्वात सा प्रज्ञापारमिता नामधेय लभते तस्मात तर्हय आनन्द! सर्वज्ञता परिणामित कुशलमूलत्वात प्रज्ञापारमिता पचाना पारमिताना पूर्वगमा नायिका परिणायिका[१४] एवमेव कौशिक! दान शील क्षान्ति वीर्ययम ध्यान च प्रज्ञापारमितानामधेय लभते। जात्यन्धभूत भवति विना प्रज्ञापारमितया अपरिनायकत्वाद् अभव्य सर्वज्ञता मार्गावताराय कुत पुन सर्वज्ञताम अनुप्रापस्यति। यदा पुन प्रज्ञापारमिता परिगृहीत भवति तदा पारमिता– नामधेय पारमिता शब्द लभते।।[१५]

प्रज्ञापारमिता की इन्हीं विशेषताओ के फलस्वरूप इनके समादर के लिए बौद्ध ग्रन्थो मे प्रज्ञापारमिता के लिए भगवती और उसके पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त धर्मधातु के लिए भगवान विशेषण लगाते है। बोधिचित्तोत्पादसूत्रशास्त्र मे प्रज्ञापारमिता को सर्वधर्ममुद्राक्षय या अक्षयामुद्रा कहा गया है। उनके अनुसार प्रज्ञापारमिता मुद्रा लक्षण नहीं है। वह सत्य भूत प्रज्ञोपाय है।[१६]

आदि नाम कश्चन धर्मो योह्यलक्षणो नामेत्युच्यते सर्वधर्म मुद्राक्षया मुद्रा! आसुमुद्रासु न मुद्रालक्षण मित्युच्यते सत्य भूत प्रज्ञोपाय पारमिता।

प्रज्ञापारमिता और तथागत

जैसा ऊपर विवेचन किया गया है नागार्जुन के दर्शन मे प्रज्ञापारमिता का सर्वोच्च स्थान है। यह अविद्योन्मूलनी तथता है यही धर्मधातु तथा शून्यता है। यही महायान धर्म का ईश्वर तथागत है जो मात्र समस्त प्राणियो का उत्स–शून्यता या भूतकोट ही नहीं है बल्कि दशबल चार वैशारद्य (चत्वारि वैशारद्यानि) और अठारह अद्भुत भावणिक धर्मो से युक्त दिव्य धर्मकाय का सगुण विग्रह है। जो महाकरुणा से प्रेरित होकर प्राणियो की रक्षा के लिए स्वेच्छा से असख्य रूप धारण कर सकता है किन्तु वैदिक धर्म के ईश्वर की भाति यह सृष्टि रचना और ऐसे अन्य कार्य नहीं कर सकता। विश्व का अस्तित्व और उसके प्राणियो की विविधता कर्मजन्मय है (कर्मज लोकवैचित्र्यम्) है।[१७]

उक्त ह्येतद् भगवता धर्मकाया बुद्धा भगवन्त। ना खलु पुनरिम भिक्षव सत्काय काय मन्यध्वम। धर्मकायपरिनिष्पत्तितो मा भिक्षवो द्रक्ष्यन्त्येष च तथागत कायो भूतकोटिप्रभावितो द्रष्टव्यो यदुत प्रज्ञापारमिता।

कभी–कभी तथागत और प्रज्ञापारमिता मे भेद किया जाता है और प्रज्ञापारमिता को निरपेक्ष तत्व धर्मकाय से अभिन्न (एक रुप) माना जाता है और तथागत को उसकी सन्तान। दूसरे शब्दो मे प्रज्ञापारमिता तथागतो की जननी है जिनसे वे असख्य रूप मे उत्पन्न होते है।

योऽधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला।
यद् बुद्धा लोक गुरव पुत्रास्तव कृपालव ।।[१]

यद्यपि प्रज्ञा के रूप मे तथागत परमतत्त्व– धर्मकाय है फिर भी सवृति स्तर पर वह तथागत या ईश्वर है जो प्राणियो को दु ख से उद्धार करने के लिए अवतरित होता है और उनके दु ख दूर कर उन्हे निर्वाणलाभ कराता है जिसके फलस्वरूप प्राणी धर्मकाय का साक्षात्कार करते है।

क्या प्रज्ञापारमिता अभावरूप है?

प्रज्ञापारमिता अथवा शून्यता के स्वरूप को लेकर दार्शनिको मे तीव्र मतभेद है। समस्त वैदिक दार्शनिक दार्शनिक शून्यता को अभावरूप ही मानते है और उसी रूप मे उस की तीव्र आलोचना भी की है। आधुनिक दार्शनिको मे महापण्डित राहुल साकृत्यायन जैसे विद्वानो ने समग्र बौद्ध दर्शन को अनात्मवादी माना है और डॉ० राधाकृष्णन की ब्रह्मवादी व्याख्या को सर राधाकृष्णन की लीपापोती कह कर उसकी भर्त्सना की है और कहा है कि क्या वादरायण से लेकर आज तक के महान भारतीय दार्शनिको मे से किसी ने भी बौद्ध धर्म के अनात्मवाद अथवा नागार्जुन के शून्यवाद को ठीक से नहीं समझा।[१६]

प्रो० हर्ष नारायण का भी यह मत है। उनके अनुसार माध्यमिक ग्रन्थो मे अनुभव की जो दार्शनिक अभिव्यक्ति हुई है उसके आधार पर यह मत निश्चित रूप से स्वीकार करना चाहिए कि माध्यमिक दर्शन मे निरपेक्ष तत्ववादी (ब्रह्मवादी) व्याख्या के लिए तनिक भी स्थान नही है।[२] उपनिषद स्पष्ट शब्दो मे यह उद्घोष करते है कि परम तत्व (ब्रह्म) पूर्ण है पूर्ण से पूर्ण की ही निष्पत्ति होती है और पूर्ण से यदि पूर्ण को ग्रहण किया जाए तो पूर्ण ही शेष बचता है–

पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव शिष्यते ।।[२१]

क्या माध्यमिक इस स्थिति को स्वीकार करेगा? नहीं कभी नही इससे बहुत दूर। बल्कि शून्य को वह पूर्ण के स्थान पर प्रतिष्ठित करेगा और कहेगा कि

शून्यमद शून्यमिद शून्याच्छून्यमुदच्यते।
शून्यस्य शून्यमादाय शून्यमेवाव शिष्यते।।[22]

प्रो० हर्षनारायण की पुत्री डॉ० मुक्तावली ने शून्यवाद के विवेचन मे अपने पिताजी का ही अनुकरण किया है बल्कि उनसे दो कदम और आगे बढ गयी है और ऐसा होना भी चाहिए पुत्र (पुत्री) और शिष्य (शिष्या) को पिता और गुरु को पराजित करना चाहिए। उन्हे ब्रह्मवाद से इतना अधिक द्वेष है कि वे अपने ग्रन्थ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप मे प्राय जहॉ कहीं अवसर मिला है यह लिखने का प्रयास किया है कि यहॉ ब्रह्म की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। उनके ग्रन्थ का प्रारम्भ ही इस उद्देश्य से होता है कि माध्यमिक दर्शन प्रसज्यप्रतिषेधवादी है तो ब्रह्म के होते हुए भी उन्हे ब्रह्म का दर्शन कैसे हो सकता है?

प्रो० टी०आर०वी० मूर्ति के इस कथन कि अद्वयज्ञान के रूप मे प्रज्ञापारमिता तथागत–पूर्णसत–ईश्वर है।[23] का खण्डन करती हुई वे कहती है कि सभी धर्मो के अनुपलम्भ अग्रहण अथवा अप्राप्ति को ही प्रज्ञापारमिता कहते है। इस अवस्था मे सज्ञा ममज्ञा प्रज्ञप्ति व्यवहार नहीं होता।[24] इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि सभी वस्तुओ का अवबोध अथवा सर्वाभाव बोध को ही प्रज्ञापारमिता कहते है न कि ब्रह्म जैसी किसी वस्तु को। वे आगे चलकर पुन कहती हैं कि प्रज्ञापारमिता को स्कन्ध धातु और आयतनो से भिन्न नही समझना चाहिए। स्कन्ध धातु और आयतन शून्य विविक्त और शान्त है। यहॉ भी प्रज्ञापारमिता धर्मो की शून्यता के अवबोध से भिन्न किसी अन्य प्रकार का अवबोध ब्रह्मावबोध नही है।[25]

वे अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता की निम्नलिखित पक्तिया उद्धृत करती है– यत्र न कश्चिदभि सबुध्यते। शून्यत्वाद् भगवन् सर्वधर्माणाम। न च स कश्चिद् धर्म सविद्यते यो धर्म शक्योऽभिसम्बोद्धुम। तथाहि भगवन् सर्वधर्मा शून्या। यस्यापि भगवन धर्मस्य प्रहाणाय धर्मोदेश्यते सोऽपि धर्मो न सविद्यते। एव यश्चाभिसबुध्येतानुत्तरा सम्यक सबोधिम् यच्चापि सबोधव्यम् यश्चजानीयात य च्च ज्ञातव्य सर्व एतेधर्मा शून्या।[26] और कहती है कि यहा भी यही कहा गया है कि कोई धर्म वस्तुत है ही नहीं जिसका अभिसबोधि सभव हो। वस्तुत सभी धर्म शून्य हैं। जिस धर्म के प्रहाण की देशना की जाती है वह धर्म भी अविद्यमान है। इसी प्रकार जिस अनुत्तरा सम्यक सबोधि का बोध हो और जो भी बोध हो जो जाने और जो ज्ञातव्य हो ये सभी धर्म शून्य हैं। यह प्रसज्ज प्रतिषेध की स्पष्ट घोषणा है जिसमे किसी प्रकार के विधान के लिए कोई

अवकाश नही।[29] वे पुन कहती हैं कि प्रज्ञापारमिता अनुत्तरा सम्यक सबोधि सर्वशून्यता की प्रज्ञा अथवा सबोधि है जिसे हम अप्रज्ञा अथवा असबोधि भी कह सकते है। वे कहती है कि यदि माध्यमिक दर्शन मे अवबोध नाम की कोई वस्तु है भी तो वह ब्रह्म जैसी किसी सत्ता का अवबोध नही बल्कि असत्ता का ही अवबोध है।[2]

प्रज्ञापारमिता को प्रसज्यप्रतिषेध (अभाव) कहने के बाद डॉ० मुक्तावली धर्मता के स्वरूप पर विचार करती हुई कहती है कि धर्मता को निरपेक्ष तत्व मान लेने की भूल अब साधारण बात हो गयी है। यदि किसी प्रकार शून्यता का निषेधात्मक या प्रसज्य प्रतिषेधात्मक अर्थ कोई मान भी लेता है तो वह धर्मता को प्रसज्य प्रतिषेध मात्र मानने के लिए कदापि तैयार नहीं होता। किन्तु प्रज्ञापार मिता सूत्रो के अध्ययन करने से स्थिति भिन्न दिखाई पडती है। अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता मे धर्माणाधर्मता या प्रकृति धर्माणा के स्वरूप का विवेचन हुआ है और कहा गया है कि धर्मो की प्रकृति दो प्रकार की नही अपितु एक ही प्रकार की होती है। न हि सुभूते द्वे धर्मप्रवृत्तयौ। एकेव हिसुभते! धर्माणा प्रकृति ।[3] इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि धर्मो की कोई भावात्मक अथवा विध्यात्मक प्रकृति नहीं होती जिसे किसी निरपेक्ष तत्व का दर्जा दिया जा सके। इस प्रकार धर्मता का अर्थ सर्वधर्म शून्यता है। यही प्रकृति विविक्तता और यही प्रज्ञापारमिता है– सर्वधर्मा अपि सुभूते! प्रकृति विविक्तता। या च सुभूते! सर्व धर्माणा प्रकृति विविलता सा प्रज्ञापारमिता।[3]

धर्मता के समान ही तथता और भूतकोटि को भी निरपेक्षतत्व समझने की भूल की जाती है किन्तु निम्नलिखित उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि यह अनुत्पाद या शून्यता है–

'या च तथता स तथागत यश्च अनुत्पाद स तथागत ।

या च भूतकोटि स तथागत या च शून्यता स तथागत यश्च आकाशधातु स तथागत[31] इत्यादि इस प्रकार शून्यता प्रज्ञापारमिता तथता धर्मता भूतकोटि और तथागत एकरूप है और शून्य है।

डॉ० मुक्तावली अपने मत के समर्थन मे रत्नकूट सूत्र का उदाहरण देती हैं वितथा इमे सर्वधर्मा असन इमे सर्वधर्मा विठपिता इमे सर्वधर्मा मायोपमा इमे सर्व धर्मा उदक चन्द्रोपमा इमे सर्व धर्मा इति विस्तर ।[32] यहा भी सभी धर्मो को वितथ असत् मायोपम स्वप्नोपम और उदक चन्द्रोपम बताकर उन्हे अभावरूप बताया गया है।[33]

डॉ० मुक्तावली के शब्दो मे– इस सबका मथिततार्थ यह है कि यह समझना भूल है कि माध्यमिक केवल धर्मो का निषेध करता है ब्रह्म जैसे किसी परमतत्व का नही। बौद्ध दर्शन धर्मो के अतिरिक्त कुछ भी नही मानता। उसकी दृष्टि मे निर्वाण से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है और वह भी एक धर्म है असस्कृत धम सभी धर्मो का प्रतिषेध ही प्रज्ञापारमिता सूत्रो तथा अन्य माध्यमिक सूत्रो का मूल स्वर है। इस दिशा मे वे यहा तक आगे बढ जाते है कि वे निर्वाण का तो प्रतिषेध करते ही है किन्तु यह भी उच्च स्वर मे घोषित करते है कि यदि निर्वाण से भी श्रेष्ठ कुछ हो तो वह भी शून्य अथवा असत् है। शून्यता का इससे अधिक सुस्पष्ट प्रतिपादन अचिन्त्य है। कोई शून्यता को ही ब्रह्म न समझ ले जो धर्मो से परे है इसलिए प्रज्ञापारमिता सूत्र–धर्मो और शून्यता मे भेद का खण्डन करते है। यदि वे ब्रह्म जैसी कोई सत्ता मानते होते तो वे स्पष्ट शब्दो मे प्रज्ञापारमिता एव अनुत्तरा सम्यक सबोधि को ब्रह्मज्ञान से समीकृत करते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रज्ञापारमिता सूत्रो का प्रतिपाद्य प्रसज्यप्रतिषेधात्मक शून्यवाद है न कि किसी अन्य प्रकार का अद्वैतवाद। [३४]

नागार्जुन के शून्य के अभावमूलक स्वरूप के प्रतिपादक दार्शनिको के मत की समीक्षा करेगे।

राहुल साकृत्यायन का यह कथन कि क्या भारतीय दर्शन के प्रकाण्ड महारथी शून्यवाद के निहितार्थ ब्रह्मवाद को नही समझ पाए और शून्य के रूप मे उसकी गलत व्याख्या प्रस्तुत की और डॉ० राधाकृष्णन ही उसके वास्तविक स्वरूप को समझ पाए श्रद्धामूलक दोष से ग्रस्त है। आधुनिक तर्कशास्त्र के साधारण विद्यार्थी को भी श्रद्धामूलक तर्कदोष का ज्ञान है फिर राहुल साकृत्यायन जैसे महापण्डित को इसका ज्ञान न रहा हो अथवा अपने कथन मे उन्हे यह दोष न दिखाई पडा हो यह असम्भव है। अवश्य ही उनके पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण का यह परिणाम है। बहुत से ऐसे सिद्धान्त हैं जिनका मूल्याकन हजारो वर्षो बाद हुआ। यूनान के इलियायी दार्शनिक जेनो के विप्रतिषेधो को अरस्तू जैसे विदिताम्बर और महाज्ञानी नही समझ पाए किन्तु दो हजार वर्षो बाद आधुनिक गणित द्वारा उनकी सत्यता का मूल्याकन हो रहा है और एक स्वर से यह बात स्वीकार की जा रही है कि जेनो को समझने मे अरस्तू ने भूल की थी। इसी प्रकार टालमी के सिद्धान्त पृथ्वी अपने स्थान पर स्थिर है सूर्य उसके चारो ओर चक्कर लगा रहा है की गलती का उद्घाटन पन्द्रह सौ वर्षो वाद ब्रूनो ने अपने प्राणो की आहुति दे कर की।

डॉ० मुक्तावली ने अपने ग्रन्थ मे शून्यवाद के विषय मे आनन्द के कथन का जो अर्थ किया है वह भ्रान्तिपूर्ण है। उसका सही अर्थ करने पर डॉ० मुक्तावली की थीसिस ध्वस्त हो जाएगी।

यह व्याख्या सुनकर कि प्रज्ञापारमिता मे किसी तत्व का बोध नही होता अपितु वह निषेधात्मक ज्ञान है या ज्ञान का तिरोभाव है अनेक महाश्रावक और बोधिसत्व यह प्रश्न उठाते है कि इस प्रकार की प्रज्ञापारमिता की अभीप्सा भला कौन कर सकता है? आनन्द उत्तर देते है कि जो बोधिसत्व महासत्व है दृष्टिसम्पन्न प्राणी है अथवा क्षीणास्रव अर्हत है वे ही इस प्रज्ञापारमिता की अभीप्सा कर सकते है।

आनन्द का उत्तर बहुत ही सटीक ओर यथार्थ था। सचमुच प्रज्ञापारमिता जो सब ज्ञानो का ज्ञान है को जानने का वे ही लोग प्रयत्न करेगे जिनकी बुद्धिशील समाधि और प्रज्ञा के अभ्यास से निर्मल हो गयी है जिनके आस्रव क्षीण हो चुके हैं जो अर्हत का पद प्राप्त कर चुके है और जिन्हे निर्वाण की अनुभूति हो चुकी है वे वस्तुओ के यथार्थ स्वरूप को समझकर प्रकृष्ट ज्ञान प्रज्ञा पारमिता जो सब पारमिताओ की साधिका है और तथागतो की जननी है के साक्षात्कार का प्रयत्न करेगे न कि अहमम मे रत वासनाओ की साधना मे लीन जगत के प्रपच मे फसे लोग।[३५]

डॉ० मुक्तावली ने अपने प्रसज्य प्रतिषेधवाद या पूर्ण अभाववाद को सिद्ध करने के लिए उन लोगो की उपेक्षा कर दी जो प्रज्ञापारमिता का भावमूलक अर्थ करते हैं और उसे अनुपलम्भ का उपलम्भ अथवा अज्ञात का ज्ञान कहते है।[३६]

डॉ० हर्षनारायण जी भी शून्यता के स्वरूप को यथार्थ नही समझे। सवृति को परमार्थ शून्यता कहा गया है जो हेतुप्रत्यय जन्य है वह सब शून्य है किन्तु इस शून्य का अर्थ अभाव नही। यदि नागार्जुन सवृति को अभाव या नास्ति मानते तो दृष्टिवाद मानने मे अपराधी होते और उच्छेदवाद के प्रतिपादक। इन दोनो ही सिद्धान्तो का भगवान बुद्ध ने स्पष्ट शब्दो मे खण्डन किया है। वे कहते है कि ज्ञानी को अस्तिवाद और नास्तिवाद दोनो से ऊपर उठना चाहिए क्योकि अस्ति और नास्ति दोनो ही एकान्तवादी हैं। पुनश्च अस्तिवाद नास्तिवाद की अपेक्षा कही अधिक श्रेयस्कर है और साधक को शील समाधि और प्रज्ञा की ओर बुद्ध धर्म और सघ की ओर ले जानेवाला है उसके विपरीत नास्तिवाद उच्छेदवाद है जो साधक के मन मे सत्सिद्धान्तो के प्रति विचिकित्सा (सशय) उत्पन्न कर उन्हे अज्ञेयवाद की ओर ले जाता है। वह स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि अस्तिवाद की सुमेरु जैसे वृहद्दृष्टि भी श्रेयस्कर है क्योकि वह सद्धर्म का पालन तो करेगा इसके विपरीत नास्तिवाद की राईभर दृष्टि भी ग्राह्य नहीं हैं क्योकि धीरे–धीरे बढकर वह साधक की आस्था को समाप्त कर देगी और उसे अज्ञान के गर्त मे गिरा देगी।

पुनश्च नागार्जुन का दर्शन सर्वदृष्टि प्रहाणवाद अथवा समीक्षावाद है जो अपनी शून्यता प्रणाली द्वारा आत्मा निर्वाण तथागत देशकाल प्रतीत्यसमुत्पाद तथा बुद्धि विकल्पो द्वारा विवेच्य सभी सिद्धान्तो का खण्डन करते है अत वे नास्तिवाद या प्रसज्यप्रतिषेध का कभी भी प्रतिपादन नहीं कर सकते। रही परमार्थ की बात तो वह ज्ञान का विषय नहीं। वह सर्वज्ञान का अतिक्रमण करता है। वह किसी प्रकार बुद्धि का विषय नहीं हो सकता। तथापि कहा जा सकता है कि परमार्थतत्व सर्वप्रपञ्चविनिर्मुक्त है इसलिए सर्वोपाधियो से शून्य है। जो सर्वोपाधि शून्य है वह कैसे कल्पना द्वारा जाना जा सकता है? उसका स्वरूप कल्पनातीत है और शब्दो का विषय नहीं। वहॉ शब्दो की प्रवृत्ति नही होती। यद्यपि सकल विकल्प की हानि होने से परमार्थ तत्व का प्रतिपादन नहीं हो सकता तथापि सवृति का आश्रय लेकर शास्त्र मे यत्किचित निदर्शनोप प्रदर्शन किया जाता है। वास्तव मे तत्त्व अवाच्य है अत उसकी देशना और श्रुति का प्रश्न ही नही उठता—

अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुति का देशना च का? फिर भी दृष्टात द्वारा कथचित शास्त्र मे वर्णित है। बिना व्यवहार का आश्रय लिए परमार्थ का उपदेश नहीं हो सकता और बिना परमार्थ के अधिगत किए निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।[36]

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाण नाधिगम्यते।। मध्यमकशास्त्र २४ १०

उपर्युक्त विवेचन मे हमने किचित परमार्थ का स्वरूप देखा। वस्तुत वह अवाडमनस गोचर है। बुद्धि की कोटिया उसे बाधने मे असमर्थ है। बल्कि यो कहना चाहिए कि बुद्धि की कोटिया वहा तक जा ही नहीं सकतीं वे उसकी और इगित मात्र कर सकती हैं। ब्रेडले के शब्दो मे परमतत्व (निरपेक्ष) को जानने के लिए विचार को आत्महत्या करनी पडती है। उदाहरण के लिए जैसे कोई व्यक्ति समुद्र की विशालता का कितना ही वर्णन क्यो न करे किन्तु उसके स्वरूप और विस्तार का तब तक बोध नहीं होता जब तक समुद्र का साक्षात् दर्शन न हो जाए इसी प्रकार तर्क वितर्क देशना साधना हमे उसकी ओर सीढी की भाति ले जाती है और वहा पहुचने पर हमे यह बोध होता है कि परमार्थ क्या है? कितना अगाध है? जैसे सूर्य की ऊष्मा को साधारण थर्मामीटर द्वारा नापा नहीं जा सकता समुद्र की अगाध और अनन्त जलराशि को कुल्हाड द्वारा उलीचा नहीं जा सकता इसी प्रकार परमार्थ को वाणी द्वारा बताया नही जा सकता। वस्तुत यहा वाणी आकर शान्त हो जाती है। यह तूष्णीभावमात्र है। यह मूॅगे के गुड के स्वाद जैसा है। गिरा अनयंन नयन विनुवाणी। जिन प्रज्ञाचक्षुओ द्वारा इसकी अनुभूति हुई वे वाणी रहित है अत उसका विवेचन कैसे कर सकती है और जो

(वाणी) विवेचन कर सकने मे किचित समर्थ है वह उस रूप को देखा ही नही। उस रूप का दर्शन कर साधक उसी प्रकार भाव विह्वल हो नाचने लगता है जैसे इटली का वैज्ञानिक आर्कमेनिडीज भारसिद्धान्त के ज्ञान की अनुभूति कर यूरेका यूरेका (मैने पालिया मेने पा लिया) कहकर नग्नवेष मे भाग रहा था। वह साधारण ज्ञान को पाकर सुध बुध खो बैठा फिर उस योगी की हालत क्या होती होगी जिसने सबके अधिष्ठानभूत परमार्थ को पा लिया। उसकी हालत कुछ वैसी होती होगी जो शुभ का साक्षात्कर कर यूनानी दार्शनिक प्लेटो[3] की हुई थी। अथवा ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति कर मन्त्राद्रुष्टा ऋषियो की होती है। तुलसीदास के शब्दो मे–

केशव! कहि न जात का कहिए

देखत तब रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए। विनयपत्रिका १११।

परमतत्व शून्य या ब्रह्म का जब यह अनिवर्चनीय और अनभिलाप्य रूप है तो उसे चाहे पूर्णक (पूर्ण) कहिए चाहे शून्य (शून्यक) क्या फर्क पडता है। निर्वाण के स्वरूप का वर्णन करते समय नागसेन ने मिलिन्द पहन मे कहता था कि यह गिरिराज हिमालय से ऊचा प्रशान्त महासागर से गहरा अकाश से अनन्त मधु से मधुर और घृत से सुगन्धित आदि। किन्तु ये वर्णन तो लाक्षणिक मात्र है इसके वास्तविक स्वरूप का इन वर्णनो द्वारा ज्ञान नही बताया जा सकता। इसका फल सादृष्टिक है। नागसेन मिलिन्द पहनपालि पृ० ५५–५६ भिक्षु जगदीश काश्यप– मिलिन्द प्रश्न हिन्दी अनुवाद पृ० ३३०–३३८ उसी प्रकार परमार्थ का फल सादृष्टिक है। उपमा रुपक और विविध माध्यमो द्वारा उसके स्वरूप का किचित निदर्शन कराया जा सकता है। उसका वास्तविक स्वरूप तो प्रज्ञादर्शन से ही सभव है। फिर भी उसे लौकिक अनुभव का अभाव कैसे कहा जा सकता है? साधक जिसके दर्शन के लिए सारा जीवन समर्पित कर देता है पचाग्नि तापता है जीवन के सारे सुखो को परित्याग कर देता है घास की रोटी खाता है कण्टकाकीर्ण भूमि पर शयन करता है आतप वात वर्षा और शिशिर के अगणित कष्ट सहता है। क्या उसकी अनुभूति के लिए जो है ही नही। इसलिए यदि नागार्जुन या अन्य दार्शनिको द्वारा परमतत्व का अभाव रूप या शून्य रूप मे वर्णन किया गया है तो वहा असत या शून्य का एकविशेष अर्थ है। महर्षि अरविन्द ने शून्य के इस अर्थ की ओर सकेत किया है। उनके अनुसार नागार्जुन का शून्य तथा वेद और उपनिषदो मे वर्णित असत् अभिन्न और एकरूप हैं। और इसी असत् से सत की उत्पत्ति होती है। यह असत् वह शून्य है जो सर्वव्यापी अपरिभाष्य लक्षणातीत और अनन्त है जो मानव मस्तिष्क को रिक्त या अभाव सा दीख पडता है क्योकि मानव मस्तिष्क केवल सान्त और

सीमित पदार्थ को ही ग्रहण कर सकता है। किन्तु वस्तुत यह असत ही एकमात्र सदस्तित्व है। श्री अरविन्द ने यहॉ असत का अर्थ अनस्तित्ववान शून्य या अभावमूलक शून्य से नहीं लिया किन्तु एक ऐसे तत्व से लिया है जो हमारे चिन्तन से परे है अथवा जो अस्तित्व विषयक हमारी अनुभूति के परे है। उन्होने उसे उस अर्थ मे लिया है जो अद्वैतवेदान्त के परमब्रह्म और बौद्धो के शून्य दोनो का बोधक है।[३९]

वस्तुत योगवाशिष्ट द्वारा इसका निम्नलिखित वर्णन बहुत सटीक जान पडता है–

य शून्यवादिना शून्यो भास योऽके तेजसाम।
वक्ता मन्ता ऋत भोक्ता द्रष्टा कर्ता सदैव स ।।[४]

असत् के उपर्युक्त अर्थ को आधुनिक युग के अनेक भारतीय दर्शन के भाष्यकारों ने स्वीकार किया है। जिसको ध्यान मे रखकर डी०टी० सुजकी शरवात्स्की टी०आर०वी० मूर्ति और प्रोफेसर सी०डी० शर्मा ने असत की भावमूलक और ब्रह्मवादी व्याख्या की है। उनके अनुसार नागार्जुन का शून्य प्रतीत्यसमुत्पन्नवाद अथवा सापेक्ष का सिद्धान्त एक लोकोत्तर जगत अथवा एक ऐसे निरपेक्ष तत्व की ओर सकेत करता है जो वाणी और विचार के परे है तथा अद्वैतवेदान्त के निरपेक्ष तत्व (ब्रह्म) के सदृश एक प्रकार का निरपेक्ष तत्व जान पडता है।[४१]

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि नागार्जुन का विराट्‌ शून्य या सर्वधर्माणा प्रतिष्ठा प्रज्ञापारमिता एक प्रकार का सत् है जो भावमूलक सत्ता है किन्तु इतना विशाल और सर्वग्राही है कि उसके विषय मे बुद्धिविकल्प कुछ कह नहीं सकते कि यह सद्‌रूप है अथवा असद्‌रूप है। वस्तुत लौकिक जगत की सान्त वस्तुओ के लिए प्रयुक्त पदावली मे इसका निरुपण हो ही नहीं सकता अत इसका अस्ति और नास्ति भाव अभाव अस्तित्व अनस्तित्व किसी रूप मे वर्णन करे इसकी वस्तुरुपता अथवा वास्तविक स्वरूप पर कोई अन्तर नहीं पडता। वस्तुत इसका सर्वोत्कृष्ट वर्णन नागार्जुन के शब्दो मे ही सभव है–

सर्वोपलम्भोपशम प्रपचोपशम शिव ।।

दान शील क्षान्ति वीर्य और ध्यान आदि पारमिताओ तथा उनकी आधारभूता प्रज्ञापारिमता का किचित स्वरूप वर्णन करने के उपरान्त यह प्रश्न उठता है कि इनका साक्षात्कार कैसे किया जाए क्योकि इनके साक्षात्कार के बिना हम निवार्ण धातु मे नहीं प्रवेश कर सकते। महायान दार्शनिको ने इनके साक्षात्कार के लिए दशभूमियो की साधना का विधान किया है।

"दशभूमि"

दशभूमियो के लिए भूमि और बिहार शब्दो का प्रयोग किया गया है। इन भूमियो मे अप्रमेय सत्वो को अभयदान देने के लिए ऊर्ध्वगमन का विधान होता है इसलिए यह भूमि है और बोधिसत्वो की इन भूमियो मे सदैव और सर्वत्र अनुराग रहता है इसलिए इन्हे विहार कहा जाता है[१२]—

विविधे शुभनिर्हारे रत्याविहरणात्सदा।
सर्वत्र बोधिसत्त्वाना विबहार भूमयो मता ।।३६
महायान सूत्रालकार— चर्याप्रतिष्ठाधिकार पृ० १७५
भूयोभूयोऽमितास्वासु ऊर्ध्वगमनयोगत ।
भूतामिताभयार्थाय त एवेष्टाहि भूमय ।।४० वही पृ० १७५

आर्य असग ने महायान सूत्रालकार के बीसवे और इक्कीसवे अध्याय चर्याप्रतिष्ठाधिकार मे दशभूमियो का वर्णन किया है। जो इस प्रकार हैं—

१ **अधिमुक्ति चर्याभूमि** इस भूमि मे साधक को पुद्गल नैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य का बोध होता है जिसके फलस्वरूप दृष्टि विशुद्ध होती है।

२ **मुदिता भूमि** इस भूमि मे साधक को बोध हो जाता है कि कर्मो का नाश नहीं होता इसलिए वह अपनी शील को विशुद्ध करता है और छोटा से छोटा अपराध नहीं करता। इसे मुदिता कहते हैं क्योकि साधक को यह जानकर प्रसन्नता होती है कि बोधिलाभ समीप है।

३ **विमलाभूमि** इस भूमिको विमला इसलिए कहते हैं क्योकि यहा योगी दौशील्य मल ओर आभोगमल का अतिक्रमण करता है। इस भूमि मे योगी को अच्युत ध्यान समाधि का लाभ होता है।

४ **प्रभाकरी भूमि** इस भूमि मे समाधिबल से अप्रमाण धर्मो का पर्येक्षण होने से महान् धर्मावभास होता है। यहा बोधिपत्र सगृहीत प्रज्ञा की भावना होती है।

५ **अर्चिष्मती भूमि** इस भूमि मे प्रज्ञा का बाहुल्य होता है। इस भूमि मे योगी चार आर्यसत्यो मे बिहार करता है और प्राणियो के परिपाक के लिए विविध प्रकार के शस्त्र और शिल्प का निर्माण करता है। इस भूमि में प्रज्ञा क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का दहन करने के लिए प्रस्तुत होती है। इस भूमि मे प्रज्ञा अर्चि का काम करती है इसलिए यह भूमि अर्चिष्मती कहलाती है।

६ **दुर्जयाभूमि** यहा योगी प्रतीत्यसमुत्पाद का चिन्तन करता है और अपने चित्त की रक्षा करता है और सत्वो के परिपाक मे अभियुक्त होते हुए भी वह सक्लिष्ट नही होता अर्थात उसका चित्त सक्लिष्ट नहीं होता। यह कार्य अत्यन्त दुष्कर है इसलिए इसे दुर्जया कहते है।

७ **अभिमुखी भूमि** यहॉ योगी प्रज्ञापारमिता के आश्रय से निर्वाण और ससार की अप्रतिष्ठा के कारण ससार और निर्वाण के अभिमुख है। इसलिए इसे अभिमुखी कहते है।

८ **दूरगमाभूमि** यहा द्वितीय फल अर्थात अनिमित्त अनभिसस्कार विहार की प्राप्ति होती है। यह भूमि प्रयोग पर्यन्त जाती है इस कारण इसे दूरगमा कहते हैं।

६ **अचलाभूमि** इस भूमि मे तृतीय फल– प्रतिसविद्वशित्व का लाभ होता है। निमित्त सज्ञा और अनिमित्ताभोग सज्ञा से यहा योगी विचलित नहीं होता इस कारण इसे अचलाभूमि कहते है।

१० **साधुमतीभूमि** प्रतिसविन्मति की (साधुता) की प्रधानता होने के कारण इसे साधुमती कहते है। इस भूमि पर चतुर्थ फल आश्रित है। इस भूमि मे समाधि और धारणी की विशुद्धता होती है।

११ **बुद्धभूमि या धर्ममेघा** यहॉ विशुद्ध बोधि का लाभ होता है। यह समाधि और धारणी से व्याप्त है। जैसे आकाश मेघ से व्याप्त होता है तथा मेघ का आश्रय होता है उसी प्रकार श्रुतधर्म समाधि और धारणी से व्याप्त होता है और उसका आश्रय भी होता है अत यह धर्ममेघा कहलाती है।"[३]

असग ने इन भूमियो का वर्णन इस प्रकार किया है–

पश्यता बोधिमासन्ना सत्त्वार्थस्य च साधन।
तीव्र उत्पधते मोदो मुदिता तेन कथ्यता।।३२
दौ शील्याभोग वैमल्याद्विमला भूमिरुच्यते।
महाधर्मावभासस्य करणाच्च प्रभाकरी।।३३
अर्चिर्भूता यतो धर्मा बोधिपक्षा प्रदाह का।
अर्चिष्मतीति तद्योगात्सा भूमिर्द्वय दाहत।।३४
सत्त्वाना परिपाकश्च स्वचित्तस्य च रक्षणा।
धीमद्भिर्जायते दु ख दुर्जया तेन कथ्यते।।३५

अभिमुख्याद् द्वयस्येह ससारस्यापि निर्वृते ।

उक्ता ह्यभिमुखीभूमि प्रज्ञापारमिताश्रुयात।।३६

एकायनपथश्लेषाद्भूमिर्दूरगमा मता।

द्वयसज्ञाविचलनादचला च निरुच्यते।।३७

प्रति सविन्मतिसाधुत्वाद् भूमि साधुमती मता।

धर्ममेघा द्वयव्याप्ते र्धर्माकाशस्य मेघवत।।३८

चन्द्रकीर्ति ने भूमियो और पारमिताओ मे निम्नलिखित ढग से सम्बन्ध स्थापित किया है—

प्रमुदिता भूमि मे दान पारमिता विमला भूमि मे शील प्रभाकरी भूमि मे क्षान्ति अर्चिष्मती मे वीर्य सुदुर्जया मे ध्यान अभिमुखी मे प्रज्ञा दूरगमा मे उपाय कौशल्य पारमिता अचिला मे प्रणिधान साधुमती मे बल तथा धर्ममेघा मे ज्ञान (प्रज्ञा) पारमिताओ की क्रमश साधना होती है।[४४]

सदर्भ

१ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० २१७

२ अष्ट साहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता पृ० १७७ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २१८

३ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ० ४६७ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २१६

४ ईशावास्योपनिषद् द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २१३

५ वही पृ० २१३

६ वही पृ० २१३

७ मध्यमकशास्त्र २२ १–२

८ बोधि चर्यावतार ६ ५६

९ काम! जानामि ते मूल सकल्पात् किल जायसे।
त त्वासकल्पयिष्यामि ततो मे न भविष्यति।।
मध्यमकशस्त्रवृत्ति पृ० ३५० धम्मपद १५३ १५४

१० बृहदारण्यक उपनिषद्

११ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २२३

१२ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २२४

१३ वही २१६

१४ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारिमता पृ० ८१

१५ वही पृ० १७२ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० २१२

१६ बोधिचित्तसूत्र शास्त्र पृ० २७ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० २१८

१७ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता पृ० ६४

१८ वही पृ० २

१९ दर्शन दिग्दर्शन पृ० ५३०–५३२

२० It must be granted that the philosophical expression quice to the expenences in the mathyami ka texts leaves little or no zoom for such an absolutistic explanation

२१ आर०ई० ह्यूम द्वारा इसका अनुवाद निम्नवत् है–
The yon is fullness fullness this
Tram fullness fullness thus proceed
with drawing fullness fullness off
Elen fullness then then itself remains

२२ डॉ० हर्षनारायण माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी आव नागार्जुन पृ० १७६

२३ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २२४ २२८

२४ योऽनुपलम्भ सर्वधर्माणा सा प्रज्ञापारमिते त्युच्यते। यदा न भवति सज्ञा ममज्ञा प्रज्ञप्ति व्यवहार तदा प्रज्ञापारमितेत्प्रच्यते।
माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप पृ० १८६

२५ वही पृ० १९०

२६ अष्ट साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता पृ० १५६–१५७ वही पृ० १९०

२७ वही पृ० १९०

२८ वही पृ० १९१

२९ वही पृ० १९४

३० अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ० ६६

३१ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ० २५३ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप पृ० १९५

३२ रत्नकूटसूत्र मध्यमक शस्त्रवृत्ति ११ पृ० १७

३३ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप पृ० १९३

३४ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप पृ० १९३

३५ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप पृ० १६२

३६ रिचर्ड एच० राबिन्सन अर्ली माध्यमिक इन इण्डिया एण्ड चाइना पृ० २१३–२१४ वही पृ० १६०

३७ बौद्ध धर्मदर्शन पृ० २१६

३८ देखिए डॉ० सी०एल० त्रिपाठी 'ग्रीकदर्शन पृ० १२४–१२५

३६ माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी आव नागार्जुन हर्षनारायण का लेख 'द नेचर ऑव माध्यमिक थॉट पृ० १७५–७६

४० वही पृ० १६१

४१ वही पृ० १७५

४२ महायान सूत्रालकार 'चर्या प्रतिष्ठाधिकार पृ० १७५, बौद्ध धर्मदर्शन पृ० ४१४

४३ वही पृ० १७४ वही पृ० ४१४

४४ बौद्ध धर्मदर्शन के विकास का इतिहास पृ० ३६३

अध्याय—१२

नागार्जुन और पाश्चात्य दार्शनिक

(१) काण्ट और नागार्जुन

(१) काण्ट और नागार्जुन दोनो ही दार्शनिको ने अपने अपने दर्शन द्वारा समीक्षावाद का सूत्रपात किया। इन दोनो ही दार्शनिको ने रुढिवाद और बुद्धिवाद को चुनौती देकर दर्शन जगत मे कोपर्निकसीय क्रान्ति को आमन्त्रित किया। इन दोनो ने वस्तु जगत से मानसिक जगत् की ओर दर्शन को मोडा। काण्ट ने बुद्धिवाद और अनुभववाद के द्वारा उत्पन्न कठिनाई को समीक्षावाद द्वारा सुलझाया और नागार्जुन ने आत्मवाद और अनात्मवाद के द्वन्द्व को चतुष्कोटि विनिर्मुक्तवाद द्वारा (द्वन्द्वन्याय) द्वारा बुद्धिवाद और अनुभववाद तथा आत्मवाद और अनात्मवाद के पारस्परिक विरोध के फलस्वरूप ही समीक्षा दर्शन और द्वन्द्ववाद का प्रादुर्भाव हुआ। काण्ट स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि इन अनन्त विवादो की युद्धभूमि ही तत्वदर्शन है। किन्तु इससे मेरा अभिप्राय प्रभाको अथवा सम्प्रदायो (निकायो) की समीक्षा नहीं अपितु समग्र बुद्धि सकाय की जो ज्ञान के पीछे दौडता है।[1]

नागार्जुन के द्वन्द्वन्याय का उद्देश्य यह प्रदर्शित करता है कि बुद्धि की सभी वर्गणाए विषयिनिष्ठ हैं। इनकी प्रामाणिकता मात्र अनुभवमूलक जगत् सवृत्ति तक सीमित है। तत्व शून्य या निरुपाधिक का ये स्पर्श नही कर सकते।[2]

काण्टोत्तर दार्शनिक फिश्टे शेलिग हेगल और शापेनहायर ने काण्ट द्वारा सवृत्ति और परमार्थ के बीच की खाई को अपने–अपने ढग से पाटने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार वेदान्त और विज्ञानवाद ने शून्यवाद के सवृत्ति और परमार्थ के द्वैत को समाप्त करते हुए कहा कि चित्तमात्र अथवा विज्ञप्तिमात्र और ब्रह्मन् (शुद्धसत्) वह तत्त्व है जो सवृति और परमार्थ दोनो का आधार है।

(२) दर्शन का कार्य व्यापार क्या है इस बात पर दोनो (काण्ट और नागार्जुन) एकमत है। दोनो ही प्रत्यक्ष रुप मे समीक्षा को अपना लक्ष्य मानते है और तत्व के अनुसधान को परोक्ष रूप मे अपने चिन्तन का विषय समझते है। इस प्रकार दोनो ही निकायो का दर्शनो का दर्शन कहा जा सकता है। दोनो ही दर्शनो का प्रस्थान बिन्दु इन्द्रियातीत भ्रम है जो इस बात मे निहित है कि हम बुद्धि की वर्गणाओ द्रव्य कारणता अश अशी का प्रयोग अन्धाधुन्ध करते है बिना यह सोचे कि इन का प्रयोग मात्र ऐन्द्रिय अनुभव तक ही सीमित है।[3] दृष्टिवाद अथवा दार्शनिक चिन्तन परमार्थ को व्यवहार की वर्गणाओ मे बाधने का प्रयत्न करता है और जो भ्रमवश सोचने लगता है कि यही परमार्थ का सम्यग् ज्ञान है।

(३) परम्परागत दर्शन मात्र भ्रम है इस कथन को नागार्जुन अपनी प्रसग विधि द्वारा सिद्ध करते है। नागार्जुन अपने विरोधी के सिद्धान्त को स्वीकार कर चतुकोष्टि द्वारा उस का खण्डन करते है। और इस प्रकार उसी के मान्य आधार द्वारा उसको पराजित करते है।

इसके विपरीत काण्ट अनुभववाद का खण्डन अनुभव का विश्लेषण करके करता है और यह सिद्ध करता है कि अनुभव भी बिना अनुभवातीत के सभव नही है। काण्ट ह्यूम और बुद्धिवादियो के इस सिद्धान्त को निर्विवाद रूप से स्वीकार करता है कि अनुभव से हमे वह सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता जो गणित और भौतिक विज्ञान प्रदान करते हैं। इस प्रकार काण्ट और नागार्जुन दोनो ही निष्कर्ष पर पहुँचते है कि बुद्धि की वर्गणाए तर्क भले ही प्रागनुभाविक हो किन्तु वे अनुभव की सीमा के अन्तर्गत ही कार्यरत है। काण्ट के दर्शन का वास्तविक उद्देश्य ज्ञान की प्रक्रिया की व्याख्या नहीं है और न तो विज्ञान को ठोस आधार पर प्रतिष्ठित करना है अपितु अनुभवमूलक ज्ञान की कमी प्रदर्शित कर श्रद्धा के लिए स्थान बनाना है अथवा श्रद्धा की अपरिहार्यता को प्रतिष्ठित करना है और इस प्रकार ईश्वर अमरता और स्वतत्रता को दार्शनिको के वागजाल या बुद्धि की सकल्पनाओ से मुक्त करता है जिसे दार्शनिको ने अपने चिन्तन द्वारा अस्वीकृति और सदेह का विषय बना दिया था। इस प्रकार हम इन्द्रियातीत द्वन्द्वन्याय पर पहुँचते है जो शुद्धबुद्धि की परीक्षा मे दार्शनिक चिन्तन के खोखलेपन को सिद्ध करता है।

नागार्जुन बुद्धि की विसगति का प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शन करते है। वे बुद्धि के सभी सम्प्रत्ययो और वर्गणाओं देश काल गति कारणता ईश्वर आत्मा आदि का खण्डन चतुष्कोटि द्वारा करके यह सिद्ध करते

है कि इन सभी का अस्तित्व सवृत्ति (शून्य) तक सीमित है। परमार्थ तक इनकी गति नही है जो भी वाच्य या कष्ट है वह परमार्थ का दर्शन नहीं करा सकता।

(४) इस इन्द्रियातीत भ्रम (मूला अविद्या) को दूर कैसे किया जाए। क्या इसका निराकरण सभव है? नागार्जुन का जवाब हॉ है। वे कहते है कि अद्वय प्रज्ञा (प्रज्ञा पारमिता) द्वारा समस्त दृष्टियो का निराकरण सभव है। किन्तु काण्ट इस का जवाब नहीं मे देते है। उनका कथन है कि अनुभवातीत समीक्षा द्वारा भले ही हमे अनुभवातीत भ्रम (मूलाअविद्या) के अस्तित्व का बोध हो जाय (यह भ्रम कि जगत है और इसका आदि है) किन्तु इसका अन्त नहीं हो सकता है।[४] क्या समुद्र को तट की अपेक्षा अन्तरिक्ष मे और अधिक ऊँचा दिखाई पडने से रोका जा सकता है अथवा कोई नक्षत्र शास्त्री चन्द्रमा को उदित होते समय बडा दिखाई पडने से रोक सकता है नही उसी प्रकार इन्द्रियातीत द्वन्द्वन्याय मे इन्द्रियातीत भ्रम (मूलाअविद्या) का भले ही बोध हो जाए किन्तु उसे प्रतीत होने से रोका नहीं जा सकता। हॉ इतना अवश्य हो सकता है कि हम उसे भ्रम समझ कर उसके धोखे मे न आवे। अत काण्ट इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इन्द्रियातीत द्वन्द्वन्याय द्वारा तार्किक भ्रम की भॉति भ्रम (मूलाअविद्या) न तो तिरोहित हो सकता है और न उसका अन्त हो सकता है।[५]

काण्ट की इस स्वीकृति का मात्र यह अर्थ है कि भ्रम और इन्द्रियातीत भ्रम की प्रतीति एक वास्तविक वस्तु के आधार पर होती है और उसी पर विकल्प अपनी कल्पना का या बौद्धिक वर्गणाओ का अध्यारोपण करता है। काण्ट को यह भय था कि निरुपाधिक को ज्ञेय बनाने से वह सविकल्प और सवृत (अनुभवमूलक) हो जाएगा क्योकि ज्ञान तो वर्गणाओ द्वारा ही सभव होता है।

नागार्जुन भी यही कहते हैं वे तत्व (परमार्थ) को सद असद सद् असद् और नासत न मद्नामद् किसी भी कोटि मे नहीं बाधते और उसे अनिवर्चनीय या शून्य कहकर सतोष करते है।

सक्षेप मे काण्ट का कथन है कि द्वन्द्वन्याय द्वारा हम बुद्धि के इस दम्भ का निवारण कर सकते है कि बुद्धि की वर्गणाओ द्वारा परमतत्व का बोध हो सकता है किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि इन्द्रियातीत अनुभव या मूलाअविद्या का तिरोधान हो जाए। वह तो बनी ही रहेगी उदाहरण के लिए अन्तरिक्ष का चन्द्रमा और आकाश का चन्द्रमा भले ही दोमो एक हो किन्तु वे उन दोनो स्थानो पर बडे और छोटे आकारो मे

दिखाई देगे इसे कोई रोक नहीं सकता। इसलिए काण्ट का यह प्रयास सराहनीय है कि उन्होने पूर्ण सत्य के ज्ञान के लिए बुद्धि विकल्प के स्थान पर श्रद्धा को प्रतिष्ठित किया।

किन्तु नागार्जुन अन्य भारतीय दार्शनिको की भाति इस बात पर सहमत है कि भ्रम जो मूर्तिमान रूप ले रहा है अथवा उसे जो हम वास्तविक समझ बैठे है यह अविद्या के कारण है। अविद्या का प्रहाण हो जाने पर सत्य (परमार्थ) का स्वरुप तुरन्त प्रकट हो जायेगा।

काण्ट के दर्शन का सबसे बडा दोष यह है कि वे यह मानकर चलते है कि बिना बौद्धिक वर्गणाओ की सहायता के शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो नही सकती। साथ ही वे किसी आध्यात्मिक पद्धति या साधना (उदाहरणार्थ वेदान्त का साधन चतुष्टय अथवा बौद्धो का अष्टाग मार्ग) का भी उल्लेख नहीं करते जिसकी साधना से परमतत्व की अनुभूति हो सके। इसके विपरीत नागार्जुन का प्रज्ञा पारमिता का सिद्धान्त और परमतत्व से उसकी अनन्यता या एकरुपता तथा षडपारमिताओ दान शील क्षान्ति वीर्य ध्यान की साधना द्वारा हम विकल्प से ऊपर उठकर परमतत्व का साक्षात्कार कर सकते है।

काण्ट की यह बहुत बडी भूल थी कि उन्होने शुद्ध बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि को एक दूसरे से पूर्ण रूप से पृथक कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्होने शुद्ध बुद्धि को परमार्थ के बारे मे सोचने से रोक दिया और ईश्वर आत्मा स्वतन्त्रता और अमरता जैसे गभीर विषयो को मात्र आस्था का विषय बना दिया। काण्ट का यह पक्षपातपूर्ण उस परम्परा का परिणाम था जो यूरोप मे बुद्धि और आस्था के पारस्परिक विरोध के सिद्धान्त के रूप मे जेनोफेनीज (यूनानी) के काल से चली आ रही थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि काण्ट का समीक्षावाद जिसका सम्बन्ध बुद्धिवाद और अनुभववाद की कमियो को उजागर कर एक नये दर्शन की प्रतिष्ठापना के लिए हुआ था उसका पर्यवासन रुढिवाद के सेवक के रुप मे हुआ।[6]

नागार्जुन मे काण्ट के विपरीत हम प्रज्ञा निर्वाण और पूर्णता मे ऐक्य पाते हैं। प्रज्ञा बुद्धि विकल्पो का अन्त है और यही निर्वाण या निर्वाण की अवस्था है क्योकि विकल्प ही बन्धन और दुख का कारण है और इसका विमोचन ही निर्वाण है। और यह प्रज्ञापारमिता ही तथागत अर्थवाद है जो प्रज्ञा (शून्यता) का प्रकट रुप है। इस प्रकार प्रज्ञापारमिता बौद्धिक नैतिक और धार्मिक सभी तत्वो का स्वरुप है।[7]

(२) नागार्जुन और हेगल

(१) द्वन्द्वन्याय हेगल और नागार्जुन दोनो दार्शनिको के दर्शन निकायो का केन्द्रबिन्दु है। दाना ही इस बात पर सहमत है कि बुद्धि स्वभावत प्रतिषेधात्मक और सापेक्ष है। यह अपने विरुद्धो के माध्यम से अपना कार्य व्यापार सम्पन्न करती है साथ ही यह इस विरोध के प्रति जागरुक भी रहती है। दोनो ही इस विरोध का शमन एक उच्चतर घटातव्य पर उठ कर करते है। हेगल के अनुसार द्वन्द्वन्याय बुद्धि सम्बन्धितगत्यात्मकता है जो वस्तुओ को पृथक अमूर्तरुप मे ग्रहण करती है साथ ही उन्हे कृत्रिम रुप मे तथाउ खण्डश ग्रहण करती है और पुन प्रज्ञा की ओर उन्मुख करती है जो बुद्धि मे निहित विरोधो को समग्र रूप मे ग्रहण कर उन्हे एकता के सूत्र मे पिरोती है।

इसके विपरीत नागार्जुन के लिए द्वन्द्वन्याय व्यावहारिक बुद्धि की सापेक्ष दृष्टि को सम्वृति से हटाकर परमार्थ के अद्वय समाधि की ओर उन्मुख करती है। दूसरे शब्दो मे दृष्टि से प्रज्ञा की ओर ले जाती है।

(२) हेगल के अनुसार द्वन्द्वन्याय वाद और प्रतिवाद के बीच (उदाहरण के लिए सत और असत्) के बीच के द्वन्द्व या विरोध का शमन कर उसे एक तीसरी कोटि मे परिणत करती है जिसे सवाद कहा जाता है इस अवस्था मे वाद और प्रतिवाद के विरोध का शमन कर उसे एक उच्चतर तत्व के रूप मे प्रतिष्ठित किया जाता है। दूसरे शब्दो मे हेगल के अनुसार द्वन्द्वन्याय एक भयात्मक प्रक्रिया है एक सवाद है जिसका प्रस्थान बिन्दु निम्नतर सत्ता है। इसे इस रूप मे भी रखा जा सकता है कि द्वन्द्वन्याय एक ऐसा (Spiral) है जिसका प्रत्येक क्वायल एक त्रयी (ट्रायड) है। दूसरे शब्दो मे यह एक अर्न्तमुखी पिरामिड है जहॉ परमतत्व निरपेक्ष मे समस्त तत्त्व को अपने समग्ररूप मे समाहित हैं। हेगल के द्वन्द्वन्याय मे तत्व और विचार एक रूप हैं।

(३) हेगल और नागार्जुन के द्वन्द्वन्याय मे पर्याप्त अन्तर भी है। हेगल की यह मान्यता है कि वाद और प्रतिवाद के फलस्वरूप जो सवाद की अवस्था आती है वह निश्चित रूप से उच्चतर अधिक सत्य और अधिक वास्तविक है। इसके विपरीत नागार्जुन का कथन है कि सवृत्ति और सवृत्ति सम्बन्धी प्रचलित दृष्टियो का खण्डन करके ही परमार्थ की ओर उन्मुख हो सकते हैं। न कि उनको एकसाथ जोडकर। वास्तविकरूप मे प्रतीयमान पदार्थ मात्र सवृति तत्व हैं तत्व तो दृष्टियो की शून्यता अथवा सभी दृष्टियो का खण्डन करने के अनन्तर उत्पन्न होता है। नागार्जुन का द्वन्द्वन्याय

विरोधो का प्रतिषेध है। (सत असत सदसत् नासत न सत)। इसके विपरीत हेगल के अनुसार यह विरोधो का समन्वय और वर्गीकरण है।

(४) हेगल के द्वन्द्वन्याय मे परस्पर विरुद्ध तत्त्वो का प्रतिवेध नही होता अपितु उनका एकीकरण होता है जिसके फलस्वरूप एक उच्चतर और अधिक समन्वित तत्व का आविर्भाव होता है। इसे हेगल मूर्तिमान सामान्य की सज्ञा देता है जो अमूर्त सामान्य से भिन्न है जिसकी सत्ता वाद और प्रतिवाद की अवस्था मे होती है। दूसरे शब्दो मे हेगल के अनुसार वास्तविक अनन्त तत्व सान्त तत्व का अतिक्रमण या लोकोत्तर रूप नहीं है अपितु सान्त तत्व का अपने वास्तविक अनन्तरूप मे समन्वयन है।[९] इसके विपरीत माध्यमिक का परमार्थ तत्व सावृतिक जगत् का विरोधी तत्त्व नहीं है अपितु यह सावृतिक जगत का सारतत्व–धर्माणा धर्मता अथवा धर्माणा प्रकृति धर्मो का स्वरूप है। यही कारण है कि नागार्जुन पर उद्घोष करते है कि ससार और निर्वाण मे तनिक भी अन्तर नहीं है।[१०]

(५) हेगल और नागार्जुन के दर्शन विचार

बुद्धि की भूमिका

हेगल के अनुसार बुद्धि या विचार सत् का अर्न्तनिहित रूप है। यह सत मे व्याप्त है। किन्तु नागार्जुन के अनुसार बुद्धि या अविद्या सवृत्ति मात्र है जो परमतत्व (परमार्थ) के वास्तविक रूप को इसमे तिरोहित करती है। परमतत्व के वास्तविक स्वरूप के बोध के लिए बुद्धि विकल्पो से युक्त होना आवश्यक है। परमार्थ निरपेक्ष और सम्बन्धातीत (अपर प्रत्यय) है। चॅकि बुद्धि सम्बन्धो के माध्यम से काम करती है अत यह सम्बधातीत तत्व को ग्रहण करने मे अक्षम है। अत परमार्थ का ज्ञान मात्र बोध (प्रज्ञापारमिता– अथवा अद्वयज्ञान) से ही सभव है। यहॉ तत्व और तत्वबोध मे तनिक भी भेद नहीं है। हेगल के अनुसार प्रतीत्य समुत्पन्नत्व या सापेक्षता यथार्थ का सहज स्वरूप है। हेगल के अनुसार ज्ञान का प्रत्येक स्वरूप निम्नतम प्रत्यक्ष से लेकर सर्वोच्च ज्ञान तक विचार या चिन्तन की विविध अवस्थाए हैं जिनके माध्यम से विचार मे पृथककरण और सम्बधीकरण की प्रक्रिया चलती रहती है। इस प्रकार नागार्जुन के अनुसार जो सवृति है वह हेगल के अनुसार परमार्थ या वस्तुतत्व है।

यदि बुद्ध या वस्तुतत्व अभिन्न या एकरूप होते हैं जैसी कि हेगल की मान्यता है और उनके तर्कशास्त्र भी एक रूप होते तो प्रत्येक विचार पूर्ण रुपेण सत्य होता किन्तु परस्पर विरोधी दार्शनिक सम्प्रदायों और

व्यावहारिक जीवन पर उनके स्पष्ट और परस्पर भिन्न प्रभावो के आधार पर हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुच सकते है कि विचार (बुद्धि) परम तत्व का सहजस्वरूप नहीं है। हेगल का द्वन्द्वन्याय बुद्धि विलास का एक उत्कृष्ट रूप है जहॉ आध्यात्मिक मूल्यो के लिए तनिक भी स्थान नहीं है।"[11]

(६) हेगल के अनुसार निरपेक्ष और बुद्धि अभिन्न है जबकि नागार्जुन के लिए अद्वयज्ञान—प्रज्ञापारमिता। हेगल के अनुसार द्वन्द्वन्याय बुद्धि की वर्गणाओ की सश्लेषणात्मक गत्यात्मिकता है जो उनको एक सूत्र मे बाधती है। यह व्यवहार के अन्तर्गत है। इसके विपरीत नागार्जुन के अनुसार द्वन्द्वन्याय समीक्षात्मक बुद्धि की वर्गणाओ से मुक्त करता है इसकी गति सवृति से निकल कर परमार्थ की ओर है। नागार्जुन के दर्शन मे द्वन्द्वन्याय द्वारा परस्पर विरोधी दृष्टियो और सिद्धान्तो मे अन्तर्निहित विरोधो को उन सिद्धान्तो की कमियो को दिखाकर दूर किया जाता है। द्वन्द्वन्याय विभिन्न दृष्टियो का पूर्णरूप से शमन करती है।

(३) ब्रेडले एव नागार्जुन

हेगल के दर्शन की कमियो के फलस्वरूप नव्यहेगलवाद का जन्म हुआ। नव्य हेगलवादियो मे विशेषकर ब्रेडले ने निरपेक्ष के सप्रत्यय मे सशोधन प्रस्तुत किया। ब्रेडले निरपेक्ष को अपरोक्षानुभूति कहता है जिसमे सान्त की कमियो का शमन और एकीकरण हो जाता है। उन्होने अनुभव की वर्गणाओ का जो द्वन्द्वन्यायात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह पूर्णरूपेण नागार्जुन के विश्लेषण से मिलता जुलता है।

(१) ब्रेडले के अनुसार सभी वस्तुए सापेक्षता और विरोध से परिपूर्ण है। विचार के लिए जो सापेक्ष नहीं है वह शून्य है उसका अस्तित्व नहीं है।"[12] ब्रेडले कहते है कि सम्बन्ध गुण की प्राक्कल्पना करता है और गुण सम्बन्ध की। और इसमे से प्रत्येक न तो युगपद् कुछ हो सकते है और न पृथक पृथक। और इस दूषित चक्र में वे फस जाते है और परम तत्व के सत्य का उद्घाटन नही कर सकते। अर्थात उनमे परमतत्व का बोध नहीं हो सकता।"[13] ब्रेडले कहते हैं कि सम्बन्ध और गुण के विश्लेषण मे मै इस निष्कर्ष पर पहुचा हूँ कि विचार का सम्बन्धात्मक दृष्टिकोण अर्थात् वह दृष्टिकोण जो पदो और सम्बन्धो के माध्यम से सचालित होता है वह मात्र आभास का बोध करा सकता है सत का नहीं। इस प्रकार हमारी बुद्धि भ्रम और दिवालिएपन के लिए अभिशप्त है सत् उसके सपरिग्रहण के सदैव बाहर है।"[14]

(२) ब्रेडले का द्वन्द्वन्याय उन्ही के शब्दो मे ऊपर विवेचित किया गया है। नागार्जुन की भी ठीक यही स्थिति है जो यह कहते है उनमे से कोई भी वस्तु परमार्थ नही है जिसको एक दूसरे स न तो अनन्य कहा जा सके और न अन्य।[१४] ब्रेडले अपने इस द्वन्द्वन्याय को विचार की सभी वर्गणाओ द्रव्य–गुण देश–काल क्रिया कारणता और आत्मा पर लागू करते है और अन्त मे अन्तर्विरोध ही पाते है। वे दृष्टात स्वरूप कारणता का विश्लेषण करते है। उनके अनुसार कारणता का मूलभूत सिद्धान्त यह है कि एक वस्तु अन्य वस्तुको उत्पन्न करती है किन्तु अन्ततोगत्वा यह क्रिया अबुद्धिगम्य हो जाती है। अ ब हो जाता है किन्तु ब अ के अनुरूप नहीं होता। मात्र अ अ ही बना रहता है और यदि परिणमित होकर ब हो गया तो अ से भिन्न हो जाता है फिर अ से सम्बद्ध कहॉ रहा।[१६] ब्रेडले कहते हैं कि आधारभूत कठिनाई (डिलेमा) को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि यदि समुद्भूत कार्य कारण से भिन्न है तो इस भिन्नता की तार्किक ढग से कैसे व्याख्या की जाए? और यदि यह उससे अभिन्न है अर्थात यदि वे दोनो एकरूप हैं तो कारणता कहॉ रही। यह तो हास्यास्पद हो जाता है। इस मूलभूत कठिनाई से छुटकारा नहीं है।[१७] कठिनाई यह है कि कारणता को अविच्छिन्न रहना चाहिए किन्तु यह अविच्छिन्न नहीं रह पाती। नागार्जुन की भी यह कठिनाई है वे कहते है कि हेतु और फल कारण और कारण की अनन्यता भी ठीक नही है क्योकि वे एक दूसरे से भिन्न हैं और उनकी अन्यता (पृथकता) भी ठीक नहीं क्योकि वे एक दूसरे से सम्बद्ध है।[१]

हेतो फलस्य चैक त्व न हि जात्यपपद्यते।
हेतो फलस्य चान्यत्व न हि जात्यपपद्यते।।

(३) ब्रेडले और नागार्जुन दोनो इस बात पर सहमत हैं कि कोई भी आनुभविक पदार्थ (सवृति) सापेक्षता से मुक्त नहीं। अर्थात् सभी पदार्थ परस्पर आश्रित हैं।[१६] वे मात्र अभास है सत् नही। फिर भी ब्रेडले और नागार्जुन के द्वन्द्वन्याय मे मूलभूत मतभेद है। नागार्जुन के द्वन्द्वन्याय से हमे उस इन्द्रियातीत भ्रम के प्रति सदैव जागरूक हैं जो परम तत्व के विषय मे आत्मदृष्टि और अनात्मदृष्टि जैसे परस्पर विरोधी दृष्टिकोणो के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। द्वन्द्वन्याय की सम्पूर्ण प्रक्रिया मे दृष्टिवाद (रूढिवाद) और प्रज्ञावाद (समीक्षावाद) के अन्तर का ध्यान बना रहता है। नागार्जुन किसी भी विषय से सम्बन्धित विकल्पो अथवा सम्भाव्य विकल्पो का खण्डन करते हैं और हम खण्डन मे अपनी खण्डन विधि चतुष्कोटि को अपनाते हैं नागार्जुन का द्वन्द्वन्याय दार्शनिक चेतना या चिन्तन की

समीक्षा है किन्तु ब्रेडले मे हम खण्डन की ऐसी कोई सुव्यवस्थित विधि नहीं पाते जो चतुष्कोटि जैसी हो। और न तो इन्द्रियातीत भ्रम अथवा मूल अविद्या का ही स्पष्ट आभास देखने को मिलता है। वे विचार की कोटियो या वर्गणाओ की अवश्य समीक्षा करते है किन्तु सुव्यवस्थित रूप स नही। इस पर भी देखते है कि नागार्जुन दूसरो के सिद्धान्तो की आलोचना या खण्डन करते समय एक नए सिद्धान्त या दृष्टि का भी प्रतिपादन करते है और उसे आधार मान कर उस का खण्डन करते है इस सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध के दर्शन मे एक सुव्यवस्थित निकाय की कमी है।[३०] किन्तु डॉ० राधाकृष्णन की दृष्टि मे यद्यपि ब्रेडले और नागार्जुन दोनो मे ही सामान्य सिद्धान्तो मे समानता है किन्तु ब्रेडले के दर्शन मे परमतत्त्व के खण्डन के समय द्वन्द्वन्याय का तेज विस्तारपूर्ण और सुसम्बद्ध प्रयास न तो इतना सुसम्बद्ध है और न इतना परिपूर्ण जैसा ब्रेडले मे देखने को मिलता है।[३१]

(४) नागार्जुन और ब्रेडले के दर्शनो मे सब से महत्वपूर्ण मतभेद परमतत्व (परमार्थ) के स्वरूप और आभास (सवृति) से उसके सम्बन्ध को लेकर है।

ब्रेडले के अनुसार सत् (परम तत्व) मे निम्नलिखित विशेषताए होनी चाहिए–

(१) सत सुसम्बद्ध है (२) सभी आभास सत मे अन्तर्निहित हैं तथा

(३) सत् अनुभूति है।

ब्रेडले की भॉति नागार्जुन भी सत (परमार्थ) को सुसम्बद्ध और स्वप्रतिष्ठित मानते हैं। वे सत् की परिभाषा अमूर्त प्रत्यय (स्वतन्त्र–स्वप्रतिष्ठित) और निविर्कल्प और शान्त आदि विशेषणो से करते हैं किन्तु इस परमसत का साक्षात्कार कैसे हो? इस बात पर दोनो मे मतभेद हैं।

ब्रेडले का कथन है कि 'हम किसी भी वस्तु को आभास इसलिए कहते है कि वह आत्मविरोधी है और कोई भी वस्तु जो आत्मविरोधी है वह सत् नहीं हो सकती। किसी भी वस्तु की समीक्षा के लिए सत् के एक मापदण्ड या कसौटी के प्रयोग की आवश्यकता है।[३२] परमसत् ही ऐसा है जो आत्मविरोध से रहित है– इनकी सत्ता मे सदेह करते समय भी हम परोक्षरूप से इसकी प्रामाणिकता और वास्तविकता स्वीकार करते हैं।[३३] किन्तु यह ज्ञान मात्र औपचारिक है इसके द्वारा वास्तविक ज्ञान (सम्यग् ज्ञान) की प्राप्ति नहीं हो सकती और

न तो यह हमे एक दूसरी कसौटी मान कर चलने से रोक ही सकता है। नागार्जुन का कथन है कि हमे सत को मान कर नहीं चलना है अपितु सवृति मे निहित सविरोध के फलस्वरूप सत का ज्ञान प्राप्त होता है।[२४]

ब्रेडले चिन्तन मे हेगल के आगे बढते हुए यह कहते है कि सत (निरपेक्ष) की स्वानुभूति होती है। वे कहते है गम्भीर चिन्तन करने पर हम यह देखते है कि सत को वास्तविक होने के लिए सवेदनात्मक अनुभव की परिधि मे आना आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे जो सत सवेदात्मक अनुभव की परिधि मे नहीं आता जो स्वानुभूति का विषय नहीं वह सत भी नहीं है।[२५] किन्तु यह अनुभूति क्या है ब्रेडले इसकी स्पष्ट व्याख्या नही कर पाते हो सकता है यह परा अनुभूति वाणी मे वाच्य न हो। ब्रेडले इस बात मे पूर्ण रूप से आश्वस्त है कि विचार या चिन्तन सत का सम्यग्ज्ञान कराने मे असमर्थ है किन्तु वे यह नहीं कहते हैं कि विचार मात्र सवृत्ति या आभास का ही बोध कराता है। कभी कभी वे यह भी कहते हैं कि विचार या बुद्धि सत का स्वरूप भी है। किन्तु नागार्जुन इस बात पर आश्वस्त हैं और दृढ हैं कि परमार्थ (सत) विचार की कोटियो या वर्गणाओ की परिधि मे नहीं आता। बुद्धि विकल्प उसका स्पर्श नहीं कर सकते। और समस्त सवृति की एकता और तत्व के रूप मे वह अद्वय अनुभूति या प्रज्ञापारमिता है।[२६]

सदर्भ

१ क्रिटिक ऑव प्योर रीजन पृ० ६

२ टी०आर०वी० मूर्ति द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २६४

३ क्रिटिक ऑव प्योर रीजन पृ० २६८–२६६

४ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २६८

५ क्रिटिक ऑव प्योर रीजन पृ० २६६–३००

६ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३००–३०१

७ कल्पवशेन विकल्पितु लोक सज्ञाग्रहेणविकल्पितुबाले ।

सोच गहो अगहो असभूतो मायमारीचि समाहिविकल्पा ।।

आर्योपालिपरिपृच्छा म०शा० अध्याय ८ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३०१

८ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म वही पृ० ३०१

६ द लॉजिक ऑव हेगल पृ० ६३ वही ३०४

१० मध्यमकशास्त्र २५, १६–२० ससार निर्वाणयो पारस्परतो नास्तिकश्चित विशेषो विचारमाणयोस्तुल्यरूपत्वात वही ५३५

११ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म वही पृ० ३०५

१२ ब्रैडले अपयिरेस एण्ड रियेलिटी पृ० २५

१३ वही पृ० २१

१४ वही पृ० २८–२६

१५ मध्यमकशास्त्र २ २१

१६ अपीयरेस एण्ड रियेलिटी पृ० ४६

१७ वही पृ० ४७

१८ मध्यमकशास्त्र २०/१६

१६ वही २४/१६

२० द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३०८

२१ डॉ० राधाकष्णन इण्डियन फिलासफी भाग १ पृ० ६४८

२२ अपीयरियेस एण्ड रियेलिटी पृ० १२०

२३ वही पृ० १२०

२४ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३०६

२५ अपीयरियेस एण्ड रियेलिटी पृ०१२७

२६ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३१०

२७ डॉ० रामस्वरूप सिह नौलखा शकर का ब्रह्मवाद पृ० ४२ ४८

२८ डॉ० एस०एन० दासगुप्त हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी भाग २ पृ० ५

२६ शकर का ब्रह्मवाद पृ० ४७

३० एस०सी० मुकर्जी द नेचर ऑव सेल्फ पृ० ३०३ ३०४

३१ शकरभाष्य ब्रह्मसूत्र परिचय

३२ शकर का ब्रह्मवाद पृ० ४८

३३ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २१७

३४ वही

३५ वही पृ० २१८

३६ शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिसिद्ध इतितनिनराकरणायनादर क्रियते।। शकर ब्रह्मसूत्रभाष्य २ २ ३१

३७ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २१८

३८ आउटलाइन्स ऑव वेदान्त सिस्टम ऑव फिलासफी– प्रीफेस शकर का ब्रह्मवाद पृ० ५५ पर उदघृत।

३६ दि लेक्चर्स ऑन वेदान्त फिलासफी पृ० १३५–१३६

४० वही पृ० ३१ वही पृ० ५६

४१ दि कान्स्ट्रकटिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलासफी पृ० २०५

४२ वही पृ० ५

४३ इण्ट्रोक्शन टु दि फिलासफी ऑव दि उपनिषद्स डॉ० एस० राधाकष्णन् पृ० २

४४ वही पृ० १४

४५ द रेलिजन आव वेद्स पृ० ५१

४६ डॉ० आर०पी० सिह द वेदान्त ऑव शकर पृ० २

अध्याय–१३

नागार्जुन और भारतीय दार्शनिक

(१) नागार्जुन और शकर

(१) द्वन्द्व न्यायविधि

शकराचार्य ने दार्शनिक विवेचन की विधि बौद्धो से अवश्य अपनाई है। उन्होने नागार्जुन की द्वन्द्वन्यायात्मक विधि का उस सीमा तक अनुकरण नहीं किया जिस सीमा तक परवर्ती वेदान्ती और चित्सुख ने किया है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि उन्होने इस विधि का प्रयोग किया ही नही। यह भी नही कहा जा सकता कि उन्होने यह विवेचन विधि उपनिषदो से प्राप्त की क्योकि उपनिषदो मे यह विधि उपलब्ध नही है। लोगो की यह धारणा है कि शकर को यह विधि अपने बाबा गुरुगौडपाद से मिली तो भी यह कहना पडेगा कि वे नागार्जुन की विधि से प्रभावित थे किन्तु परोक्ष रूपमे।[२७]

२ सत्ता का त्रिविध वर्गीकरण

शकराचार्य ने सत्ता का त्रिविध वर्गीकरण किया है– १ प्रतिभाषिक २ व्यावहारिक और पारमार्थिक। शून्यवादी दार्शनिक नागार्जुन के दर्शन पर विभाजन बहुत पहले से विद्यमान है अत शकर सत्ता के इस त्रिविध विभाजन मे अवश्य नागार्जुन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। नागार्जुन शकर की तरह यह मानते है कि केवल परमसत् (परमार्थ) ही नहीं है वरन इस प्रपचात्मक विश्व का सापेक्षसत् (लोक सवृत्ति सत) भी है। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय–भ्रम (लोक सवृति तथ्या सवृति) विभ्रम (मिथ्या सवृति अथवा अलोक सवृति) इत्यादि भी है जिनका साधारण अनुभव मे बाधा हो जाता है और शश श्रृग की भॉति नितान्त अनस्तित्व भी है।[२८] इस आधार पर यह विलकुल निराधार नहीं प्रतीत होता कि शकर ने सत्ताओ का वर्गीकरण नागार्जुन से ग्रहण कर लिया हो।

किन्तु कतिपय विद्वान उपर्युक्त मत से सहमत नहीं है। प्रोफेसर नौलखा के शब्दो मे– यदि हम इस बात पर ध्यान दे कि इस प्रकार का वर्गीकरण उपनिषदो मे भी विद्यमान है और दोनो द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का भी निरीक्षण करे तो यह भली भाति कहा जा सकता है कि नागार्जुन और शकर दोनो ने इस विचार को उपनिषदो से ग्रहण किया हो। क्या कभी कभी विभिन्न व्यक्तियो के द्वारा स्वतन्त्र रुप से समान प्रकार की खोजे नही की गयी है? यदि समान दशाओ के कारण दो विभिन्न विचारको मे समान विचार आते है तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। अत इस सम्बन्ध मे शकर को शून्यवादी नागार्जुन की अपेक्षा उपनिषदो का ऋणी मानना अधिक उपयुक्त होगा क्योकि वे उपनिषदो का आदर करते है और नागार्जुन के दर्शन मे कोई रुचि नही रखते।[२९]

३ प्रोफेसर ए०सी० मुकर्जी के शब्दो मे शकर के लिए आभास जगत नितान्त असत नहीं है ईश्वर उसमे अन्तर्वर्ती है इसके विपरीत नागार्जुन प्रपचात्मक विश्व को सत नही मानता है। सम्पूर्ण विश्व उसकी दृष्टि मे शश श्रृग के समान असत् है।[3]

ब्रह्मसूत्र भाष्य के आरम्भ मे शकर ने स्पष्ट घोषण की है कि समस्त वेदान्त का प्रारम्भ सर्वव्यापी आत्मा और व्यक्तिगत आत्मा का तादाम्य प्रमाणित करने के लिए होता है।[31] किन्तु इस प्रकार की घोषणा नागार्जुन ने कभी नही की। वस्तुत ऐसी कोई घोषणा उसके निषेधात्मक द्वन्द्वन्याय के साथ पूर्णत असगत होगी।[32]

४ नागार्जुन के 'द्वन्द्व अद्वय और शकर के अद्वैत सिद्धान्त के आधार पर भी यह मिथ्या धारणा उत्पन्न हुई कि शकर ने नागार्जुन का अक्षरश अनुकरण किया। किन्तु वस्तुत दोनो दो भिन्न सिद्धान्त हैं। नागार्जुन का अद्वय वह ज्ञान है जो विचार की अस्ति और 'नास्ति सत् और असत वर्गणाओ से ऊपर उठने की बात करता है। यह वह ज्ञान है जो बुद्धि विकल्पो के विरोधो से ऊपर है। बुद्धि विकल्प उस पर लागू नहीं होते।

इसके विपरीत अद्वैत विरोधातीत ब्रहमन् या सन्मात्र का ज्ञान है जहॉ आत्मा और ब्रह्म की एक रुपता स्थापित होती है। कभी–कभी विज्ञानवाद अपने परमतत्व विज्ञप्तिमात्रता के लिए अद्वय शब्द का प्रयोग करता है किन्तु यहॉ अद्वय अद्वैत का पर्याय है।

(२) अद्वय का विवेचन विशुद्ध रूप से ज्ञानमीमासीय दृष्टिकोण से किया गया है इसके विपरीत अद्वैत सत्तामूलक दृष्टिकोण से।

(३) माध्यमिक शून्यवाद के अद्वय वाद का लक्ष्य चिन्तन प्रक्रिया का विशुद्धीकरण है। बुद्धि की सबसे बडी कमी इस बात मे है कि वह परमार्थ (परमतत्व) भेद–अभेद नित्य–अनित्य एक और बहु इत्यादि के द्वन्द्व मे बॉधना चाहती है। ये दृष्टिकोण परमाथ का मिथ्या रूप उपस्थित करते है। अद्वय दृष्टि इसका परिमार्जन कर परमार्थ का वास्तविक रूप उपस्थित करती है। बुद्धि के इस विशुद्धीकरण के स्वरूप प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है और परमार्थ का ज्ञान तथता या भूतकोटि के रूप मे होता है अत यहॉ ज्ञान के वास्तविक दृष्टिकोण पर बल दिया गया है न कि ज्ञेय (परम ज्ञेय–ब्रह्म)पर।[33]

इसके विपरीत अद्वैतवेदान्त मे परमज्ञेय (ब्रह्म) पर बल दिया गया है। जब भेदातीत ब्रह्मन का साक्षात्कार हो जाता है तो ज्ञाता भी ज्ञेय रूप हो जाता है। ब्रह्मविद् ब्रह्ममेव भवति[34]

(५) नागार्जुन और शकर के द्वन्द्वन्याय विधि का उद्देश्य भी भिन्न है। नागार्जुन इसका प्रयोग परमार्थ (परमतत्व) विषयक परस्पर विरोधी–अस्ति–नास्ति दृष्टियो की असत्यता (मिथ्यात्व) प्रदर्शन करने के लिए करते हैं इसके विपरीत शकर इसका प्रयोग भेद–द्वैत और विशेष (परिच्छेद) का खण्डन करने के लिए करते है और इस प्रकार इनका खण्डन कर हमे सन्मात्र ब्रह्म का बोध कराते है जो कूटस्थ नित्य सार्वभौम और स्वयसिद्ध है।[35]

(६) नागार्जुन किसी तत्वशास्त्र या दृष्टि का प्रतिपादन नहीं करते। वे स्पष्ट शब्दो मे कहते हैं कि न तो मेरी कोई प्रतिज्ञा है और न मेरी कोई दृष्टि है। दृष्टि की स्थापना अस्तिवादी चिन्तन मे रत होना है। दूसरे शब्दो मे 'दृष्टि वाद का सूत्रपात्र करना है। नागार्जुन के परमार्थ (परम तत्व) विषयक इस असिद्धान्तवाद अथवा अ–दृष्टिवाद को विज्ञानवादी और अद्वैतवादी दार्शनिको ने अ–तत्त्ववाद समझ लिया और इस आधार पर सर्व–वैनाशिक शून्यवाद[35] कहकर उसकी भर्त्सना की। किन्तु ऐसी आलोचना शून्यवाद के प्रति घोर अन्याय है। नागार्जुन परमार्थ (परमतत्व) का निषेध नहीं करते अपितु तत्वसम्बन्धी सिद्धान्तो या दृष्टियो का। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता मे नागार्जुन के इस प्रज्ञापारमिता सिद्धान्त का सुस्पष्ट शब्दो मे उद्घोष है कि सुभूति यह प्रज्ञापारमिता स्कन्धो धातुओ अथवा अयतनो का सघात नहीं है। इन सघातो के माध्यम से हम परम तत्व–प्रज्ञापारमिता का दर्शन नहीं कर सकते।[36]

इस प्रकार हम देखेगे कि नागार्जुन की प्रसग विधि–निषेधात्मक भले हो किन्तु उसका निष्कर्ष परमार्थ–धर्मकाय का बोध–साक्षात्कार या स्वानुभूति है।

प्रोफेसर पाल डवायसन के अनुसार शकर के दर्शन का उपनिषद के दशन मे वही सम्बन्ध है जो फल का फूल से। वो कहते है कि भारतीय प्रज्ञान के वृक्ष पर उपनिषदो से अच्छा पुष्प और वेदान्त दर्शन से अच्छा कोई फल नही है। इस दर्शन तन्त्र का जन्म उपनिषदो की शिक्षाओ म ही हुआ। और शकर ने उसे इसके उत्कृष्टतम स्तर पर पहुँचाया।[३]

प्रोफेसर मैक्समूलर के अनुसार भी उपनिषदो मे शकर के दर्शन के लगभग सभी बीज विद्यमान है। वे कहते है कि जब हम विचार करते है कि वेदान्त दर्शन के सारभूत तत्वमीमासीय विचार कितने सूक्ष्म और गूढ है तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि शकर ने उनको या उनके बीजो को प्राचीन उपनिषदो मे से खोज निकाला है। हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि वेदान्ती दार्शनिको के बहुत से गूढ विचारो की जडे उपनिषदो मे निहित हैं।[३६]

वे पुन कहते हैं कि वेदान्तदर्शन एक स्वतत्र दर्शन विधि है। यह उसकी एक असाधारण विशेषता है। किन्तु यह दर्शन उपनिषदो पर पूर्णत अवलम्बित है।[४]

प्रोफेसर रानाडे के शब्दो मे 'वेदान्त दर्शन का उपनिषदो के दर्शन के साथ लगभग वैसा ही सम्बन्ध है। जैसा अरस्तू और स्कूल मैन के दर्शन के बीच दिखाई देता है।'[४१] उनके अनुसार ब्रह्मसूत्र और उपनिषद वे अधार शिलाए है जिस पर समस्त वेदान्त दर्शन का भवन खडा है।

उपनिषदो को केवल शकर के ही दर्शन का नहीं अपितु कभी–कभी प्राय सभी परवर्ती भारतीय दर्शनो का मूलस्रोत माना जाता है। एडमाण्ड होम्स लिखते हैं कि– सभी युगो के भारतीय विचारक परिकल्पनात्मक विचारो के मूल स्रोत स्वरूप उपनिषदो के पास जाते हैं।[४३] डॉ० राधाकृष्णन के शब्दो मे 'उपनिषद् वे आधार है जिन पर बाद के बहुत से भारतीय दर्शन और धर्म खडे है।'[४४]

ब्लूम फील्ड का कथन है कि 'विपन्थी बौद्धवाद के सहित हिन्दू विचार का कोई भी महत्वपूर्ण रूप ऐसा नहीं है जिसकी जडे उपनिषदो मे न हों।'[४५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम प्रोफेसर आर०पी० सिह के इस कथन स सहमत है कि शकर के वेदान्तवाद ने बौद्धवाद से प्रेरणा प्राप्त नहीं की है। उसे बौद्धो जैसे शून्यवाद एव प्रत्ययवाद से सम्बन्धित करना अनुचित है।[६]

नागार्जुन और शकर के दार्शनिक सिद्धान्तो के विवेचन से हम स्पष्ट रूप से इस निष्कष पर पहुँचते है कि दोनो के दर्शन पूर्ण रूप से स्वतत्र हैं और दोनो पर प्रत्यक्ष और परोक्षरूप मे उपनिषदो का प्रभाव है किन्तु नागार्जुन बौद्ध मतावलम्बी होने के कारण उसे स्वीकार नहीं किया।

नागार्जुन और विज्ञानवाद

नागार्जुन और आर्यदेव ने विज्ञानवाद की आलोचना नहीं की क्योकि विज्ञानवाद उन दार्शनिको के युग मे अपने विधिवत रूप मे नहीं थी। असग और वसुबन्धु का विज्ञानवाद अपने प्रौढ रूप मे नागार्जुन और आर्यदेव के बाद विकसित हुआ इसलिए नागार्जुन और आर्यदेव के दर्शन मे हम उसकी आलोचना नहीं पाते किन्तु चन्द्रकीर्ति शान्तिदेव के आते आते इसका पूर्ण विकास हो चुका था। इसलिए इन दार्शनिको द्वारा इसकी आलोचना की गयी है।[७]

विज्ञानवाद की यह धारणा है कि चित्त या विज्ञान (विज्ञप्तिमात्रता) का स्वत अस्तित्व है और समस्त बाह्य जगत इसी का विकार है जो उसमे अन्तर्निहित शक्ति से समुद्भूत होता है। जैसे स्वप्न या भ्रम की अवस्था मे चित्त स्वप्रतिष्ठित रहा है यही बात सभी अवस्थाओ मे लागू होती है। जैसे समुद्र की तरगे समुद्र से उठती हैं ओर वे उससे भिन्न प्रतीत होती है यद्यपि उस समुद्र के अतिरिक्त उनका असित्व नहीं है इसी प्रकार सर्वबीजक आलय विज्ञान से निखिल जगत् प्रादुभूर्त होता है इसका अलग अस्तित्व नही है।

> यथा तरगा महतोऽम्बुराशे समीरणप्रेरणमोर्भवन्ति।
> तथा लयाख्यादपि सर्वबीजाद् विज्ञानमात्र भवति स्वशक्ते ।।[८]

यह विज्ञान आत्मनिर्धारक है और अपने ही नियमो द्वारा सचालित होता है यह सर्जक और स्वय प्रकाश है तथा प्रकाशपुज (दीपक) की भॉति स्वयवित्त या स्वयज्ञेय है।

चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव दोनो ही दार्शनिको ने विज्ञानवाद के इस रूप की आलोचना की है। उनके अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। बिना ज्ञेय के ज्ञाता के अस्तित्व का प्रश्न कहाँ उठता है।

यदि वाह्य जगत और उसकी वस्तुए नही है तो विज्ञान किसका ज्ञान करता है।[1] चित्त तो रिक्त है यह स्वय का बोध कैसे करेगा। कार्य सम्पादन के लिए इसे बाह्य वस्तु की आवश्यकता है। ज्ञाता को अपने ज्ञातृत्व के लिए ज्ञेय की आवश्यकता है।[1] जैसे तेज से तेज धार वाली तलवार स्वय अपने को नही काट सकती है। काटने का व्यापार सम्पादन के लिए उसे एक पृथक वस्तु की आवश्यकता है अथवा हमारी उगलियॉ स्वय अपना स्पर्श नही कर सकतीं। स्पर्श करने के लिए अन्य वस्तु की आवश्यकता है। इसी प्रकार कोई भी वस्तु ज्ञाता और ज्ञेय युगपद् नहीं हो सकता और यदि यह स्वय का ज्ञान प्राप्त करेगा तो वह परवर्ती ज्ञान एक अन्य विज्ञान द्वारा ज्ञेय होगा इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा।

यदि विज्ञानवादी यह कहता है कि बुद्धवचन से मेरे सिद्धान्त की पुष्टि होती है तो कथन ठीक नहीं है। वस्तुत भगवान् बुद्ध की देशना को दो भागो मे बॉटा जा सकता है १ नेयार्थ २ नीतार्थ। नीयार्थ के सिद्धान्त है जिनका उपदेश साधारण बुद्धि के लोगो को उनकी क्षमता के अनुसार दिया जाता है और नेयार्थ वे उपदेश है जो प्रज्ञा सम्पन्न शिष्यो को दिया जाता है नेयार्थ सिद्धान्त परम सिद्धान्त नहीं हैं ये साधक को शून्यता की गम्भीर दृष्टि को उत्पन्न करने के लिए साधन मात्र है। विज्ञानवाद कुछ वस्तुओ के अस्तित्व (विज्ञान) को स्वीकार करता है और बाह्य वस्तुओ के अस्तित्व को अस्वीकार करता है अत यह नहीं कहा जा सकता कि यह अस्ति और नास्ति दोनो के अस्तित्व को अस्वीकार करता इसलिए इसकी शिक्षा भगवान् बुद्ध की देशना मध्यमा प्रतिपत के अनुकूल नहीं है।[1]

शकराचार्य भी विज्ञानवाद की कुछ ऐसी ही आलोचना करते हैं वे कहते हैं कि यदि चेतना और उसकी वस्तु दोनो एकाकार होते और उनमे कोई भेद न होता तो चेतना कभी किसी वस्तु से अलग होने मे समर्थ न होती। पुनश्च हमे घट का ज्ञान होता है और फिर पट का तो दोनो बार चेतना वही रहती है किन्तु केवल चेतना मे विभेद उत्पन्न करने वाले लक्षणो मे परिवर्तन होता है। दो परिवर्तनीय कारको के द्वारा एक अपरिवर्तनीय कारक की उनसे भिन्नता निरन्तर सिद्ध होती रहती है और इसके विपरीत एक अपरिवर्तनीय कारक के द्वारा दो या अधिक परिवर्तनीय कारको की उनमे भिन्नता सिद्ध होती रहती है अत वस्तु और प्रत्यय भिन्न है–

योहि येभु भवति स तद् व्यतिरिकोभवत्येव[1]

काण्ट ने शुद्ध बुद्धि की मीमासा मे प्रत्ययवाद का खण्डन करते समय ऐसी ही बाते कई बार कहीं है।[५३] काण्ट और माध्यमिक दोनो ही कहते है कि बिना वस्तुओ के आत्मज्ञान नही हो सकता। वस्तुत इन्द्रियातीत प्रत्ययवादी (काण्ट) एक ऐसा दार्शनिक है जो व्यवहार के स्तर पर जगत की अनुभवमूलक वस्तुआ का अस्तित्व करता है और जोर देकर कहता है कि वस्तुओ का स्वतत्र अस्तित्व है वे मात्र अनुमान का विषय नही है अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उनका साक्षात्कार होता है।[५४] बोधिचर्यावतार मे शून्यवादी कवि और दार्शनिक शान्तिदेव भी यही कहते हैं–

यथा दृष्ट श्रुत ज्ञात नैवेद्ध प्रतिषिध्यते।[५५]

विज्ञानवाद के अनुसार शून्यवाद द्वारा शून्यता की इस रूप मे व्याख्या एक प्रकार का अनावश्यक एकान्तवाद है। शून्यता का अर्थ सबका निषेध नहीं अपितु परमतत्व मे सत असत के युगपद अस्तित्व का निषेध है। विज्ञानवाद के अनुसार अभूतपरिकल्पित (परमतत्व) का अस्तित्व है। केवल उसमे सत असत के युगपद् अस्तित्व का अभाव है। यह शून्यता का भी आधार है।[५६] यह लोकोत्तर सर्जनकारी विज्ञप्तिमात्रता है जो समस्त सवृति–आत्मा धर्म कर्ता और कर्म का अपने मे से ही सृजन करती है। समस्त सम्बन्ध आन्तरिक है जो इसमे विद्यमान है। यह दोनो वस्तुओ के बीच सम्बन्ध नहीं स्थापित करती। विषयी और विषय के द्वैत पर आधारित बुद्धि विकल्पो द्वारा निर्मित यह जगत् असत है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विज्ञप्तिमात्रता भी असत है क्योकि यह उस द्वैत का भी आधार है।[५७] किन्तु स्वत यह स्वरूपेण बुद्धि द्वारा सृष्ट नहीं है क्योकि ऐसा मानने पर अन्य वस्तुओ की भाति यह भी कल्पित हो जायेगा। इस परम तत्व का बोध लोकोत्तर अद्वय ज्ञान मे होता है। यह अभूत परिकल्पित ही निष्पन्न है। दोनो एक रूप है। दोनो मे मात्र यह भेद है कि अभूतपरिकल्पित पर विषयी और विषय का द्वैत अध्यारोपित है इसके विपरीत परिनिष्पन्न पूर्णरूपेण द्वैत से युक्त है इस प्रकार ससार अनुभवमूलक जगत् (परतन्त्र) और परिनिष्पन्न का पारस्परिक सम्बन्ध लोकोत्तर और अन्तर्यामी दोनो है। ये दोनो परस्पर अन्य और अनन्य दोनो है।[५८]

निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदारहितता तु या
अतएव स नैवान्यो नानन्य परतन्त्रत ।।

नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) विज्ञानवाद और अद्वैतवाद के उपर्युक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि इन तीनो मे कुछ सामान्य विशेषताए पाई जाती हैं।

१ अपने पारमार्थिक रूप मे ये तीनो निरपेक्ष एक है। इन सभी निकायो म परमतत्व निरपेक्ष परत्पर लोकोत्तर निर्धर्मक निर्विकल्प और शून्य है।

२ यह अन्तयार्मी भी है क्योकि यह प्रतीयमान जगत का आधार है।

३ इसका ज्ञान ज्ञानेन्द्रियो और बुद्धि विकल्पो द्वारा नही हो सकता। इसका साक्षात्कार अनुभवातीत अन्तर्बोधि द्वारा ही हो सकता है जिसे वे प्रज्ञा क्रमश प्रज्ञापारमिता लोकोत्तर ज्ञान और अपरोक्षानुभूति की सज्ञा देते है।

४ ये सभी निकाय अनुभवमूलक जगत (सवृति) के स्वरूप पर एक मत है। इसका कथन है अनादि अविद्या के कारण इसकी प्रतीति होती है और परमार्थ विषयक सम्यग ज्ञान (विद्या) की प्राप्ति से इसका तिरोभाव हो जाता है। किन्तु अविद्या के स्वरूप और परमतत्व के सम्बन्ध मे इनमे मतभेद है। इनमे से प्रत्येक अद्वैत अथवा अद्वयवाद ही है जिसकी स्थापना वे द्वैत या प्रतीति (सवृति) का खण्डन करके करते हैं न कि विधिमूलक वास्तविक तर्को द्वारा। इन तीनो की सवृति या प्रतीयमान जगत् के निराकरण की विधि भिन्न है। माध्यमिक के अनुसार बुद्धि विकल्प अथवा दृष्टि के कारण हम वस्तुओ के पारमार्थिक स्वरूप (प्रज्ञा) का ज्ञान नहीं करपाते। यही दृष्टि परम सत को मिथ्यारूप मे प्रकट करती है। अत यहॉ दृष्टि (मिथ्या) का निषेध किया जाता है। विज्ञानवाद मे वस्तुतत्व का निषेध किया जाता है। हमारी वस्तुता (वस्तु है) की धारणा के कारण परम तत्व विषयी और विषय ज्ञाता और ज्ञेय तथा द्रष्टा और दृष्ट के द्वैतरूप मे भासित होता है अत निष्पन्न के ज्ञान के लिए वस्तुत्व का निराकरण आवश्यक है।

अद्वैत वेदान्त भेद के निराकरण पर बल देता है भेद दृष्टि के निराकरण से अभेद—अद्वैत परम तत्व प्रकट होता है।

५ ये सभी निकाय किसी न किसी रूप मे परमार्थ और व्यवहार मे भेद के सिद्धान्त को स्वीकार करते है। नागार्जुन सवृति (१ तथ्या सवृति २ मिथ्या सवृति) और ३ परमार्थ मे भेद करते हैं विज्ञानवाद परिकल्पित परतन्त्र और परिनिष्पन्न मे भेद करता है तथा अद्वैतवेदान्त १ प्रतिभासिक २ व्यावहारिक और ३ पारमार्थिक सत्य मे भेद करता है।

६ ये सभी निकाय इस बात पर सहमत हैं कि परम तत्व का बोध भाषा और तर्कों द्वारा नहीं हो सकता। आध्यात्मिक साधना समाधि और कठोरनैतिक नियमो के अनुसार जीवन यापन के द्वारा ही हमे परमसत्य का साक्षात्कार हो सकता है। इस प्रकार के जीवन के फलस्वरूप प्रज्ञा का उदय होगा जिसके फलस्वरूप हमे पूर्णरूप से मुक्ति (निर्वाण) की प्राप्ति होगी और हम ब्रह्मस्वरूप–परमार्थ स्वरूप हो जायेगे।[५] अभी तक हमने उपर्युक्त तीनो निकायो शून्यवाद विज्ञानवाद और अद्वैतवाद के दार्शनिक सिद्धान्तो मे पाई जाने वाली सामान्य भिन्नताओ का विवेचन किया है अतएव उनमे पाई जाने वाली भिन्नताओ का विवेचन करेगे जिनके फलस्वरूप ये निकाय एक दूसरे से पूर्णरूप से पृथक हैं।

उपर्युक्त तीनो निकाय भ्रम का निराकरण करते हैं किन्तु भ्रम के स्वरूप और भ्रम के निराकरण की विधा मे पर्याप्त अन्तर है।

१ विज्ञानवाद और अद्वैतवेदान्त अनुभव जन्य भ्रम रज्जुसर्प अथवा स्वप्न के विषय से दार्शनिक चिन्तन प्रारभ करते है और जगत् भ्रम तक इस प्रक्रिया को पहुचाते है। इन दार्शनिको के अनुसार जिस प्रकार अन्धकार मे हमे सभी मे साप की प्रतीति होती है किन्तु साप का अस्तित्व नहीं हमने अन्धकार के फलस्वरूप रस्सी पर आरोपित कर दिया है। उसी प्रकार स्वप्न मे जगत् के विषय नही हैं किन्तु मन प्रसूत विषय हमे वास्तविक विषय से लगते है। इसी प्रकार अनुभवमूलक जगत का स्वत अस्तित्व नहीं है किन्तु अविद्यावश हमने परमतत्व ब्रह्म पर जगत को आरोपित कर दिया है।

रज्जुसर्प के भ्रम से अनिवार्यत यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि समस्त अनुभवमूलक जगत् भी इसी प्रकार का है।[६] हम निष्कर्ष पर पहुचने के लिए वेदान्त श्रुति (वेद) का सहारा लेते है जहॅा स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मात्र ब्रह्म की ही सत्ता है और जगत् मिथ्या है। 'ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या

श्रुति योनित्वात[६१] साथ ही यह भी उपदिष्ट है कि परमतत्व के बोध के लिए आचार्य के पास जाना चाहिए और आचार्य वान् पुरुष इस परम तत्व को जान सकता है–

तत्विज्ञानार्थं गुरुम् एताभिगच्छेत् तथा आचार्यवान् पुरुषों वेदो

इसके विपरीत विज्ञानवाद शब्द प्रमाणा या ब्रह्मवचन से इस निष्कर्ष पर नही पहुचता। वह समाधिया और भूमियो की अनुभूति के आधार पर परमत्व का साक्षात्कार करता है जहॉ विषयता का धीरे–धीर तिराभाव हो जाता है और असज्ञि अथवा निरोध समापत्ति की अवस्था मे यह बोध होता है कि चित्त या विज्ञप्तिमात्रता एक मात्र परम तत्व है। और जगत् इस पर आरोपित अध्यासमात्र है।

चित्त मात्र भो जिनपुत्रा यदुता भैधातुकम इति वचनात।।[63]

नागार्जुन न तो श्रुति का सहारा लेते हैं और न तो चित्त समापत्ति आदि दश भूमिओ का। वह अनुभवजन्य भ्रम के स्थान पर अनुभवातीत (लोकोत्तर) भ्रम से प्रारम्भ करता है जो विविध दृष्टिया और दार्शनिक सिद्धान्तो के अपरिहार्य सघर्ष के फलस्वरूप प्रकट होता है। वह प्रत्यक्ष रूप मे परम तत्व के सम्बन्ध मे प्रचलित दृष्टियो (सिद्धान्तो) की समीक्षा करता है और परोक्षरूप से परमतत्व पर पहुँचता है। अत माध्यमिक (नागार्जुन) की विधि पूर्णरूप मे अनुभव की समीक्षा है यहॉ द्वन्द्वन्याय समीक्षा दर्शन है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त मे द्वन्द्वन्याय दर्शनशास्त्र की सेवा मे सलग्न है। उसका कार्य दार्शनिक चिन्तन मे सहायक होना है।[64] निषिद्ध वस्तु क्या है? दूसरे शब्दो मे वह कौन सी वस्तु है जिसका निषेध किया जाता है?

यदि हम भ्रम के स्वरूप को इस रूप मे रखे कि यह सर्प है तो इसकी निषेधक विज्ञान का स्वरूप होगा यह सर्प नहीं है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार नही का प्रयोग 'सर्प के लिए है। 'यह सर्प नहीं है का अर्थ है कि 'यह तो सत्य है किन्तु इस पर सर्प का आरोपण गलत है। विज्ञानवाद के अनुसार 'नही का प्रयोग यह के लिए है। 'सर्प यह नही है का अर्थ है कि सर्प। इसके रूप मे नहीं है अर्थात् विकल्पात्मक विज्ञान के आरोपण व्यापार से स्वतत्र वस्तु के रूप मे इसका अस्तित्व नहीं है अपितु यह और विकल्पात्मक विज्ञान एक ही है। दूसरे शब्दो मे अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह सत–ब्रह्म न वास्तविक है और आरोपक विकल्पात्मक विज्ञान की सृष्टि होने के नाते सर्प परिकल्पित या प्रतिभाषिक है। दूसरे शब्दो मे विज्ञानवाद मे इस वाक्य की स्थिति अद्वैतवेदान्त से ठीक उल्टी है। विज्ञान से पृथक अस्तिव के रूप मे यह परिकल्पित वस्तु मात्र है– अर्थात् यह प्रतीति मात्र है। और सर्प की वास्तविक सत्ता है। क्योकि यह विकल्पात्मक विज्ञान की विकल्पना की एक विद्या है। किन्तु अद्वैत वेदान्त और विज्ञानवाद दोनो मे 'यह' सामान्य रूप मे विद्यमान है। अन्तर यह है कि भ्रम के परिप्रेक्ष्य मे अद्वैतवेदान्ती 'सर्प' को प्रतीति मान कर उसका निषेध करते हैं और विज्ञानवादी' इस का। विज्ञानवादी कहता है कि यह पूर्णरूपेण मिथ्या है (स्वरूपतो मिथ्या–परिकल्पित) है।

येन येन विकल्पेन यद्यद् वस्तु विकल्प्यत।

परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते।। त्रिशिका २०

प्रथमा लक्षणेनैव नि स्वभाव वही २३

उतिश्च स्वरूपाभावात पुरुषवत स्वरुपेणैव नि स्वभाव– वही पृ० ४१

किन्तु अद्वैतवेदान्ती और विज्ञानवादी दोनो ही उपर्युक्त वाक्य के एक अश को सही मानते है। अद्वैत वेदान्ती सर्प को और विज्ञानवादी इस को। उनके अनुसार यह प्रतीति (सवृति) से ससर्ग (सम्बन्ध) होने के कारण मिथ्या है। (ससर्गतो मिथ्या)। विज्ञान या चेतना (परतन्त्र) परिकल्पित से ससर्ग के कारण मिथ्या है किन्तु स्वरूपत यह परिनिष्पन्न– परमार्थ ही है। दोनो एक रूप है इनमे किसी प्रकार का भेद नहीं है।[54]

तार्किक दृष्टि से विचारने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि सम्बन्ध मिथ्या हो सकता हे किन्तु जिन पदो को वह जोडताहै वे दोनो मिथ्या नहीं है उनमे से एक मिथ्या है और अन्य पूर्णरूप से वास्तविक है। दूसरे शब्दो मे सम्बन्ध को जोडने वाले दोनो पद एक ही कोटि के नहीं है उनमे से एक उच्चतर कोटि का है और अन्य निम्नतर कोटि का दोनो पद न तो परस्पर परतन्त्र है और न परस्पर स्वतत्र है। सम्बन्ध न तो आन्तरिक है और न बाह्य। यदि दोनो पद परस्पर परतन्त्र है तो उन दोनो पदो को हम अलग नही कर सकते। हम उनके विषय मे यह भी नहीं कह सकते कि वे दोनो भिन्न पद है क्योकि भेद का आधार ही नहीं है। अगर वे परस्पर स्वतत्र हैं तो उनके सम्बन्ध का आधार ही नही है क्योकि दोनो स्वप्रतिष्ठित सत्ताए हैं। इस द्विविधा से बचने के लिए हमे यह मानना पडेगा कि दोनो पदो मे से एक को आधार और दूसरे को आधेय मानना पडेगा जिनमे आधार स्वतत्र होने के नाते आधेय से पृथक भी रह सकता है किन्तु आधेय परतत्र होने के नाते आधेय से पृथक रूप मे नहीं रह सकता।

किन्तु नागार्जुन (माध्यमिक) रज्जुसर्प दृटान्त की व्याख्या अद्वैतवेदान्त और विज्ञानवाद दोनो से ही पृथक और स्वतत्र रूप मे करता है। उसके अनुसार निषेध (नहीं) दोनो पदो 'यह सर्प नही हैं मे समान रूप से लागू होता है। 'यह सर्प से पृथक रूप मे नहीं सोचा जा सकता क्योकि 'यह सर्प के तदाकारता के रूप मे ही जाना जाता है उसमे पृथक रूप मे नहीं। इसी प्रकार 'सर्प का भी ज्ञान 'यह' की एकरूपता से ही होता है उससे पृथक रूप मे नहीं। ये दोनो सापेक्ष या प्रतीत्य समुत्पन्न हैं इसलिए मिथ्या हैं।[55] माध्यमिक (नागार्जुन) की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए उसका किंचित विस्तृत विवेचन आवश्यक है। नागार्जुन का

कथन है कि किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध दोनो ही पद मिथ्या है क्योकि परस्पर सम्बद्ध होने के कारण उनका कोई स्वभाव नही है। उनकी सापेक्षता ही उनका मिथ्यात्व सिद्ध करती है–

तस्तत्प्रायय यदुत्पन्न नोत्पन्न तत्स्वभावत ।

इसके विपरीत अद्वैत वेदान्ती और विज्ञानवादी दोनो पदो को समानरूप से परतत्र या सापक्ष नही मानते। वे उनमे से एक आधार (परमतत्व) और दूसरे को आधेय मानते है। माध्यमिक का कथन है कि द्रव्य और गुण समान रूप से मिथ्या है क्योकि वे एक दूसरे से पृथक रूप मे नहीं सोचे जा सकते। किन्तु अद्वैतवेदान्ती का यह कथन है कि गुण द्रव्य पर आरोपित है। द्रव्य से पृथक और स्वतत्र रूप मे उनकी सत्ता नही है वे विराट सत स्वरूप परमार्थ का निषेध करते है अत वे स्वभाव से मिथ्या है (स्वरूपतो मिथ्या) किन्तु द्रव्य या सामान्य स्वभावत सत्य है उसका गुणो या विशेषो से प्रतीयमान सम्बन्ध मिथ्या है (ससर्गो मिथ्या) इसका एक लोकोत्तर अथवा इन्द्रियातीति स्वरूप है जो सम्बन्धातीत है सक्षेप मे उपर्युक्त तीनो निकायो की स्थिति इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है–

अद्वैतवेदान्त का ब्रह्म शुद्ध सत है और इसके साक्षात्कार की विधि (प्रणाली) ज्ञानमीमासात्मक है। विज्ञानवाद की विज्ञप्तिमात्रता शुद्ध किया (इन्द्रियातीत विकल्पना) है और इसके साक्षात्कार की विधि विज्ञानपरक है। नागार्जुन की शून्यता प्रज्ञा या अद्वयानुभूति है और इसके साक्षात्कार की विधि समीक्षा या शून्यता दृष्टि है। यह वस्तुरिक्तता या दृष्टिरिक्तता की अवस्था है। वस्तुत अद्वैतवेदान्त का ब्रहमन और विज्ञानवाद की विज्ञप्तिमात्रता भी वस्तुरिक्तता की अवस्थाए है क्योकि शुद्ध सत (ब्रहमन्) या विज्ञप्तिमात्रता के दर्शन मे इनसे पृथक और अन्य कोई दूसरी सत्ता है नहीं जिनसे इनको पृथक किया जा सके अथवा जिनको इन पर आरोपित किया जा सके क्या ऐसी स्थिति इन्हे ब्रह्मन् या विज्ञप्तिमात्रता अथवा कोई दूसरी सज्ञा दी जा सकती है? वस्तुत किसी भी सुसम्बद्ध और सुव्यवस्थित निरपेक्षवाद (Absolutism) का अवसान माध्यमिक दर्शन के अप्रतिज्ञावाद मे होता है। उनकी गन्तव्यविधि और चिन्तन प्रणाली मे भले ही भेद हो किन्तु गन्तव्य (परमतत्त्व) एक ही होता है उसे चाहे हम अद्वैतवेदान्त मे ब्रहमन् की सज्ञा दे विज्ञानवाद मे विज्ञप्तिमात्रता कहे नागार्जुन मे शून्यता या अद्वयतत्त्व कहे अथवा पाश्चात्य दर्शन की भाषा में स्पिनोजा का द्रव्य काण्ट का नाउमेना या हेगल और उसके अनुयायी ब्रेडले आदि का निरपेक्षतत्त्व (Absolute)।[६८]

काण्ट के प्रस्थान विन्दु की दृष्टि से यदि हम विवेचन करे तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि ये उपर्युक्त तीनो ही निरपेक्ष दर्शन अत्यत सुव्यवस्थित दर्शन हैं जिनकी जिनकी मॉग और सकेत तो काण्ट के दशन मे विद्यमान है किन्तु जिनका परिपक्वरूप वहॉ न विकसित हो सका। काण्ट की शुद्ध बुद्धिमीमासा म दा स्पष्ट प्रवृत्तियॉ देखने को मिलती है। इन्द्रियातीत विश्लेषणात्मक मे सरचनात्मक प्रवृत्ति और इन्द्रियातीत द्वन्द्व न्याय मे समीक्षात्मक या द्वन्द्वन्यायात्मक प्रवृत्ति। विश्लेषणात्मक से काण्ट अनुभव का सरचनात्मक सिद्धान्त प्रतिपादित करने का प्रयत्न करता है जो दो स्वतन्त्र क्षेत्रो मे विद्यमान घटको का सम्मिश्रण (compantıon) है और एक ओर तो प्रागनुभविक वर्गणाए है जो मस्तिष्क मे सहजात रूप मे विद्यमान हैं और दूसरी ओर सर्वथा विद्यमान् स्वत सद्वस्तु ( ) है – जिसकी व्याख्या प्रागनुभविक की पदावली मे ही की जाती है। हेगल और अन्य दार्शनिको की समालोचना के बावजूद हम इन मे से किसी का भी परित्याग करने की स्थिति मे नहीं है। समीक्षी की माग यह है कि हम इनमे से किसी को भी एक दूसरे से स्वतत्र रूप मे इन्द्रियातीत अनुभव करे। हमे शुद्ध स्वत सद्वस्तु की इन्द्रियानुभव निरपेक्ष रुप मे बुद्धि की वर्गणाओ की सहायता के बिना अनुभूति करना चाहिए इसी प्रकार हमे सद्वस्तु की सहायता के बिना बुद्धि की वर्गणाओ की अनुभूति करनी चाहिए दूसरे शब्दो मे काण्ट की समीक्षा दर्शन की यह तार्किक परिणति है कि यदि इन्द्रियजन्य अनुभव दो सघटको की सघात है तो इन दोनो सघटको को एक दूसरे से स्वतन्त्र और पृथक रूप मे प्राप्त होना चाहिए नही तो दोनो घटको के एक होने के कारण उनके सघात का प्रश्न ही नहीं उठता।[६६]

सन्दर्भ

१ क्रिटीक ऑव प्योर रीजन पृ ६

२ टी० आर० वी० मूर्ति द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २६४

३ क्रिटिक आफ प्योर रीजन २६८ २६६

४ द सेन्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २६०

५ क्रिटिक आफ प्योर रीजन २९९ ३००

६ द सेन्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३०० ३०१

७ कल्पवशेन विकल्पितु लोक सङ्गगहण विकल्पितु बाले ।

सोच गहो आगहो असभूतो मायमरीचिसमा हिविकल्पा ।। आर्योपालिपरिपृच्छा मध्यमकशास्त्र अध्याय ८ वही पृ० ३०१

८ द सेन्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३०१

६ द लाजिक ऑव हेगल पृ० ६३ वही पृ० ३०४

१० मध्यमकशास्त्र XXV १६–२०

ससार निर्वाणयो परस्परतो नास्ति कश्चित विशेषो

विचारमाणयो स्तुल्य रूपत्वात् – मध्यमक शास्त्रवृत्ति ५३५

११ द सेन्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३०५

१२ ब्रेडले अपीयरियेस एण्ड रियेलिटी पृ० २५

१३ वही पृ० २१

१४ वही पृ० २८–२६

१५ मध्यमकशास्त्र २ २१

१६ अपीयरियेस एण्ड रियेलिटी पृ० ४६

१७ वही पृ० ४७

१८ मध्यमक शास्त्र २०/१६

१६ मध्यमक शास्त्र २४/१६

२० द सेन्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३०८

२१ डॉ० राधाकृष्णन इडियन फिलासफी भाग १ पृ० ६४८

२२ अपीयरियेस एण्ड रियेलिटी पृ० १२०

२३ वही पृ० १२०

२४ द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३०६

२५ अपीयरियेस एण्ड रियेलिटी पृ० १२७

२६ द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३१०

२७ डॉ० रामस्वरूप सिह नौलखा 'शकर का ब्रह्मवाद' पृ० ४२ ४८

२८ डॉ० एस०एन० दास गुप्त हिस्ट्री ऑव इडियन फिलासफी भाग २ पृ० ५

२६ शकर का ब्रह्मवाद पृ० ४७

३० एस०सी०मुकर्जी द नेचर ऑव सेल्फ पृ० ३०३ ३०४

३१ शाकरभाष्य—ब्रह्मसूत्र परिचय

३२ शकर का ब्रह्मवाद पृ० ४८

३३ द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २१७

३४ वही

३५ वही पृ० २१८

३६ शून्यवादि पक्षस्तु सर्वप्रमाण विप्रतिसिद्ध इति तन्निराकरणाय चादर क्रियते।

शकर ब्रह्मसूत्र भाष्य २२३१

३७ द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑव बुद्धिज्म पृ० २१८

३८ आउट लाइन्स ऑव वेदान्त सिस्टम ऑव फिलासफी— 'प्रीफेस शकर का ब्रह्मवाद पृ० ५५ पर उद्धृत

३९ दि लेक्चरर्स आन वेदान्त फिलासफी पृ० १३५–१३६ वही पृ० ५५

४० वही पृ० ३१ वही पृ० ५६

४१ दि कान्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलासफी पृ० २०५

४२ वही पृ० ५

४३ इन्ट्रोडक्शन टु दि फिलासफी ऑव दि उपनिषद्स डॉ० एस० राधाकष्णन पृ० २

४४ वही पृ० १४

४५ द रेलिजन ऑव वेदस् पृ० ५१

४६ डॉ० आर०पी० सिह द वेदान्त ऑन शकर पृ० २

४७ द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३१७

४८ विज्ञानमात्र भवति। मध्यमकावतार ६४६

४९ सक्षेपतोज्ञेयम् असद् यथैव न धीरणीत्यर्थम् इममह्यवेहि। ज्ञेयस्वभावोयथा नास्ति तथा ज्ञेयाकारधीरपि स्वात्मनोऽनुत्पनए वेदितप्या तस्मात् विज्ञान वस्तु वादापस्मार गृहीतो वाहयविषयापवादि अय कस्माद् आत्मप्रपाते न पविष्यति— वही ६ पृ० ५८ ५९

५० यदा मायैव ते नास्ति तदा किमुपलभ्यते बोधिचर्यावतार पृ० ३६०

५१ माध्यमिककारिका वृत्ति पृ० २७५, शकर का ब्रह्मवाद पृ० २२३

५२ शाकर भाष्य २२२८ शाकरभाष्य वृहदारण्यक ४३७

५३ केम्पस्मिथ 'ए कमेण्ट्री टु द क्रिटीक पृ० २६८

५४ वही पृ० ३४७

५५ बोधिचर्यावतार पृ० ४०४– द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३१८

५६ मध्यान्तविभाग वृत्ति टीका पृ० ६

५७ न खल्वभूतपरिकल्पोऽपि न भवति। यथा रज्जु शून्या सर्वत्वभावेन तत्स्वभावत्वाभावात सर्वकाल शून्या न तु रज्जु स्वभावेन तथेहापि यच्शून्य तस्य सद्भावात् येन शून्य तस्य तत्राभावात वही पृ० १२–१३

५८ त्रिशिका २१–२२

५९ द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३२०–३२२

६० द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३२३

६१ बृहदारण्यक उपनिषद् १३२८

६२ द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑव बुद्धिज्म पृ० १५८

६३ वही पृ० १५६

६४ वही पृ० ३२३

६५ द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३२४

६६ वही पृ० ३२४

६७ वही पृ० ३२५

६८ वही पृ० ३२७

६९ वही पृ० ३२७

अध्याय–१४

नागार्जुन के दर्शन का भारतीय दर्शन पर प्रभाव

नागार्जुन का शून्यवाद दर्शन के आकाश मे पुच्छल तारे की भॉति न तो सहसा उत्पन्न और न सहसा अस्तगत हुआ। जहॉ इसका उत्स प्राचीनतम साहित्य वेद उपनिषद त्रिपिटक और महायान सूत्रो मे है वही इसका अस्तित्व आजतक विद्यमान है इस प्रकार दो हजार वर्षो का झझावात सहकर भी अपने यथावत स्वरूप मे विद्यमान है। मुस्लिम आक्रमणकारियो के कारण भले ही इसे स्वदेश छोडना पडा हो किन्तु तिब्बत चीन जापान कोरिया और मगोलिया मे अपने शुद्ध रूप मे विद्यमान है।

नागार्जुन के शून्यवाद के इतिहास को चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है–

प्रथम भाग ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से प्रारम्भ होकर तीसरी शताब्दी तक चलता है इस युग के महान दार्शनिक नागार्जुन और उनके शिष्य आर्यदेव है जिन्होने शून्यवाद को सुव्यवस्थित कर उसे विकास की चरम सीमा पर पहुचाया। इसी युग मे मध्यमकशास्त्र और चतु शतक की रचना हुई जो शून्यकाल का सर्वोत्तम ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये जो मूल सस्कृत मे नष्ट है किन्तु तिब्बती और चीनी अनुवाद के रूप मे आज भी सुरक्षित हैं। इनका विस्तृत विवेचन शून्यवादी दार्शनिको के अध्याय मे किया गया है।

द्वितीय भाग इस युग के महान दार्शनिक बुद्धपालित और भाव विवेक (भव्य) थे जिन्होने शून्यवाद के विकास मे एक नया अध्याय जोडा। इन का समय पाचवी शताब्दी का पूर्वाध है। बुद्धपालित के अनुसार प्रसग विधि या प्रसग वाचक शून्यवाद को प्रतिष्ठित करने का एकमात्र साधन है। एक सच्चे शून्यवादी का कोई अपना वाद या प्रतिज्ञा नहीं है इसलिए शून्यता को सिद्ध करने के लिए न्यायवाक्य तर्क और दृष्टात देने की आवश्यकता नहीं। प्रसग विधि को एकमात्र विधि मानने के कारण इस निकाय को शून्यवाद का प्रासगिक

निकाय कहा जाता है।[1] इस सम्प्रदाय को लोकप्रसिद्धि वर्गाचारि माध्यमिक भी कहा जाता है।[2] भव्य या भावविवेक बुद्धपालित के कनिष्ठ समकालीन थे। उन्होने आचार्य बुद्धपालित की इस बात के लिए आलोचना की कि वे मात्र प्रसग विधि द्वारा शून्यवाद के विरोधियो क सिद्धान्त का खण्डन करते है किन्तु अपनी प्रतिज्ञा (सिद्धान्त) का प्रतिपादन नही करते।[3] भव्य स्वतन्त्र माध्यमिक अथवा स्वातन्त्रिक माध्यमिक निकाय के सस्थापक है। आगे चलकर इन्ही की विचारधारा के फलस्वरूप सौत्रान्त्रिक योगाचार माध्यमिक निकाय की स्थापना हुई चन्द्रकीर्ति ने उनकी कटु आलोचना की है कि माध्यमिक दार्शनिक होते हुए[4] उन्होने अपना तर्क कौशल प्रदर्शित करने के लिए न्यायवाक्य और दृटान्त का सहारा लिया।[5] चन्द्रकीर्ति ने उनकी इस बात के लिए भी आलोचना की है कि उन्होने अपने विरोधी के सिद्धान्त का सही सही प्रतिष्ठापन नही किया।[6] भाव विवेक का यह भी मत था कि निर्वाण की प्राप्ति के लिए शून्यता की अनुभूति आवश्यक नहीं। श्रावक और प्रत्येक बुद्ध भी निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं।[7] यह नागार्जुन के एक यानवाद के निश्चित ही विरूद्ध है जिसके अनुसार निर्वाण प्राप्ति के लिए शून्यता का दर्शन आवश्यक है।

बुद्धपालित की मध्यमकवृत्ति और भावविवेक की 'तर्कज्वाला जो माध्यमिक हृदयवृत्ति तत्वामृतावतार के नाम से भी विख्यात है तथा भावविवेक के स्वतत्र ग्रथ मध्यमकावतार प्रदीप तथा मध्यमक प्रतीत्यसमुत्पाद इस युग के महान ग्रन्थ है।[8]

तृतीय भाग इस युग का छठवीं और सातवी शताब्दी है। इस युग के महान विचारक चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव है। इन दार्शनिको ने शून्यवाद को एक सुदृढ और सुसम्बद्ध और अनुदार सम्प्रदा का रूप प्रदान किया है। मध्यमशास्त्र पर चन्द्रकीर्ति की टीका 'प्रसन्नपदा और उनका स्वतत्र ग्रन्थ 'मध्यमकावतार तथा शाति देव के शिक्षासमुच्चय और बोधिचर्यावतार इस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ हैं। चन्द्रकीर्ति के प्रचण्ड पाण्डित्य और प्रसन्नपदा के फलस्वरूप भाव विवेक के सम्प्रदाय का प्रभाव क्षीण हो गया। मगोलिया और तिब्बत के मठो मे महायान बौद्ध दर्शन का जो अध्ययन अब तक हो रहा है और जिसे महायान बौद्ध धर्म का वास्तविक दर्शन माना जाता है वह चन्द्रकीर्ति की देन है और यही शून्यवाद का परम्परागत स्वरूप है।[10]

चतुर्थ भाग यह युग आठवीं शताब्दी तक रहा। इस युग के महान् दार्शनिक शान्तरक्षित और कमलशील तथा दीपकर श्रीज्ञान (अतीश) है। शान्तरक्षित का तत्त्वसग्रह मध्यमककालकार कारिका और इसकी टीका

(वृत्ति) तथा कमलशील की तत्व सग्रह पञ्जिका एव मध्यमकालकार कारिका वृत्ति जो शान्तरक्षित के मध्यमकालकार कारिका की टीका है इस युग के महान ग्रन्थ है।

शान्तरक्षित और कमलशील ने शून्यवाद निकाय का एक नया मोड दिया। इन दाशनिको ने सौत्रान्त्रिक दर्शन योगाचार विज्ञानवाद तथा माध्यमिक दर्शन म समन्वय स्थापित किया। यह विचारक व्यवहार या अनुभवमूलक जगत की व्याख्या के लिए सौत्रान्त्रिक दर्शन और योगाचार का सहारा लेते है और परमाथ के विवेचन मे माध्यमिक शून्यता तथा विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि का।

इस प्रकार मोटे तौर पर हम शून्यवाद मे तीन प्रकार की विचारधाराए देखते है–

बुद्धपालित और चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव की माध्यमिक प्रासगिक निकाय

भव्य का माध्यमिक सौत्रान्त्रिक निकाय तथा

ज्ञानमर्म श्रीगुप्त शान्तरक्षित कमलशील और हरिभद्र आदि की योगाचार माध्यमिक।[11]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि नागार्जुन के शून्यवाद ने परवर्ती बौद्ध दार्शनिको पर अमिट प्रभाव डाला और सौत्रान्त्रिक तथा योगाचार दार्शनिक भी इसके प्रभाव से अछूते न रहे। योगाचार सम्प्रदाय के सस्थापक महान दार्शनिक मैत्रेयनाथ असग और वसुबन्धु विज्ञानवादी होते हुए भी अपने त्रिस्वभाव को नि स्वभाव सिद्ध करते है।[12]

मैत्रेय और असग की महान रचनाए महायान सूत्रालकार धर्म धर्मता विभग और मध्यान्त विभाग योगचार विज्ञानवाद की दृष्टि से लिखे गए है किन्तु शून्यता उन पर हावी है। वे अपने चित्रमात्र को शून्यता ही कहते है।

असग के अभिसमयालकार ज्ञानालोकालकार श्रीमाला देवी सिहनाद उत्तर तन्त्र और गुह्यसमाज तत्र पूर्णरूप से शून्यवादी ग्रन्थ है। बौद्ध तन्त्र वज्रयान आदि का विकास शून्यवाद की ही देन है। शून्यवाद ने तन्त्रयान को दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान की।[13] ओवर मिलर का कथन है कि अभिसमयालकार मे न तो आलय विज्ञान का दर्शन होता है और न त्रिस्वभाव परकल्पित परतत्र और निष्पन्न का। इसकी मुख्य शिक्षा धर्मों की नि स्वभावता और सापेक्षता (प्रतीत्यसमुत्पन्नन) है। यही बात उत्तरतत्र पर भी लागू होती है।[14] केवल बौद्ध तत्र अपितु समग्र हिन्दूतन्त्रयान शून्यवाद की ही देन है।

डॉ० विधुशेखर भटटाचार्य के शब्दो मे हिन्दू साहित्य मे शायद ही ऐसा कोई तन्त्र हो जो वज्रयान और उसके प्रमुख सम्प्रदायो महासुखवाद आदि के बौद्ध विचारो से न प्रभावित हो। इस कथन मे तनिक भी अतिशयोक्ति नही है कि हिन्दुओ के कुछ तन्त्र–उदाहरण स्वरूप महाचीन क्रमतन्त्र का उत्स पूणरूप से बौद्ध तन्त्र मे है। इस प्रकार पयाप्तरूप से सिद्ध होता है कि बौद्ध तन्त्र न अत्यधिक रूप म हिन्दू तत्र साहित्य को प्रभावित किया।[१५]

भारत ही नही एशिया के अनेक देश बौद्ध शून्यवाद से पूणरूप से प्रभावित है। तिब्बत चीन जापन मगोलिया ओर कोरिया के मठो मे आज भी शून्यवाद समन्वित बौद्ध दर्शन का अध्ययन कराया जाता है और जनता इसी को अपना धर्म मानती है।[१६]

हिन्दू तत्र ही नहीं अपितु वैदिक (आस्तिक) दर्शन के अनेक सम्प्रदाय शून्यवाद से प्रभावित है।

शकराचार्य के बाबा गुरु गौडपाद शून्यवाद से अत्यधिक प्रभावित थे। गौडपाद का ऐतिहासिक ग्रन्थ माण्डूक्यकारिका और विशेष रूप से इसका चतुर्थ अध्याय अलातशान्तिप्रकरण शून्यवाद की ही भाषा और सिद्धान्त की अभिव्यक्ति करता है। वे स्पष्ट शब्दो मे घाषित करते हैं कि **द्वैत मिथ्या है और अद्वैत परमार्थ है।**[१७] जीव और ब्रह्मन मे तादात्म्य है दोनो एक है। भेद उपाधिकृत है।[१] ब्रह्मन से किसी प्रकार की परिणाम–सृष्टि नही होती है। शास्त्रो मे जो सृष्टि के वर्णन हैं वे जीव और ब्रह्मन की एकरूपता प्रदर्शित करने के लिए है।[१९]

माण्डूक्यकारिका और बौद्ध शून्यवाद की समानता को तीन भागो मे बाटा जा सकता है–

१ तकनीकी शब्दावली जिनका महत्वमात्र बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थो मे है उदाहरण के लिए सवृत कल्पित सवृत परमार्थ धर्म बुद्ध द्विपदावर सबुद्ध प्रज्ञप्ति सक्लेश आदि

२ माण्डूक्यकारिकाए (श्लोक) और माध्यमिक कारिकाए एक जैसी हैं उदाहरण के लिए स्वतो वा परतो वा (मा०कारिका ४२२) हेतोरादि फलम् (वही ४१५) कोटय चतसु (वही ४८४) अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वय तत्र न विद्यते वही ४७५

३ सिद्धान्तो मे एकरूपता अजातिवाद चतुष्कोटि सिद्धान्त इन सबसे हम अनिवार्यत इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि गौडपाद माध्यमिक और योगाचार सिद्धान्तो के परिप्रेक्ष्य मे वेदान्त को अद्वैत का स्वरूप प्रदान कर रहे थे।[२०] श्री हर्ष ने खण्डन खण्ड खाद्य मे माध्यमिक विधि का प्रयोग किया है और उसकी शब्दावली भी ग्रहण की है। भास्कराचार्य और अन्य वेदान्तियो ने शकराचार्य और उनके

अनुयायियो पर प्रच्छन्न बौद्ध होने तथा 'महायानीय नय' को वेदान्त मे प्रवेश करने का आरोप लगाया है।[१]

शान्तरक्षित और कमलशील ने तो यहाँ तक कहा है कि अद्वैतवेदान्त और हमारे दर्शन मे तनिक भी भेद नही है मात्र उनका अपराध यह है कि उन्होन परमतत्व को नित्य कहा है।[२२] किन्तु श्री हष और अन्य अद्वैत वेदान्तियो ने शान्तरक्षित आदि पर भी यही आरोप लगाया हे कि वे मेरी ही बात कह रह है मात्र भेद है कि उन्होने कूटस्थ नित्य परम तत्व को क्षण भगुर और अनित्य कह दिया है। शान्तरक्षित के बार बार यह घोषित करने से कि यह ज्ञान कृष्ण ने नही दिया ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे यह लग रहा था कि हमारा सारा दर्शन गीता मे उपदिष्ट दर्शन जैसा ही लग रहा है।[२३]

शकर अद्वैतवेदान्त के पूर्व माध्यमिक दर्शन द्वारा प्रतिपादित सवृति और परमार्थ नीतार्थ और नेयार्थ और भ्रम के सिद्धान्त विद्यमान थे हो सकता है कि शकर और अन्य अद्वैतवेदान्तियो ने इसके आधार पर उपनिषदो का पुन अध्ययन किया हो और उनमे निहित गूढ अर्थ को हृदयगम कर अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की हो किन्तु माण्डूक्यकारिका और अन्य अद्वैत ग्रन्थो के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि अद्वैत वेदान्ती दार्शनिक शून्यवाद और विज्ञानवाद की तर्कप्रणाली स भले प्रभावित हुए हो और उसे ग्रहण भी किया है किन्तु उनके दार्शनिक सिद्धान्त अपने है उस पर बौद्ध सिद्धान्त का तनिक भी प्रभाव नहीं है।[२४]

प्रो० बिधुशेखर भटटाचार्य गौडपाद की समग्र कारिका का अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुचे कि इस ग्रन्थ के चारो अध्याय– १ आगम २ वैतथ्य ३ अद्वैत और ४ अलातशान्ति स्वतत्र ग्रन्थ हैं जिन्हे किसी दार्शनिक ने एकीकृत कर आगमशास्त्र का नाम दे दिया है।[२५]

इस आधार पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते है कि अद्वैतवेदान्त और नागार्जुन दोनो एक दूसरे से बिल्कुल नही प्रभावित हुए क्योकि दोनो की परम्पराओ और तत्त्व चिन्तन की पृष्ठभूमि नितान्त भिन्न है। अद्वैतवेदान्त का मूलस्रोत उपनिषद हैं जो पूर्णरूप से आत्मवादी (ब्रह्मवादी) हैं इसके विपरीत नागार्जुन और उनका दर्शन पूर्णरूप मे अनात्मवादी है।[२६]

सदर्भ

१ द सेण्ट्रल फिलॉसफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ६५

२ चतु शतकम् पृ० २६

३ आचार्य भावविवेको दूषणम् साह – तदत्र प्रसग वाक्यत्वात् माध्यमिक कारिका वृत्ति पृ० ३६ सेण्ट्रल फिलासफी आव बुद्धिज्म पृ० ६५

४ अगीकतमध्यमक दर्शनस्यापि यत्र स्वतन्त्र प्रयोगवाक्याभिधानम

अस्य तार्किकस्योपलक्ष्यते माध्यमिक कारिका वृत्ति पृ० २५।

५ आत्मनस्तर्कशास्याति कौशलमात्रम अविश्चिकीर्षया। माध्यमिककारिका वृत्ति पृष्ठ २५।

६ तस्मात्प्रियाानुमानताम एवात्मना प्रकटयति पृ० १६।

७ इति परव्याख्यानम अनुक्षय दूषणम अभिधत्त तस्य पर पक्षानुवादा काशलम एव तावत सम्भाव्यते

माध्यमिककारिका वृत्ति पृ० ८–१०।

८ तदेवमाचार्यो यथैवविधे विषये आचार्य मतानुवर्ती तथा प्रतिपादित मध्यमकावतारे 'दूरगमाया तु धियाधिक इत्यत्रेति न पुनस्तद् दूषणे यत्नास्थीयते

माध्यमिककारिका वृत्ति पृ० ३५१–३५३

६ आचार्य नागार्जुन पादास्तन्मतानुसारिणश्चैकयान नय वादिन आहु लब्ध्वा बोधिद्वयम द सेण्ट्रल फिलासफी आव बुद्धिज्म ६६ वही पृ० ६८।

१० द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ६६।

११ वही पृ० १०२

१२ त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधा नि स्वभावताम। सन्ध्या सव धर्माणाम देशिता नि स्वभावताा।।

त्रिशिका २३

१३ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० १०६

१४ ओवरमिलर – द डॉक्ट्रिन ऑव प्रज्ञापारमिता पृ० ६६–१०० वही पृ० १०८

१५ डॉ० विधुशेखर भटटाचार्य 'बुद्धिज्म इजॉटेरिज्म (Buddhism Esoterism p 163 वही पृ० १०६

१६ वही पृ० १०६

१७ माया मात्रम् इद सर्वम् अद्वैत परमार्थत। माण्डूक्यकारिका १ १७ अद्वैते योजयेत् स्मृतिम वही २ ३६ अद्वैतपरमार्थों हि – वही ३ १८

१८ वही २ ३–७ १३–१४

१६ वही २ ३२

२० द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ११४

२१ वही पृ० ११७

२२ तेषाम तपराध तु

२३ तत्व सग्रह

२४ वही पृ० ११७

२५ विधुशेखर भटटाचार्य आगमशस्त्र पृ० tv II (५७) वही ११५

२६ वही पृ० ११६

अध्याय–१५

आर्य नागार्जुन के दर्शन का मूल्याकन

आर्य नागार्जुन बौद्ध न्यायाकाश के प्रचण्ड मार्तण्ड हैं जिनके तीक्ष्ण तर्क रश्मियो से न केवल प्रत्यय चक्षुरिन्द्रिय स्कन्ध धातु सस्कृत धर्म दु ख ससार आत्मा काल कर्मफल और कारण आदि वर्गणाओ[1] से व्याख्यायित और विलसित व्यवहार अपितु श्रावक बोधिसत्व और योगी द्वारा अनुभूत परमार्थ भी भस्मसात हो गया बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध ने आत्मा जगत और ईश्वर आदि से सम्बन्धित प्रश्नो को अव्याकृत वस्तूति कहकर मौन धारण कर लिया था।[2] और इन प्रश्नो के जिज्ञासु दार्शनिको की तुलना उस मूढ व्यक्ति से की थी जो बाण के प्रहार से घायल होने की अवस्था मे चिकित्सिक की शरण मे जाने के पहले यह जानने का हठ करता है कि बाण कहाँ से आया किसने मारा और किस धातु का बना है बिना यह सोचे कि इस प्रश्नो का उत्तर पाने के पूर्व उसकी मृत्यु हो जाएगी। इसलिए इन प्रश्नो का उत्तर पाने के पूर्व उसका यह कर्तव्य है कि वह उस कुशल चिकित्सक के पास पहुचे जो बाण के घाव को दूर कर उसकी रक्षा करे। किन्तु द्वितीय बुद्ध नागार्जुन बुद्ध से एक कदम और आगे बढ गए और यह घोषित किया कि जगत का अस्तित्व तो है ही नहीं। निर्वाण वह शून्यमात्र है किन्तु तथागत और निर्वाण का भी अस्तित्व नहीं है। यदि निर्वाण से श्रेष्ठ कोई और वस्तु हो तो उसका भी अस्तित्व नहीं है।[3]

नागार्जुन के इस उद्घोष शून्यवाद ने दर्शन जगत मे एक हलचल पैदा कर दी और दार्शनिको ने उनको वैनाशिक ओर वैतण्डिक कहकर भर्त्सना की। शकराचार्य ने शून्यवादि पक्षस्तु सर्वप्रमाण विप्रतिसिद्ध हतितन्निराकरणाद्य नादर क्रियते[4] कह कर उसे समीक्षा का विषय मानना भी उचित नहीं समझा तो कुछ दार्शनिको ने उन्हे मात्र वैतण्डिक कहकर उनकी भर्त्सना की। डॉ० मुक्तावली के शब्दो मे– माध्यमिक दर्शन एक विशेष युग की उपज है जिसमे शास्त्रार्थो का बोलबाला था। शास्त्रार्थों मे चाहे जितना धैर्य रखने की चेष्टा की जाए विजिगीषा ओर चिखण्डभिषा की प्रवृत्ति किसी न किसी सीमा तक आती जाती है। माध्यमिक

(नागार्जुन) के प्रसगात्मक तर्को का आलाचन करने पर इस धारणा को बल मिलता है। माध्यमिको क तर्क अनेक स्थलो पर शुष्क कुतर्क जान पडत है। वहॉ ऐसा प्रतीत हाता हे कि वह अनुभव से नितान्त वियुक्त होकर शब्दो का जाल बिछा रहा है। अथवा शब्दो से खेल रहा है वह जहॉ चाहता है शून्यता की वैसी व्याख्या करके प्रतिवादी का मुखबन्द करन की चेष्टा करता है अत उसके अनुसार कही अनुत्पाद का नाम शून्यता है कही प्रतीत्यसमुत्पाद का नाम शून्यता है। कहीं प्रतीत्यसमुत्पन्न का नाम शून्यता ह कही अप्रतीत्यसमुत्पन्न का नाम शून्यता है ता कही शून्यता का अथ है अत्यनताभाव– तत्र शून्यमुच्यते यत्र स्वभावेन नास्ति। प्रतीत्यसमुत्पाद का भी अर्थ वह कहीं उत्पादक मूलक करता है और कही अनुत्पादमूलक।[5]

डॉ० हर्षनारायण भी नागार्जुन और उनक दर्शन को नास्तिवादी शून्यवादी (अभाववादी) ही मानते है। उनके शब्दो मे दार्शनिक के रूप मे वे किसी तत्त्व का विधान नही करते किन्तु निषेध प्रत्येक वस्तु का करते है।[6]

नागार्जुन के अब तक के अध्ययन स हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि वे न तो वितण्डावादी और न अभाववादी। जहॉ कही वितण्डा दीख पडता है वह विषय और परिस्थिति से अलग देखने का परिणाम है। उन्होने वस्तुओ के अस्तित्व को स्वीकारा भी है और अस्वीकारा भी है। उन्होने वस्तुओ के लिए शून्य का भी प्रयोग किया और प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व का भी। अब कोई यह कहे कि कोई वस्तु शून्य और प्रतीत्यसमुत्पन्न कैसे हो सकती है? कोई वस्तु सत और असत एक साथ कैसे हो सकती है? यह तो वदतोव्याघात है। किन्तु यहॉ शब्दो से हम स्वय खेल रहे है और नागार्जुन की स्थिति हास्यास्पद प्रदर्शित करने का प्रयत्न कर रहे है नागार्जुन कहीं भी वस्तु या सवृति मात्र को वन्ध्यापुत्र शश विनाश अथवा आकाशकुसुम के रूप मे असत नहीं मानते। वे मात्र यह कहते है कि वस्तु को सत कहना एक दृष्टि का प्रतिपादन करना है (सत्कायदृष्टि) इसी प्रकार वस्तु को असत कहना भी एक विशेष दृष्टि का प्रतिपादन करना है जब कि वस्तु या सवृति का स्वभाव ऐसा है कि उसे हम सत् और असत् रूप मे बाध ही नहीं सकते जो वस्तु नि स्वभाव है उसे स्वभाव का नाम क्यो दिया जाए? वस्तुत हमे अस्ति और नास्ति भाव और अभाव दोनो ही अन्तो के परे जाकर उसके वास्तविक स्वरूप मे झाकना है। वे बारबार यह बात दोहराते हैं कि शून्यवाद का अर्थ अलीक[7] न ले यह तो प्रतीत्यसमुत्पाद है। भगवान् बुद्ध का वचन है और यही मध्यमा प्रतिपत् है जिसका अर्थ दोनो दृष्टियो (सत्कायदृष्टि और असत्काय) के वाच मे उलझन नहीं दृष्टियो के जगल मे भटकना नहीं अपितु उनके ऊपर उठकर परमार्थसत का बोध करना है। वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप को देखना है जिसे अविद्या ने

आवृत्त कर रखा है और जा सभी दृष्टियो स उठन के फलस्वरूप दूसरे शब्दो मे सवदृष्टि प्रहाण के फल स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

नागार्जुन ने सर्वदृष्टि प्रहाण के लिए द्वन्द्वन्याय या चतुष्कोटि न्याय का प्रयोग किया है और मध्यमक शास्त्र के रूप मे एक कालजयी ग्रन्थ लिखा है जिसम दार्शनिका द्वारा प्रयुक्त अनुभव मे उपयोगी सभी सप्रत्ययो का अपने द्वन्द्वन्याय की कसौटी पर विश्लषण किया है और प्रदशित किया है ये सभी सप्रत्यय अस्ति नास्ति उभय और नोभय बुद्धि के किसी भी चोखटे मे नही आते इसलिए इनके विषय मे कोई एक विशेष धारणा बना कर अन्यसिद्धान्तवादी से सघर्ष करना उचित नहीं है। मानव को वस्तुओ का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए उदारदृष्टि अपनानी चाहिए जा न तो सभी दृष्टियो को युगपद् रखकर सोचन मे है जैसा जैन दार्शनिको का सप्तभगी नय करता है और न वस्तुओ के परस्पर विरोधी गुणो को वस्तु का स्वरूप मानने मे है जैसा हेगल का त्रिपक्ष वाद करना है अपितु वस्तुओ का स्वरूप इस रूप मे देखने मे है कि वे बुद्धिविकल्पो द्वारा ग्राह्य नहीं है। वस्तु के वास्तविक स्वरूप को शब्द स्पर्श नहीं कर सकते है। और हमारे बुद्धि विकल्पो और सप्रत्यय सकल्पनाओ का ही यह परिणाम है कि हमे निष्प्रपच निस्वभाव सप्रपच और सस्वभाव दीख पडता है।

अत नागार्जुन का द्वन्द्वन्याय न तो वितण्डावाद है और न प्रतिपक्षी को पराजित करना अपना पक्ष मनवाने की कोई चाल या छल विशेष है। यह समीक्षा बुद्धि है जो विविध दृष्टियो के अध्ययन करने के फलस्वरूप उनमे व्याप्त अन्तर्विरोधो के प्रति जागरूक होती है और उनसे ऊपर उठकर परम तत्व के स्वरूप को समझती है। यह द्वन्द्वन्याय व्यावहारिक स्तर पर दृटिष्यो का खण्डन है और पारमार्थिक स्तर पर यही प्रज्ञापारमिता है जो वस्तुओ का वास्तविक स्वरूप दिखाकर कि ये क्षणिक है निस्वभाव है क्लेशकारक हैं और इनके प्रति आसक्ति मानव की सहज शान्ति को नष्टकर ईर्ष्या द्वेष और मोह को जन्म दे व्यक्तिगत कलह और सामूहिक कलह को जन्म देती है अत यदि मानव इन वस्तुओ के नश्वर अस्थायी और दुखकारक स्वभाव को समझ ले तो उसकी बुद्धि निर्मल हो जाएगी और वह मात्र जीवनधारण के लिए वस्तुओ को ग्रहण करना चाहेगा उनके प्रति आसक्ति के फलस्वरूप सग्रह होड मे नहीं जुटेगा और वस्तु तथा ससार के प्रति यह दृष्टि उसे निर्वाण की ओर ले जाएगी और जिसके फलस्वरूप उसका सर्व दुख प्रहाण हो जाएगा और आवागमन से मुक्ति हो जाएगी। किन्तु यह स्थिति बहुत कठिन है। ससार के वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाना ही परमार्थ को पा जाना है। वस्तुत ससार परमार्थ ही है वह निर्वाण

स्वरूप ही है वह भागवद् रूप तथागत ही ह उसमे परमार्थ निर्वाण और तथागत के स्वरूप मे तनिक भी अन्तर नहीं है व्यवहार ओर परमार्थ एक ही तत्व है। किन्तु जब इस परमार्थ का शब्दा के माध्यम से बुद्धि की वर्गणाओ की सहायता से वणन करन का प्रयत्न किया जाता ह तो विराट सत्य–परमार्थ का वास्तविक स्वरूप इससे ढक जाता ह और उसका सीम्ति मात्र आर सक्लिष्ट रूप ही दीख पडता है यही सवृति है।

किन्तु सवृति या ससार का वास्तविक स्वरूप समझना असान नहीं है। इसके लिए सदाचार त्याग तपस्या नैतिक जीवन और परहित साधन आवश्यक ह। प्रातिमोक्ष क नियमो का पालन भावना माग दर्शन मार्ग का सेवन षटपारमिताओ की दशभूमिया मे सतत साधना आवश्यक है। जब तक यह स्थिति नही आती तब तक व्यवहार और परमार्थ का द्वन्द्व बना रहता ह। इसलिए नागार्जुन स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि दो सत्यो[11] को आधार मानकर बौद्ध धर्मदशना चलती है आर जब तक इन सत्यो का सम्यक बोध नहीं हो जाता तब तक बुद्ध की देशना को नही समझा जा सकता है।

इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर नागाजुन ने दो सत्यो का विशद विवेचन किया है और दोनो सत्यो सवृति और परमार्थ के ज्ञान के लिए दो प्रकार के प्रमाणो की व्यवस्था की है। नागार्जुन ने सवृति के ज्ञान के लिए सौत्रान्तिक बौद्धो के प्रमाण द्वय के स्थान पर न्याय दर्शन के चारो प्रमाणो को स्वीकारा है। शान्तदेव स्पष्ट शब्दो मे कहते है। कि–

> यथादृष्ट श्रुत ज्ञात नैवेद्य प्रतिसिध्यते।
> सत्यत कल्पना त्वत्र दु खहेतु निवार्यते।।

बोधिचर्यावतार ६ ३६

(लोक व्यवहार मे) जैसा देखा जाता है (अर्थात चक्षु आदि विज्ञान के प्रत्यक्ष प्रमाण से साक्षात किया जाता है– चक्षुरादि विज्ञानेन प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नम्) जैसा सुना जाता है। अर्थात् दूसरे पुरुष से और आगम से सुना जाता है– परपुद्गलात् आगमाच्च श्रुतम जैसा सुना जाता है (अर्थात् कार्य हेतु के स्वभाव हेतु के एव अनुपलब्धि हेतु के तीनो लिगो से– साधनो से उत्पन्न अनुमान से निश्चित किया जाता है त्रिरूपलिग जाद् अनुमानान्निश्चित) उसका यहा निषेध नही है। (प्रज्ञाकर मति के शब्दो मे जो कुछ लोक का विश्वास है। उसे उसी प्रकार लोक की प्रसिद्धि के अनुसार बिना उसके स्वरूप पर ननुनच के लिए मान लिया जाता है पर उसे परमार्थत माना नहीं जाता– यद् यथा लोकत प्रतीयते तत् तथैव अविचारितस्वरूपम् अभ्युपगम्यते

लोक प्रसिद्धित न तु पुन परमार्थेत,। पर इस पर दु ख की कारणभूत जो सत्यत कल्पना है– परमार्थत आरोप कह लिया गया है उसे नही स्वीकार किया गया हे।[12]

नागार्जुन के शब्दा मे–

प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वात स्वभावशून्या रथघट–
पटादय स्वसु स्वेसु कार्येसु काष्ठाहरणे
मृत्तिका हरण मधूक पयसा धारणे
आदि शीनवातानप परित्राण प्रभृतिषु वर्तन्ते–[13]

रथ घट तथा पट (वस्त्र) आदि पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण शून्य हैं। वे अपने अपने कार्यो मे प्रवृत्त रहते है रथ की काठ तथा मिटटी क ढोने मे घट की मधु दूध तथा जल के रखने मे पट की हवा तथा सर्दी गर्मी से बचने मे शक्ति रहती हे।[14]

वे इन्द्रियानुभूत सवृत जगत को न केवल स्वीकार करते हैं अपितु उसे परमार्थ का पुरोगामी मानते है और यह स्वीकार करते है कि सवृत्ति का आश्रय लेकर ही परमार्थ की देशना दी जा सकती है उसके बिना नही। और इस प्रकार की देशना से ही निर्वाण सभव है अन्यथा नहीं। नागार्जुन ने भगवान बुद्ध के विश्व और उसके अस्तित्व मूलक समस्त वचनो को जो सर्वास्तिवादी दर्शन का प्रतिपाद्य है को सत्य रूप मे स्वीकार किया है किन्तु उसे वे नेयार्थ या उपाय भूत सत्य मानत हे नीतार्थ या उपेय भूत सत्य नहीं मानते।

पुनश्च नागार्जुन ने शून्य शब्द का प्रयोग अवश्य किया है और लोक मे प्रचलित अभावात्मक अर्थ के कारण इसने विद्वज्जनो तथा सामान्य जनो– सभी मे वन्ध्या पुत्रवत अलीक की भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है किन्तु यह शून्य पद बन्ध्या पुत्रवत अलीक या अभाव का बोधक नही अपितु सत्य मात्र का बोधक है। यह सवृति के साथ परमार्थ और निर्वाण को भी अपनी परिधि मे समेटता है। नागार्जुन कहते हैं कि निर्वाण रागरहित होने के कारण शून्य हे जगत स्वभाव रहित होने के कारण शून्य है। तथागत ने इन दोनो शून्यो को शून्य–निर्वाण को परमसत्य और अप्रमाष धर्मा कहा है। अप्रमोषधर्मा का अभिप्राय है जिसका स्वभाव चोरो और लुटेरो जैसा नही है जो अपने बल से विरामभाव को छीन ले जाए। विराग जो निर्वाण का ही पर्याय है। उसे ही तथागत ने सब धर्मों मे श्रेष्ठ कहा है–

मग्गानट्ठगिको सेटठो सच्चान चतुरोपदा।
विरागो सेटठो धम्मान द्विपदान च चक्खुमा।।

धम्मपद २७३

सब धर्मो मे अष्टागिक माग (सम्यग दृष्टि सम्यग सकल्प सम्यग वाक सम्यग कम सम्यग आजीव सम्यग व्यायाम सम्यग स्मृति तथा सम्यग समाधि) श्रेष्ठ है। सब सत्या मे चार पद अर्थात चार आय सत्य श्रेष्ठ है। सब धर्मो मे विराग (निवाण) श्रप्ठ हे दो पद वाले (आदमिया) मे चक्षुष्मान (बुद्ध ज्ञानी) श्रेष्ठ है। निर्वाण को यो सब धर्मो मे श्रेप्ट कहकर परमसत्य एव अमाषधर्म कहकर जगत को सस्कारो के रूप मे मृषा अर्थात असत्य तथा मोक्ष धर्मा कहा गया ह। असत्य मे भो चोरो लुटेरा जैसा सामर्थ्य है जो विराग को छीन लेते है लूट लेते है। तथागत का वचन य। है–

एकमेव परम सत्य यादुता प्रमास धम निर्वाण। सर्व सस्काराश्च मृषा माष धर्माण एकमात्र जो यह निर्वाण है वही परम सत्य है अप्रमोष धमवाला ह । सब सस्कार मृषा है। असत्य है– मोक्ष धर्म वाले है।[१५]

पुनश्च नागार्जुन न शून्य का प्रयाग निष्प्रपचता के अर्थ मे भी किया है। जो निष्प्रपच है उसे शब्दो के प्रपच द्वारा कहना दुष्कर कार्य हे। इस अथ मे शून्यता निर्वाण का ही नाम है–

शून्यतैव सर्वप्रपचनिवृत्ति लक्षण त्वान्निर्वाणमुच्यते।[१६] नागार्जुन के शब्दो मे–

कर्मक्लेश क्षमान्मोक्ष कमक्लेशा विकल्पत ।

ते प्रपचात् प्रपचस्तु शून्यताया निरुध्यते।।[१७]

मोक्ष कर्म क्लेशो (कर्मज चित्त) की मलिनताओ के क्षीण होने से होता है कर्म क्लेशो की उत्पत्ति विकल्पो से– अपरमार्थ पर परमाथ के आरोपो से होती है वे आरोप प्रपच के कारण होते है और वह प्रपच शून्यता मे (लीन होकर) नष्ट हो जाता है। इस प्रकार निष्प्रपचता की अवस्था परम तत्व है उसे अन्य विशेषणो से विभूषित कर नागाजुन कहत ह–

अपर प्रत्यय शान्त प्रपचैरप्रपचितम।

निर्विकल्पमानानार्थमेतत तत्वस्य लक्षणम।।[१८]

इस प्रकार तत्व प्रत्यात्यवेद्य है शान्ति रूप है निष्प्रपच है निर्विकल्प है नानाभावरहित है और यही शून्य तथा निर्वाण है।

इस प्रपचावस्था को पाना अत्यन्त कठिन है। उसे तथागत ही पा सकते हैं। धम्मपद मे कहा गया है कि–

आकासे च पद नत्थि समणो नत्थि बाहिरे।

प्रपचाभिरता प्रजा निष्प्रपचा तथागता।।[१९]

आकाश मे चिह्न नहीं हाता श्रमण भी सघके बाहर नहीं होता प्रजाओ की प्रपच मे (शब्द तथा अथ के पकड मे) बडी प्रीति रहती है। तथागत प्रपच स रहित होते है।[20]

धम्म पद मे इस निर्वाणवस्था का ज शून्यावस्था का ही दूसरा नाम ह उसे तथागत क साथ ही अन्य सामान्य जनो को भी सुलभ कराया ह शत है उनका चित्त निष्कलुष और निर्मल हा गया हो–

ये स सन्निचया नत्थि ये परिञ्जातयोजना।
सुञ्ञनो अनिमित्ता च विमाक्खो येस गाचरो।
आकासे सकुन्तान गति तेस दुरन्नया।।

धम्मपद ९२

जिनके पास सनिचय अथात धनधान्य सग्रह नही है जो भोजन के विषय मे सावधान रहते हैं शून्य तथा अनिभिक्त विमोक्ष जिनका गोचर है– भावना का आलम्बन है। उनकी गति (चिन्ह) को आकाश मे पक्षियो की गति (चिन्ह) की भाति खोज पाना असभव है।

पुनश्च

यस्सासवा परिक्खीणा आहारे च अनिस्सिता।
सुञ्ञतो अनिभित्ता च विमोक्खो चास्य गोचरो।
आकासेव सकुन्तान पद तस्स दुरन्नय।।

धम्मपद ९३

जिसके चित्त के मलपूर्णरूप से क्षीण हो चुके है जिसकी जो आहार मे आसक्त नहीं है। शून्य और अनिमित्त विमोक्ष जिसका गोचर है– भावना का आलम्बन है उसके पद को आकाश मे पक्षियो की पद की भाति खोज पाना असभव है।[21]

इस प्रकार हम देखेगे कि नागाजुन का शून्य अत्यन्ताभाव नहीं अपितु परमार्थ निर्वाण तथागत तथा निष्प्रपच का द्योतक है। नागार्जुन को प्राय निषेधवादी दार्शनिक इसलिए समझा जाता है कि उन्होने अपने विरोधियो के सिद्धान्त खण्डन मे प्राय निषध प्रधान तर्क दिए हैं। वस्तुत उनका उद्देश्य एक नए नैतिक धर्म की स्थापना की और उसके लिए उन्हे पुराने जीवन आदर्श एव धर्म की तार्किक असगतियों को स्पष्ट करना था। नागार्जुन के लिए यह आवश्यक हुआ कि वे उन तृष्णामूलक दर्शनों की परीक्षा करें जिनके आधार पर

उस समय के परस्पर विराधी विचार नीति और धन को लोक कल्याण से विमुख किए थे। नागाजुन एक महान उदारवादी दार्शनिक थे जिनका चिन्तन और दर्शन एक उदार सामाजिक रचना की कल्पना करता है इसलिए किसी राजा को उपदेश देते समय व उसे उदार रहने की शिक्षा देते थे और यदि यह सभव न हो तो उसे प्रव्रज्या ले लेने का उपदेश देते थे–

उदार चित सतत भद्र क्रियारत
उदारवत सर्व द जायत फलम।।

रत्नावली ४ ६

ततो धर्मयशार्थ च प्रव्रज्याविगन क्षम।। वही ४ १०६

नागार्जुन के अनुसार धर्माचरण और लोकरंजन या लोकसग्रह को अलग अलग नहीं देखना चाहिए[32] उनकी दृष्टि मे धर्म जिस सत्य का अनुसरण या पालन करता है उसे लोकहित से किसी प्रकार भिन्न नहीं किया जा सकता। उनके धर्म का आधार अभ्युदय और नि श्रेयस है (यतोऽभ्युदय नि श्रेयस स धर्म) जो समान्य जीवन मे एक दूसरे के विरोधी मान जाते है। इनमे अभ्युदय नि श्रेयस का आश्रय है जो क्रम मे नि श्रेयस के पहले अवश्य है किन्तु उससे कभी भी अलग नही होता।[33] उनके अनुसार अभ्युदय सासरिक सुख का द्योतक है और नि श्रेयस मोक्ष या निर्वाण जो प्रथम सुख की उच्चतर स्थिति है।

इस धर्म के दो साधन है (१) श्रद्धा और (२) प्रज्ञा। श्रद्धा का अर्थ औचित्य के प्रति उस निष्ठा से है जो राग द्वेष भय और अज्ञानवश विचलित नहीं होती। प्रज्ञा सम्यग ज्ञान है जो मनुष्य के सभी प्रकार के विचारो एव आचरणो की परीक्षा कर उसे लोकहित मे नियोजित करती है और इस स्थिति मे बोधिसत्व निर्वाण सुख का लोकहित मे परित्याग कर देता है।

नागार्जुन की दृष्टि मे धर्म मे श्रद्धा का स्थान यद्यपि पहले आता है किन्तु प्रज्ञा उससे श्रेष्ठ एव प्रधान है।[34] जैसा प्रज्ञापारमिता के अध्याय मे निरुपित किया गया है कि यही सब धर्मों की नायिका और नियामिका है। इसी प्रज्ञा द्वारा परीक्षित होकर श्रद्धा क्रमश करुणा और महाकरुणा का आवाहन करने लगती है और धर्म की उच्चभूमि मे प्रज्ञा से एकाकार हो जाती है।[35]

नागार्जुन की दृष्टि मे व्यक्ति का अभ्युदय और नि श्रेयस अभीष्ट नहीं है अपितु सम्पूर्ण राज्य का। उनके अनुसार राज्य के धर्म–प्रवण होने के लिए सत्य त्याग शान्ति और प्रज्ञा– ये चारों गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

नागार्जुन इन्हे राज्य के चतुर्भद्र कहता है सत्य–त्याग शम–प्रज्ञो चतुभद्रा नराधिप।[29] इन चारा गुणा म प्रज्ञा प्रधान है। अत नागाजुन की दृष्टि मे राजा का अपना निर्णय प्रज्ञा के आधार पर करना चाहिए।

नागार्जुन की प्रज्ञा दुधारी तलवार का काय करती है। अपने प्रारम्भिक द्वन्द्वन्याय के रूप म अस्तित्व की परम्परागत अवधारणाआ और उसके आधार पर स्थित नीति एव धम की मान्यताआ का खण्डन करती ह और दूसरी ओर नीति और धर्मो के उत्कृष्टतम विकास के लिए नया अवसर भी प्रदान करती है और यह अद्वयज्ञान का लाभ कराती है जहा प्रज्ञा और प्रज्ञाफल (निर्वाण तथागत) एकरूप हो जाते है। इन्ही विशेषताओ के आधार पर नागाजुन अपन दर्शन को भूतार्थवाद या यथाभूत परिज्ञान की सज्ञा दत है।[30]

जैसा शून्यता का विवेचन करते समय कहा गया है शून्यता सभी विशेष दृष्टियो का निस्सरण है।[31] इससे परमार्थ तत्व की आर सकेत किया जाता है जहॉ सभी लौकिक विकल्पो और सासारिक भावो की निस्स्वभावता का नि सारता का ज्ञान होता है सर्वधर्म समता का अवबोध होता है धर्मो की अज्ञानता और अनिरुद्धता का भान होता है दूसरे शब्दो मे जहॉ धर्मो की प्रकृति उनकी निस्स्वभावता और धर्मता का भूतकोटि का धर्मो की भूतप्रत्यवेक्षा का बोध होता है यही सूक्ष्मपरम ज्ञान की स्थिति प्रज्ञा कही जाती है। प्रज्ञा जो सर्वधर्मावबोध से उदित निरपेक्ष निर्विकल्प परा सूक्ष्म अद्वयज्ञानोपलम्भ और बोधिरूप है शून्यता पद से भी सज्ञित होती है।[31]

यह शून्यता नागार्जुन के यथाभूत परिज्ञान से भिन्न नही है इसलिए शून्यता को भाव या अभाव की कोटियो मे नही रख जा सकता जबकि सस्वभाव दृष्टि के लिए ये कोटिया अनिवार्य है। इस स्थिति मे पक्ष तथा प्रतिपक्ष जो सत्य और अनृत होने का दावा करते है वे शून्यता की यथार्थदर्शी स्थिति मे व्यर्थ हो जाते है। इसलिए नागार्जुन कहते है कि लोक की वास्तविक स्थिति सत्य असत्य की मान्यताओ से परे है– 'इति सत्यानृतातीतो लोकोऽय परमार्थत – रत्नावली ३५ इस वस्तुस्थिति मे कोई एक पक्ष खडा करना उसके लिए निश्चित आचार बनाना उसके अनुसार अहकार ममत्व का अभिनिवेश रखना ठीक नही है।

वस्तुत यह शून्यता सर्वग्राही है जो सर्व और सर्वार्थ को ध्यान मे रखकर आगे बढती है प्रभवति च शून्यतेय प्रभवन्ति तस्य सर्वार्था[32] बुद्ध ने मानव जीवन का उद्देश्य बहुजन हिताय और 'बहुजन सुखाय कहा था महायान का यह 'सर्व बहुजन है और सर्वार्थ बहुजन का हित है। यदि शून्यता नहीं तो सर्व नहीं

व्यक्ति रहेगा और सवार्थ नही स्वार्थ रहगा। प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा नागार्जुन ने कहा कि कारण से कार्य होता है इसी से स्पष्ट होता है कि कार्य की स्वभावसत्ता नही है व्यक्ति नहीं है पदार्थ नही है।[33]

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कष पर पहुचेग कि नागाजुन का नि स्वभाववाद अन्य दाशनिको क सस्वभाववाद से अत्यन्त भिन्न है। सस्वभाववादी शाश्वतवादी दार्शनिको ने ऐहिकता की उपक्षा कर मात्र माक्ष पर बल दिया। उनके अनुसार यह लोक मिथ्या है पर लोक ही सत्य है। नागार्जुन के अनुसार मोक्ष ऐहिकता के बिना कुछ नहीं। व्यवहार नहीं तो परमार्थ अगम्य और अनाश्रित होगा– आत्मस्कन्धापनयन किमितैव तवाप्रियम।[34] इस प्रकार नागार्जुन ऐहिकता को महत्व प्रदान कर सर्वहित और लोकहित को धम और नीति का लक्ष्य बतलात है। ऐहिकता को ही महत्व प्रदान करने के लिए उन्होने मोक्ष की जा परिभाषा दी है वह सस्वभाववादी दार्शनिको की परिभाषा से अत्यन्त भिन्न है। उनके अनुसार मोक्ष वह है। जहाँ अस्तिनास्ति पापपुण्य सुगति दुर्गति की सीमा समाप्त हो जाती है–

ज्ञाने नास्त्यस्तिता शान्ते पापपुण्यव्यतिक्रम।
दुर्गते सुगतेश्चास्मात समोक्ष सद्भिरुच्यते।।

रत्नावली २४५

उपर्युक्त विवेचन से हम निष्कर्ष पर पहुचेगे कि आर्य नागार्जुन का दर्शन एक विराट दर्शन हैं जो पुण्यसलिला भगवती भागीरथी गगा के पवित्र जल की भॉति सबके लिए कल्याणकारी है– सुरसरि सम सबकर हित होई यहॉ लोक और परलोक ससार और मोक्ष व्यक्ति और समष्टि सवृति और परमार्थ सब पर समानरूप से बल दिया गया है किसी की उपेक्षा नही की गयी। विश्व के प्रत्येक प्राणी मे बुद्धत्व की देशना देने वाले दर्शन मे किसी की उपेक्षा और अहित के लिए स्थान ही कहॉ। अत सबके मगल कामना वाले दर्शन पर अभाववाद या शून्यवाद का आरोप मिथ्यादृष्टि का परिणाम है जो व्यवहार और परमार्थ सबका अस्तित्व मानता हो उसे उच्छेदवादी और वैभाषिक कहना भी उसके प्रति सरासर अन्याय है। शकराचार्य की शून्यवाद की आलोचना को भी लोगो ने ठीक से नहीं समझा। उनके कथन 'शून्यवादि पक्षस्तु सर्वप्रमाण विप्रतिसिद्ध इति तन्निराकरणाय लटट क्रियते का यह अर्थ नहीं कि शून्यवाद सभी प्रमाणो द्वारा विनष्ट है अपितु यह कि वह सर्वप्रमाणातीत है। प्रमाणो की विप्रतिषेधता स्वभाव के कारण उसका उनके द्वारा विवेचन सभव नही इसलिए उसके समीक्षा के लिए क्यो प्रयत्न किया जाए।

श्री हर्षनारायण जी का यह कथन सही हा सकता हे कि सव विनाशवाद उस युग म प्रतिष्ठित हा चुका था। यह कल्पना की प्रसूति नहीं।[31] किन्तु इससे तर्कत यह निष्कष नही निकलता कि नागाजुन का दशन भी सर्वविनाशवाद है। नागार्जुन के दर्शन पर वितण्डावाद और छल द्वारा प्रतिवादी को पराजित करने का आक्षप भी ठीक नहीं जचता जो व्यक्ति सबके हित के लिए कृतसकल्प है ओर तकत अपनी बात समझकर लागो को यथार्थभूत दर्शन का यथार्थज्ञान कराकर इस सुत्त का कल्याण चाहता है वह छल का आश्रय क्या लगा? वितण्डा का प्रयोग क्यो करेगा? कही कही छल और वितण्डा उनके परपक्ष खण्डन मे दिखाई पड सकता है किन्तु वह भगवान बुद्ध का उपाय कौशल है ज्ञान के विभिन्न स्तरो के व्यक्तियो को सत्य का बोध कराने के लिए विभिन्न प्रकार की प्रणाली और विभिन्न प्रकार की देशना देनी पडती है वे स्पष्ट शब्दो मे कहत है कि जैसे कोई वैययाकरण शिशु कक्षा के विद्यार्थी को मात्रा का ज्ञान कराता है यद्यपि उसका अन्तिम लक्ष्य भिन्न है उसी प्रकार दार्शनिको को भी सत्य का बोध कराने के लिए विभिन्न उपायो का आश्रय लेना पडता है।

श्री हर्षनारायण जी का यह कथन कि धार्मिक रूप मे वे अस्तित्ववादी है दार्शनिक के रूप मे सर्वविनाशवादी और रहस्यवादी के रूप मे मौनवादी है तर्क की कसौटी पर खरा नही उतरता धर्म दर्शन और रहस्यवाद मे तात्विक भेद नहीं है। दर्शन मे हम चिन्तन के आधार पर जिस सत्य का बोध करते है धर्म मे उसी की पूजा और वन्दना करते है और रहस्यमयी समाधियो मे उसी की स्वानुभूति का प्रयत्न करते हैं। परम तत्व या परमार्थ को बन्ध्या पुत्रवत असत मानने वाला व्यक्ति उसके लिए अनुत्तर पूजा क्यो करेगा?— पारमिताओ की साधना मे क्यो जुटेगा? और दस भूमियो मे उनके साक्षात्कार के लिए क्लेश क्यो करेगा किन्तु नागार्जुन मे हमे युगपद् सब कुछ मिलेगा। दर्शन के क्षेत्र मे जहॉ वे अपने तर्क प्रहारो से सभी पूर्व मान्यताओ को जर्जर कर अद्वय तत्व (अद्वैत) की स्थापना करते हैं वहीं धर्म के स्तर पर भगवान तथागत और सभोगकाय की एक सच्चे भक्त की भॉति विधिविधान से अनुत्तर पूजा करते हैं और उनकी स्तुति मे अनेक स्तोत्रो की रचना करते हैं।

धर्म दर्शन तथा रहस्यवाद तीनो मे ही एक ही परमतत्व का प्रतिपादन करते हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि नागार्जुन के दर्शन की भाषा और विवेचन प्रणाली देशकाल गत भेद के कारण भले ही वैदिक ब्रह्मवाद से भिन्न हो किन्तु मूलरूप से वह ब्रह्मवाद ही है। फिर भी यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि जैसे ब्रह्माण्ड के कण–कण मे ईश्वरमय मानने वाले पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा को लॉक ने नास्तिक कहकर निन्दा की उसी प्रकार निखिल ब्राह्माण्ड को 'ब्रह्ममय' देखने वाले

आर्य नागार्जुन को लोक वैभाषिक और शून्यवादी कहकर निन्दा करता है। वस्तुत शाकर दर्शन के सम्बन्ध म पद्मपुराण का यह कथन कि–

मायावादम असच्छास्त्र प्रच्छन्न बौद्धमेव च
मयैव कथित देवि! कलौ ब्राह्मण रुपिणा।

भले ही न लागू हा किन्तु आर्य नागार्जुन के दर्शन पर अत्यन्त सटीक बैठता है–

शून्यवादस्तु सच्छास्त्र प्रच्छन्न ब्राह्ममेव च।
मैव कथित देवि कलौ ब्राह्ममणरुपिणा।।

नागार्जुन अपने जीवन काल मे एक सुसगत निकाय की स्थापना मे भले न सफल हुए हो किन्तु उनका दार्शनिक चिन्तन अरण्यरोदन मात्र रह गया इसे कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति मानने को तैयार नहीं। उनके विचारो ने भारत और एशिया के अन्य देशो धर्म और दर्शन को कई शताब्दियो तक अभिभूत किए रखा। यह प्रथम निरपेक्षवदी दर्शन (अद्वयवाद) है जो भारत का विश्व के किसी देश मे सर्वप्रथम स्थापित किया गया। उन्होने अद्वयवाद की स्थापना बुद्ध वचन के आधार पर नहीं अपितु द्वन्द्वन्याय (प्रज्ञा) के आधार पर की। जिसने एक अभिनव क्रान्ति को जन्म दिया जिसने बौद्ध धर्म के तत्वशास्त्र नीतिशास्त्र और धर्म सब पर प्रभाव डाला जिसके फलस्वरूप शून्यता महाकरुणा और तथागत का त्रिकाय परवर्ती समस्त बौद्ध दर्शन और धर्म के मूलभूत सिद्धान्त बन गए। वैदिक सम्प्रदाय भी इससे अछूते न रहे और अद्वैतवाद भारत की आध्यात्मिक सस्कृति का सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि बन गया। इसका मूलमत्र है अह का परित्याग और सभी प्राणियो की एकता की आन्तरिक अनुभूति मानव जीवन तथा सामाजिक सरचना मे शून्यवाद के निरपेक्षवादी चिन्तन द्वारा जो एकता और स्थायित्व स्थापित हुआ उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र साहित्य कला सामाजिक विज्ञान धर्म और दर्शन को आप्लावित किया। इसी के आधार पर एक स्थिर और उदात्त सभ्यता का निर्माण हुआ जो शताब्दियो तक भारत चीन जापान तिब्बत और एशिया के अन्य देशो मे फलती फूलती रही और बहुत कुछ आज भी अस्तित्व मे है।[36]

वैज्ञानिक अनुसन्धानो के फलस्वरूप जगत् मे जो भौतिक समृद्धि आई है और जिसको लूटने के विश्व के राष्ट्रो मे होड लगी है और जिस पर कब्जा करने के लिए परमाणु बम न्यट्रान बम प्रक्षेपास्त्रो आदि नित्य नूतन सर्वसहारकारी आयुधो का आविष्कार हो रहा है उसके परिणाम स्वरूप भयकर सकट की कल्पना से पश्चिम और पूर्व के सभी दार्शनिक चिन्तित हैं। प्रोफेसर राधाकृष्णन् अति गम्भीर आध्यात्मिक रहस्यवादी

अनुभूति जो सभी धर्मो का आधार है और जिसकी हिन्दू धम मे विशुद्ध अभिव्यक्ति हुइ है के पुनरुत्थान की आवश्यकता पर बल देते हुए कहते है कि विपरीत लक्षणो के बावजूद हमे आधुनिक अशान्ति म आशा के महान् प्रकाशपुज का क्रमिक प्रस्फुरण समन्वयकारी जिजीविषा प्रयत्न बढती हुइ अनुभूति कि हम सबमे रहस्यमयी अन्तश्चेतना विद्यमान है और जिसकी मानव जाति इस धरती पर सबसे बडी शक्ति है आर एक विकासोन्मुखी इच्छा कि हम इस ज्ञान के अनुरूप जीवन यापन करे और धरती पर इस अन्तश्चतना का साम्राज्य स्थापित करे।[३७] विभिन्न दशन अब एक साथ आ गए है और यदि उन्हे सघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता म नहीं रहना है तो उन्हे समायोजन की भावना को विकसित करना पडेगा जो पक्षपात और पारस्परिक मिथ्या धारण को नष्ट कर देगी तथा उनमे यह बोधकराकर कि वे एक ही सत्य के विभिन्न रूप है उनको आपस मे सौहार्द के सूत्र मे आबद्ध करेगी। इस प्रकार की भावना ही वह वैशिष्टय है जिसने हिन्दू धर्म के विकास को लगभग पॉच हजार वर्षो तक अविच्छिन्न रूप मे बनाए रखा।[३] हमे अपनी एक दूसरे से पृथक परम्पराओ के आशिक और दोषपूर्ण स्वरूप को विनम्रतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए और यह मानना चाहिए कि इन सभी का मूलस्रोत कोई एक अन्य अधिक प्राचीन तथा अधिक व्यापक परम्परा है। जिनसे ये परम्पराए विकसित हुई है।[३६] यथार्थ हिन्दू सस्कृति के प्रशसनीय व्याख्याता एम० गिनॉन का भी यही मत है। उनके अनुसार यूरोप मे पुनजार्गरण का स्वरूप इन दोनो सस्कृतियो के सम्मिलन मे नहीं है अपितु अपनी वर्तमान प्रवृत्तियो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन कर पूर्व मे सहयोग के वास्तविक आध्यात्मिकता के मूल स्रोतो को ग्रहण करन मे है।[४]

प्रोफेसर टी०आर०वी० मूर्ति के शब्दो मे हमे उस आध्यात्मिक तत्व का साक्षात करना चाहिए जो हमारे समस्त प्रयासो की आधार शिला है। विभिन्न प्रकार के उपासना मार्गो की स्वतत्रता को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए परमसत की एकता का प्रतिपादक रहस्यवादी धर्म ही सौहार्द और सच्चे बन्धुत्व के सूत्र मे पिरोकर सर्वनाश के कगार पर खडी विश्व की मानव जाति को सर्वनाश से बचाकर जीवन के निर्वाण मार्ग पर ले जा सकता है[४१] और इस लक्ष्य की पूर्ति मे आर्य नागार्जुन का प्रज्ञा और महाकरुणा का सदेश अभूतपूर्व भूमिका निभा सकता है।

सदर्भ

१ देखिए नागार्जुनकृत समग्र 'मध्यमक शास्त्रम्

२ चूल मालुक्यसुत्त मज्झिम निकाय १ ४२६

३ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप पृ० १६३

४ ब्रह्मसूत्र भाष्य

५ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप पृ० १८८

६ माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड दि फिलासफी ऑव नागाजुन पृ० १७८ द नचर आफ माध्यमिक थॉट बाइ– हष नारायण

७ कि खल्वेष विषय परिच्छेद सर्वथा नास्ति? न नास्ति।
नि स्वभावस्य भावस्य विद्यमानत्वात। चतु शतकवृत्ति माध्यमिक डायलेक्टिक खण्ड २ फिलासफी आव नागार्जुन पृ० ७६ शुपस्तन छोगडुप का लेख आचार्य नागार्जुन प्रासगिक अथवा स्वातन्त्रिक

८ वार्तालापमुखिनी युक्ति प्रसगापत्ति मुखेन परपक्ष निराकरण या डायलेक्टिक ये शब्द नागार्जुन की तकणा पद्धति के विविध नाम हैं।

६ द सेन्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० १२४ इमेनुअल काण्ट क्रिटीक ऑव प्योर रीजन पृ० १००–१

१० मध्यमकशास्त्र २५,२०

११ द्वेसत्ये समुपाश्रित्य बौद्धाना धर्मदेशना।
लोक सवृति सत्य च सत्य च परमार्थत ।।
येऽनयोर्विजानन्ति भेद परम तात्विकम्।
ते कदापि न जानन्ति गम्भीर बौद्धशासनम्।।

१२ शान्तिभिक्षुशास्त्री– बौद्ध सिद्धान्त विमर्श पृ० ४६

१३ वही पृ० ५६

१४ वही पृ० ५६

१५ बौद्ध सिद्धान्त विमर्श पृ० ५५

१६ बौद्ध सिद्धान्त विमर्श पृ० ५५

१७ बोधि चर्यावतार पुसे सस्करण पृ० ३७३

१८ मध्यमकशास्त्र १८ १५

१६ मध्यमकशास्त्र १८६

२० धम्मपद २५४

२१ बौद्ध सिद्धान्त विमर्श पृ० ५६

२२ बौद्ध सिद्धान्त विमर्श पृ० ५४

२३ रत्नावली २ ३३

२४ रत्नावली १ ३

२५ वही १७

२६ वही ११५

२७ माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी ऑव नागार्जुन पृ० २७ श्री जगन्नाथ उपाध्याय 'नागार्जुन की नीति मीमासा

२८ रत्नावली ३ ३६

२६ माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी ऑव नागाजुन पृ० २७

३० शून्यता सर्वदृष्टिना प्रोक्ता निसरण जिनै।
येषासुत शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान वभाषिरे।।
माध्यमकशास्त्र १३ ८

३१ माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी ऑव नागार्जुन पृ० ४७ करुणे शुक्ल नागार्जुन का शून्यता सिद्धान्त।

३२ विग्रह व्यावर्तनी ७६

३३ माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी आव नागार्जुन पृ० ३०

३४ रत्नावली १४१

३५ माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी ऑव नागार्जुन हर्ष नारायण द नेचर ऑव माध्यमिक थॉट पृ० १६७

३६ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३३६ ३४०

३७ ईस्टर्न रेलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट पृ० ३३

३८ वही पृ० ३०८

३६ वही पृ० ३४८

४० एम० गिर्नॉन ने हिन्दू सस्कृति के वास्तविक स्वरूप को पाश्चात्य जगत के समक्ष प्रस्तुत करने मे अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया। उन्होने निम्नलिखित महत्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना की। एन इण्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑव हिन्दू डॉक्ट्रिन्स मैन एण्ड हिज बिकमिग एकार्डिग टु द वेदान्त ईस्ट एण्ड वेस्ट तथा द क्राइसिस इन द मार्डन वर्ल्ड

४१ द सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म पृ० ३४०–३४१

उदाहृत साहित्य

हिन्दी एव सस्कृत

१ माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप– डॉ० मुक्तावली नाग प्रकाशन ११ए/यू०ए० जवाहर नगर दिल्ली (भारत) १९६८

२ बौद्ध दर्शन और वेदान्त– डॉ० चन्द्रधर शर्मा स्टुडेन्टस फ्रेन्डस इलाहाबाद बनारस १९४९

३ धम्मपद– डॉ० रामजी उपाध्याय इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशस) प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद १९६६

४ दर्शन–दिग्दर्शन– राहुल साकृत्यायन किताब महल इलाहाबाद १९४९

५ ग्रीक दर्शन– डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी विश्वविद्यालय प्रकाशन इलाहाबाद १९९१

६ बौद्ध धर्म दर्शन– आचार्य नरेन्द्रदेव मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली १९९४

७ बोधिचर्यावतार– आचार्य शान्तिदेव अनुवादक शान्तिभिक्षु शास्त्री बुद्ध विहार लखनऊ १९८३

८ चतु शतकम्– आर्यदेव अनुवादक डॉ० भागचन्द्र जैन आलोक प्रकाशन नागपुर १९७१

९ श्री रामचरितमानस गोस्वामी तुलसीदास गीताप्रेस गोरखपुर १९९८ ई०

१० मध्यमकशास्त्रम्– नागार्जुन मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन दरभगा १९९० ई०

११ मध्यमकशास्त्र वृत्ति– चन्द्रकीर्ति–मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन दरभगा १९९० ई०

१२ भारतीय दर्शन में अनुमान– डॉ० व्रजनारायण शर्मा मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल १९७३

भारतीय न्यायशास्त्र– डॉ० चक्रधर विजल्वान उत्तरप्रदेश हिन्दी सस्थान लखनऊ १९८३

१३ माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी ऑव नागार्जुन–सदोग रिनपोछे सेण्ट्रल इन्स्टीटयूट ऑव हायर टिबेटेन स्टडीज सारनाथ वाराणसी १९७७

१४ बौद्ध सिद्धान्त विमर्श शान्तिभिक्षुशास्त्री–बौद्ध विद्या विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली १९८५ ई०

१५ महायानसूत्रालकार– असग मिथिला विद्यापीठ दरभगा १९७० ई०

१६ अभिसमयालकार– असग केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा सस्थान सारनाथ वाराणसी १९७७

१७ अभिसमयालकार वृत्ति– (स्फुटार्था) केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा सस्थान सारनाथ वाराणसी १९७७

१८ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास– डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे हिन्दी समिति–सूचना विभाग उत्तरप्रदेश लखनऊ १९७६ ई०

१९ मध्यमकशास्त्र और विग्रह व्यावर्तनी– नागार्जुन–व्याख्याकार यशदेव शल्य भारतीय दार्शनिक अनुसधान परिषद् न्यू मेहरौली रोड नई दिल्ली १९९० ई०

२० शिक्षासमुच्चय–शान्तिदेव–मिथिला विद्यापीठ दरभगा १९९० ई०

२१ आचार्य शकर– ब्रह्मवाद–डॉ० रामस्वरूप सिह नौलखा किताबघर आचार्यनगर कानपुर

२२ 'बोधिवृक्ष की छाया मे भरतसिह उपाध्याय सस्तासाहित्य मण्डल प्रकाशन कनाट सर्कस नई दिल्ली १९८९ ई०

२३ भारतीय दर्शन– डॉ० राधाकष्णन– अनुवादक श्री नन्दकुमार गाभिल राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली १६७२

२४ भारतीय दर्शन– डॉ० नन्दकिशोर दवराज उत्तर प्रदश हिन्दी संस्थान लखनऊ १६८३ ई०

२५ भारतीय दर्शन– आलोचन और अनुशीलन डॉ० चन्द्रधर शम मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली १६८६

२६ भारतीय दर्शन का इतिहास– डॉ० सुरन्द्रनाथ दास गुप्त अनुवादक एम०पी० व्यास राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर १६७३

२७ भारतीय दर्शन– डॉ० धीरेन्द्र मोहन दत्त एण्ड सतीश चन्द्र चटर्जी पटना

२८ भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण– सगम लाल पाण्डेय सेण्ट्रल पब्लिशिग हाउस इलाहाबाद १६६१ ई०

२६ विनय पत्रिका– गोस्वामी तुलसीदास टीकाकार वियोगी हरि– सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन दिल्ली १६६१ ई०

३० बृहदारण्यकोपनिषद् गीताप्रेस गारखपुर १६५५

३१ ईशादि नौ उपनिषद्– व्याख्याकार हरिकष्ण दास गोयन्द का गीताप्रेस गोरखपुर १६५३ ई०

३२ तर्कभाषा– केशव मिश्र– व्याख्याकार डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगॉवकर चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी १६८४ ई०

३३ दार्शनिक चिन्तन– डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी सरस्वती प्रकाशन १६ कॅचा श्यामदास इलाहाबाद १६६६ ई०

३४ मूलबौद्ध दर्शन और धर्म का अर्थ डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी सरस्वती प्रकाशन १६ कॅचा श्यामदास इलाहाबाद १६६६ ई०

३५ सद्धर्म लकावतार सूत्र– मिथिला विद्यापीठ दरभगा १६६३

३६ श्रीमद् भागवत गीता प्रेस गोरखपुर

३७ सयुक्त निकाय भिक्खु जगदीश काश्यप पालि पब्लिकेशन बार्ड नालन्दा १६५६

३८ विसुद्धिमग्गो (३ भाग) बुद्धघोष वाराणसेय सस्कत विश्वविद्यालय वाराणसी १६७२

३६ विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि–प्रकरण–द्वय शुबतम छोग्डुग शास्त्री एव रामशकर त्रिपाठी वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी १६७२ ई०

४० अगुत्तर निकाय भिक्खु जगदीश काश्यप देवनागरी पालि सीरीज नालन्दा १६६०

४१ कथावत्थु भिक्खु जगदीश काश्यप पालि पब्लिकेशन बोर्ड नालन्दा १६६१

४२ केनोपनिषद् गीता प्रेस गोरखपुर १६५३

४३ छान्दोग्य उपनिषद गीता प्रेस गोरखपुर

४४ दीघनिकाय भिक्खु जगदीश काश्यप नालन्दा १६६०

४५ बोधिचर्यावतार पञ्जिकासहित मिथिला विद्यापीठ दरभगा १६६०

४६ मध्यान्त विभाग–असग सम्पादक श्री रामचन्द्र पाण्डेय

४७ माण्डूक्य कारिका गीताप्रेस गोरखपुर

४८ श्लोक वार्त्तिक कुमारिल भटट

ENGLISH

1 The Path of Punfication (Visuddhimaggo)
Buddhaghosa 2 Volumes Shambhala Publications INC
2045 TranCisco Street BerKeley
California 1956 1964

2 Buddhist Theory of Perception
C S Vyas Navrang New Delhi 1991

3 Vijnaptimatrata Siddhi
K N Chatterjee Kishore Vidya Niketan Bhadani Varanasi India 1980

4 A Critical History of Greek Philosophy W T Stace,
Macmillan India Ltd Delhi 1985

5 A History of Indian Philosophy Surendar Nath Dasgupta, Motilal Banarasi Das Delhi
1975

6 The Nature of Self, A C Mukherji
The Indian Press Ltd Allahabad 1943

7 Structural Depths of Indian Thought P T Raju
South Asian Publishers New Delhi 1985

8 PreSamkara Advaita Vedanta Sangam Lal Pande
Darshan Peeth Allahabad, 1974

9 Indian Philosophy, S Radhakrishnan,
George Allen & Unwin Ltd London 1929

10 The Vedanta Sutras of Samkaracarya, George Thipaut, The Clarendon Press Oxford, The
Sacred Books OF the East Series Edited by Max Muller Volumes 34, 1890, 38 (1896)
The Clarendon Press Oxford

11 Mahayana Buddhism Nalin iksha Dutt Tirma K M Private LTD Calcutta, 1976

12 The Bodhisattva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature Har Dayal, Motilal Banarasi
Das, Delhi, 1978

13 Self, Thought and Reality A C Mukherji, The Indian Press Private Ltd., Allahabad, 1970

14 The Dıalectıcal Method of Nagarjuna (Vıgraha V\ avartını)
Kamlesh,r Bhattacharya Johnston Kunst MotıLal Banarası Das Delhı 1978

15 The Problem of Knowledge ın *Yogacara* Buddhıs n Dr C L Trıpathı, Bharat Bharatı Publıcatıons, Durga Kunda V ıranası 1972

16 The Dhammapada Dr S Radhakrıshnan Oxford Unıversıty Press Delhı 1977

17 A Crıtıcal Survey of Indıan Phılosophy Dr ChandraDhar Sharma, MotıLal Banarası Das, Varanası, 1976

18 The Central Phılosophy of Buddhısm T R V Murtı Munshı Ram Manoharlal Publıshers Prıvate Ltd 1998

19 The *Yogācāra* Idealısm A Ashoka Kumar Chatterjı Motılal Banarasıdas Varanası Delhı, Patna, 1977,

The Madhyamıka and The Tatıhata, The Indıan Hıstorıcal Quarterly IX, (1933), (March 1933, 30&31

20 Buddhıst Sects ın Indıa, Nalın ıkshı Dutt Indologıcal Book House Varanası Delhı 1977

21 Early Buddhıst Theory of Knowledge K N Jajatılleke George Allen & Unwın, London 1963

22 Buddhıst Phılosophy ın Indıa and Ceylon, A B Keıth
Chowkhamba Vıdya Bha,n, Varanası 1963

23 Madhyamıka Dıalectıc and the Phılosophy of Nagarjuna, Samdhong Rınpoche, The Central Instıtute of Hıgher Tıbetan Studıes Sarnath Varanası 1977

24 Nagarjuna's Phılosophy as presented ın the Mahaprajnaparamıta Sutra, Har,rd Yanchıng Instıtute, Cambrıdge, Massachusetts 1966

25 The Essentıal of Buddhıst Phılosophy J Takakusu Motılal Banarasıdas, Delhı, Patna, Varanası 1966

26 Outlınes of Mahayana Buddhısm D T Sujukı Tharper & Row, New York, Evenston, London, 1968

27 "Emptıness", A Study ın Relıgıous Meanıng A kıngdon Press, New York 1967

28 Changıng Phases of Buddhıst thought Anıl Kumar Sarkar Bharatı Bha,n,Patna, 1968

29 Sustems of Buddhıst Thought Yama Kamı Sogen Bharatıya Publıshıng House, Varanası Delhı, 1979

30 The Concepton of Buddhıst Nırvana, Theodere Stecherbatsky, Bharatıya Vıdyaprakashan Varanası

31 Vedanta and Buddhısm' ,S S Roy's artıcle Advaıta Vedanta and Buddhıst Absolutısm' Centre of Advanced Study ın Phılosophy Banaras Hındu Unıversıty 1968

32 The ,y to Nırvana Louıs be La Vallee Poussın
Lamkavatara sutra (Englısh Translatıon)

कम्प्यूटर कम्पोजिंग राका प्रकाशन (दूरभाष ४६६७८१)